पूजा भी होती है, उसमें तमोगुण प्रधान है और तान्त्रिक पूजक वैष्णवोंसे विरोध भी करते हैं। दूसरी वैदिक पूजा है जिसमें सतोगुणकी मुख्यता है। इसीसे वैदिक पूजकका किसीसे विरोध नहीं होता।] (ख) *'तेहि काजु न दूजा'* इति। उपासना इसीका नाम है। सदा इष्टके समीप रहना, चाहे सेवासे, चाहे ध्यानसे, चाहे कीर्तन इत्यादिसे। भुशुण्डिजीके सम्बन्धमें कहा है कि *'तजि हरिभजन काज नहिं दूजा।'* और शिवजीके सम्बन्धमें भी कहा है—*'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥'*

पं० रा० व० श०—१ *'साधु'* से जनाया कि परोपकारमें लगे रहते थे, कपटरहित, प्रियवादी और परोपकारी थे। [मन और इन्द्रियोंको साधे हुए थे, ये उसके वशमें थीं। (पं०)] *'परमारथ बिंदक'* अर्थात् केवल परमार्थ जानते ही न थे वरन् परमार्थलाभ इनको प्राप्त हो चुका था। [वह आत्मस्वरूपवेत्ता था (पं०)। मुक्ति-मार्गपर सदा दृष्टि रखता था (वै०)। पुनः, बिंदक=प्राप्त—(खर्रा)। *'परमारथ बिंदक'* का यह भी अर्थ लोग करते हैं कि 'राम-तत्त्व' का ज्ञाता था। राम ही एवं रामपदप्रेम ही परमार्थ है, यथा—*'सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥ राम ब्रह्म परमारथ रूपा।'* इसीसे आगे भुशुण्डिजीको समझाते हुए कहा है कि *'सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥'* यह जानकर वह शिवोपासना करता था। 'परमारथ'=ज्ञान उपासनादिका सिद्धान्त तत्त्व। *'नहिं हरि-निंदक'* यथा—*'हरिहरपद रति मति न कुतरकी'*]

नोट—२ *'नहिं हरि-निंदक'* इति। यही शास्त्रसिद्धान्त है कि अपनी उपासनामें दृढ़ रहे, दूसरेकी निन्दा न करे। (पं० रा० व० श०) मूढ़ उपासक ही ईश्वरोंमें भेद मानकर उनसे द्वेष करते हैं पर ये वैसे न थे। (पं०)

३ (क) *'करै सदा तेहि काज न दूजा।'* यह कर्मकी उत्तमता है, मनसे परम साधु और परमार्थ बिंदक। *'नहिं हरि-निंदक'* यह वचनकी शुद्धता कही। (वै०) (ख) *'तेहि सेवौं'* अर्थात् स्नान कराऊँ, धोती छाँटूँ, पूजाकी सामग्री एकत्र कर दूँ इत्यादि। *'कपट'* अर्थात् मनमें उससे प्रेम न था। (वै०) कपट-छल यह कि विष्णु-विरोध जो हृदयमें है वह उनसे छिपाये रहता अथवा विद्या पढ़कर अपनी मान-प्रतिष्ठा, बड़ाई चाहता था। (पं०) *'कपट समेता'* का भाव कि वैदिक रीति जाननेके लिये तथा परमार्थ जाननेके लिये नहीं वरन् स्वार्थसाधनमात्रके लिये कि इससे इसके द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा होगी और भोजन भी मिलेगा (पं० रा० व० श०)।

४—*'नीति निकेता'* का भाव यह है कि धर्मशास्त्रमें जिन कर्मोंका विधान है वह करता था। धर्मशीलको नीतिवान् कहते हैं। केवल 'नीति' शब्दसे धर्मनीति अभिप्रेत है। [पुनः, अति *'नीति निकेता'* का भाव कि नीतिकी रीति है कि जो सेवा करे उसे अवश्य कुछ देना चाहिये। इसीसे *'नीति निकेता'* कहकर आगे देना कहते हैं। (वै०)] ५—*'दयाल अति नीति······'* अर्थात् दयालुतादिक अनेक गुण उसमें थे।

बाहिज नम्र देखि मोहि साईं। बिप्र पढ़ाव पुत्र की नाईं॥६॥
संभुमंत्र मोहि द्विजबर दीन्हा। सुभ उपदेस बिबिध बिधि कीन्हा॥७॥
जपौं मंत्र सिव मंदिर जाई। हृदय दंभ अहमिति अधिकाई॥८॥

अर्थ—हे स्वामी! मुझे ऊपरसे नम्र देखकर ब्राह्मण मुझे पुत्रकी तरह पढ़ाते थे॥ ६॥ उस ब्राह्मणश्रेष्ठने मुझे शिवजीका मन्त्र दिया और अनेक प्रकारसे कल्याणकारी उपदेश किया॥ ७॥ मैं शिवजीके मन्दिरमें जाकर मन्त्र जपा करता था (परंतु) मेरे हृदयमें दम्भ और अहंकार (कि जो कुछ हूँ मैं ही हूँ, मेरे समान दूसरा शिवोपासक नहीं) बढ़ता गया॥ ८॥

नोट—१ (क) *'बाहिज नम्र।'* पूर्व जो कहा था कि *'सेवौं कपट समेता'* उसीको यहाँ और स्पष्ट करते हैं कि मैं बाहरसे देखनेमात्रको नम्र था, भीतरसे नहीं। (ख) *'पुत्र की नाईं'* से जनाया कि वह मुझसे कुछ भी अंतर वा भेद न रखता था। (रा० प्र०) मुझपर उसका बहुत वात्सल्य हो गया, वह बड़े प्रेमसे पढ़ाता था, जैसे कोई अपने पुत्रको पढ़ावे। (ग) शम्भुमन्त्र अर्थात् पञ्चाक्षरी 'नमः शिवाय' यह मन्त्र दिया। मन्त्र देनेपर गुरुका कर्त्तव्य है कि वह शिष्यको कल्याणका उपदेश करे, उसीके अनुकूल विप्रने उपदेश दिया। [*'सुभ उपदेस'* =शुभ आचरणका उपदेश—(खर्रा)=धर्म, नीति, शास्त्र सब रीतिसे उपदेश किया]

२ (क) *'सिव मंदिर जाई'* से जनाया कि वहाँसे शिव-मन्दिर दूर था। पुनः, भाव कि घरपर नहीं जपता था, दूसरोंको दिखानेके लिये बाहर जाकर मन्दिरमें बैठकर जपता था, क्योंकि वहाँ सभी लोग शिवजीके दर्शन-पूजनार्थ आते थे। यही बात आगे कहते हैं। (ख) *'हृदय दंभ……।'* यहाँ *'कपट समेता'* को और स्पष्ट किया। मन्दिर जाकर जप करता जिसमें सब बड़ा भक्त और भजनानन्दी जानें, इत्यादि [*'अहमिति अधिकाई'* का भाव कि दम्भ-अहंकार इतना बढ़ा कि उसकी इति नहीं। (रा० प्र०)]

वि० त्रि०—*'जपौं मंत्र……अधिकाई।'* इति। दम्भी तो वह पहिलेसे ही था, यथा—*'धन मद मत्त परम बाचाला। उग्रबुद्धि उर दंभ बिसाला॥'* अब शम्भुमन्त्रसे दीक्षित भी हो गया, अतः दम्भ और बढ़ गया, मन्दिरमें जाकर जप करने लगा। अभिमान भी बढ़ गया कि अब मैं गुरुजनोंसे किस बातमें कम हूँ। विद्या भी मुझे मिली, शिवमन्त्र भी मिल गया।

दो०—मैं खल मलसंकुलमति नीच जाति बस मोह।
हरिजन द्विज देखें जरौं करौं बिष्नु कर द्रोह॥
सो०—गुर नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम।
मोहि उपजै अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई॥१०५॥

अर्थ—मैं मूर्ख एवं दुष्ट, सम्पूर्ण मलोंसे परिपूर्ण बुद्धि अर्थात् अत्यन्त मलिनबुद्धि, नीच जाति और मोहवश था। भगवद्भक्तों, वैष्णवों और ब्राह्मणोंको देखते जलता और विष्णुसे द्रोह करता था। गुरु मुझे नित्य ही बहुत समझाते (क्योंकि) वे मेरा आचरण देखकर दुःखी होते थे। (पर उनके समझानेसे) मुझे अत्यन्त क्रोध उत्पन्न होता था। क्या दम्भीको नीति (धार्मिक कर्त्तव्य) कभी अच्छी लगती है? (कदापि नहीं)॥ १०५॥

नोट—१ (क) *'हृदय दंभ अहमिति अधिकाई'* कहकर अब उसका कारण कहते हैं कि 'खल, मलिन-बुद्धि, नीच जाति, मोहवश' का यह सहज स्वभाव है, मुझमें यह सब अवगुण थे। [पुनः, 'खल' कहा क्योंकि गुरुद्रोही था। *'मल संकुलमति नीच जाति'* का भाव कि इसीसे दुष्टाचरणपर ग्लानि भी नहीं होती थी। (पं०)] (ख) *'बस मोह'* —भाव कि मोह-(अज्ञान-) वश मैं अन्धा हो रहा था, मुझे उलटा ही समझ पड़ता था, यथा—*'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* (७०। ७) वेद-शास्त्र आदिका सार सिद्धान्त जो गुरु कहते थे, वह मेरे मस्तिष्कमें नहीं जमता था। खल कहकर मोहवश कहनेका भाव कि मोहवश होनेसे ही खल दूसरोंसे द्रोह करते हैं। यथा—*'करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥'* (४०। ६)

२—*'हरिजन द्विज देखें जरौं……।'* (क) *'मैं खल'* कहकर तब *'हरिजन द्विज देखें जरौं'* इत्यादि कहा, क्योंकि ये खलोंके लक्षण हैं, यथा—*'मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं'* *'बिप्रद्रोह परद्रोह बिसेषा। दंभ कपट जिय धरें सुबेषा॥'* (४०। ५, ८) पहले तो वैष्णवमात्रको देख जलता था, ऊर्द्ध्वपुंड्र, तिलक, माला, कण्ठी आदि देख मनमें आग-सी लग जाती थी। दूसरे, मैं शूद्र था, विप्र मुझे मानते न थे, अतः उनसे भी जलता। तीसरे जब वैष्णवोंसे वाद-विवाद हो तो विष्णुकी निन्दा करने लगता और उनसे वैर ठान लिया। (ख) ☞ पहिले जबतक मन्त्र न मिला था तबतक *'आन देव निंदक'* था, अब मन्त्र पाकर तथा धनवन्त होकर विष्णुद्रोही हो गया। [पुनः, *'हरिजन……'* का भाव कि जो ब्राह्मण हरिभक्तिके उपदेष्टा हों उनकी बुद्धि देखकर जलता था, उनका तिरस्कार किया करता था। (पं०)] (ग) *'देखें जरौं'*—इससे जनाया कि मेरे हृदयमें अत्यन्त ताप हुआ करता था यह खलका स्वभाव है। यथा *'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥'* (३९। ३) *'जरौं'* से यह भी जनाया कि मैं उनका कुछ कर न पाता था, कर पाता तो जलन न होती। जलन होनेका कारण यह भी था कि मैं अपनेसे उनको न्यून मानता था, अपनेको किसी प्रकार उनसे कम नहीं समझता था।

३—(क) *'प्रबोध'*—जैसे कि तुझे अपनी उपासना करनी चाहिये, दूसरेकी उपासनासे क्या प्रयोजन जो सबसे विरोध करता है। (वै०) *'दुखित देखि आचरन'* अर्थात् आचरण देख कि बड़ा ही दम्भी,

अभिमानी, द्वेषी इत्यादि है पश्चात्ताप करें और दुष्टाचरणसे निवृत्त करनेके हेतु उपदेश भी करते थे। (पं०) *'मोहि उपजै अति क्रोध'* यह समझकर कि 'ये कैसे उपासक हैं जो विष्णुकी बड़ाई सह सकते हैं, उनका खण्डन नहीं करते।' *'प्रबोध'* से परम दयालुता सूचित करते हैं।

४—*'दंभिहि नीति कि भावई'* इससे *'प्रबोध'* को स्पष्ट किया कि नीति सिखाया-समझाया करते थे। क्या नीति सिखाते थे यह आगेकी चौपाइयोंमें देखिये।

एक बार गुर लीन्ह बोलाई। मोहि नीति बहु भाँति सिखाई॥ १॥
सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥ २॥
रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पाँवर कै केतिक बाता॥ ३॥

अर्थ—एक दिन (की बात है कि) गुरुने मुझे बुला लिया और बहुत प्रकारसे मुझे नीति (धर्म-कर्तव्य) सिखायी॥ १॥ हे पुत्र! श्रीशिवजीकी सेवाका फल यही है कि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें अविचल निर्भर भक्ति हो॥ २॥ हे तात! शिवजी और विधाता ब्रह्माजी श्रीरामजीको भजते हैं (तब भला) नीच मनुष्यकी कितनी बात है?॥ ३॥

नोट—१ *'एक बार'* का भाव कि जब समझानेसे न माना तब विशेष रीतिसे समझानेके लिये एकान्तमें घरपर बुलाया। सम्भवत: और बार जब वह कहीं मिल जाते तब समझाते थे; क्योंकि अहंकारवश ये उनके पास जाते ही न होंगे। इसीसे गुरुको बुलाना पड़ा। *'एक बार'* से यह भी आशय ले सकते हैं कि बस यही अन्तिम शिक्षा थी, फिर शिक्षाके लिये कभी बुलानेकी जरूरत न पड़ी। ऐसा समझाना कभी न हुआ। ऐसा ही अर्थ *'एक बार रघुनाथ बोलाये' 'एक बार बसिष्ठ मुनि आये।'* इत्यादिके *'एक बार'* का ले सकते हैं कि यह बुलाना, यह आना, यह उपदेश, यह विनय बस अन्तिम बार की है; इसके बाद फिर ऐसा नहीं हुआ।

वि० त्रि०—*'सिव सेवा ...... रामपद होई'* इति। यहाँ गुप्त मतका उपदेश करना था, इसलिये गुरुजीने उसे बुला लिया। गुप्त मत वही है, जिसका उपदेश रामजीने हाथ जोड़कर पुरवासियोंको किया था कि *'संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि।'* अर्थात् शङ्कर-भजन कारण है और रामभक्ति कार्य है। यही बात यहाँपर कह रहे हैं कि 'शिव-सेवा' कारण है, उसका फल है—'रामपदमें अविरल भक्ति।'

पं० वै०—*'नीति बहु भाँति'*—जैसे कि वैर-विरोधमें तेरी प्रतिष्ठा जाती है, अपयश होता है और तेरे कारण मुझे भी लोग क्या-क्या कह डालते हैं। ईश्वर-निन्दा महापाप है, यह तू क्यों करता है? परनिन्दाके समान भारी पाप नहीं उसपर भी हरिजन और हरिकी निन्दा! यथा—*'पर निंदा सम अघ न गिरीसा।'* (१२१। २२) *'द्विजनिंदक बहु नरक भोग करि। जग जनमइ बायस सरीर धरि॥'* (१२१। २४) *'सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी॥'* (१२१। २५)

रा० प्र०—*'बहु भाँति'* वेद, शास्त्र और लोकरीति सिखायी। वह द्विजोत्तम पण्डित ज्ञानी था। 'जैसी रीति उपासनादि वैदिक स्मार्त अनन्य वीर आदिकी है कि सबमें अभेद जाने। अथवा अंश-अंशी, अङ्ग-अङ्गी, अवतार-अवतारीभावसे उपासना करनी चाहिये, यह सिखायी।

(☞ क्या नीति सिखायी, ये वे स्वयं आगे कहते हैं)

पं० रा० व० श०—*'सुत'* सम्बोधन धर्मशास्त्रानुकूल है। जन्म और विद्या दोनोंके देनेवाले पिता कहे जाते हैं।

नोट—२ *'सिव सेवा कर फल ......'* इति। इससे जनाया कि रामपदप्रेम बड़ा दुर्लभ पदार्थ है। श्रीशिवजी जब सेवासे परम प्रसन्न होते हैं तब श्रीरामजीकी भक्ति देते हैं। शङ्कर-भजनका यह परम फल है। यथा—*'संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि' 'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥'* (१। १३८। ७) *'पुनि तैं मम सेवा मन दयऊ। पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरें। राम भगति उपजिहि उर तोरें॥'* (१०९)

३—*'रामहि भजहिं तात सिव धाता।'*—भाव कि जिनकी सेवा ब्रह्मा और शिवजी करते हैं उनसे विरोध

न करना चाहिये। यथा—'*कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक॥*' (६। ६२। ५) '*सिव अज पूज्य चरन रघुराई।*' (१२४। ३) शिवजीके वे इष्ट हैं। यथा—'*सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥*' (१। ५१। ८) स्वामीके इष्टदेवसे विरोध करनेसे स्वामी कदापि प्रसन्न नहीं हो सकते। ऐसा करनेसे नाश होगा, जैसे रावणका नाश हुआ। '*भजहिं*' से जनाया कि निरन्तर उनका नाम जपते हैं और उसीसे काशीमें मुक्ति देते हैं।

४—'*नर पाँवर*......' भाव कि जब सृष्टिके रचयिता और संहारकर्ता ही रामसेवा करते हैं, तब मनुष्य जो उपजाई सृष्टिमें हैं वे क्यों न भजेंगे? वे न भजें तो उनसे नीच और मूढ़ कौन होगा!

जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥ ४॥
हर कहुँ हरि सेवक गुर कहेऊ। सुनि खगनाथ हृदय मम दहेऊ॥ ५॥
अधम जाति मैं बिद्या पाएँ। भएउँ जथा अहि दूध पिआएँ॥ ६॥

अर्थ—श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी जिनके चरणोंके अनुरागी हैं, अर्थात् जिनके चरणोंमें अत्यन्त प्रेम करते हैं, अरे अभागी! तू उनसे द्रोह करके सुख चाहता है। तू बड़ा अभागी है॥ ४॥ गुरुने श्रीशिवजीको हरिसेवक कहा, यह सुनकर, हे पक्षिराज! मेरा हृदय जल उठा॥ ५॥ अधम जातिवाला मैं विद्या पानेसे ऐसा हो गया जैसा (विषैला) सर्प दूध पिलानेसे (अधिक विषैला) हो जाता है॥ ६॥

नोट—१ '*जासु चरन*' इति। यथा—'*सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥*' (६। २२) शैव होकर शिवजीके इष्टदेव, भव-भञ्जनकर्ता हरिसे द्रोह करके सुखकी चाह करनेसे अभागी कहा, यथा—'*ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजनपद बिमुख अभागी।*' (वि० १४०) भाव कि भगवान्‌के सेवक शिवजी हैं, शिवजीका सेवक तू है, अतः तू भी उनका सेवक हुआ। शिवके इष्ट भगवान्, भगवान्‌का द्रोही तू, अतः शिवजी भी तुझे अपना द्रोही समझेंगे। अतः शिवद्रोहसे सुख न मिलेगा—'*जिमि सुख लहै न संकर द्रोही।*' (४। १७। ५)

नोट—२ '*सिव सेवा कर फल सुत सोई*' से लेकर '*तासु द्रोह सुख चहसि अभागी*' तक गुरुने सब नीतिका उपदेश किया। इसमें साम, दाम, भय-भेद और दण्ड—चारों प्रकारकी नीतियाँ दिखायीं। '*रामहि भजहिं तात सिव धाता*' यह साम-नीति, '*सिव सेवा कर फल सुत सोई*......*।*' यह दाम-नीति, '*नर पाँवर कै केतिक बाता*' यह भय वा भेद और '*सुख चहसि अभागी*' यह दण्ड-नीति है।

३ (क) '*हर कहुँ हरि सेवक गुर कहेऊ*' इति। '*रामहि भजहिं सिव धाता*' '*जासु चरन सिव अज अनुरागी*' यही हरि-सेवक कहना है। भजन करनेवाला, चरणोंमें अनुराग करनेवाला सेवक होता है और जिसका भजन आदि किया जाता है वह स्वामी कहलाता है। '**भज सेवायाम्।**' भजनका अर्थ है सेवा। (ख) '*सुनि*......*हृदय मम दहेऊ*' इति। भाव यह कि मैं तो हरको ही ब्रह्म, परमेश्वर, परमात्मा जानता-मानता और उसीका प्रतिपादन किया करता था, शिवका अनन्य उपासक था और जिन्होंने मुझे मन्त्र दिया वे गुरु ही उसके विपरीत उपदेश देते थे, इससे मेरा हृदय संतप्त हो गया। यह साधारण बात है कि क्रोध आनेपर एवं वश न चलनेपर जब वह (क्रोध) परुष वचन आदिद्वारा बाहर नहीं निकलता तो भीतर-ही-भीतर बड़ी जलन होती है—'*बहइ न हाथ दहइ रिस छाती।*' गुरुको उत्तर दे नहीं सकते, कठोर वचन कह नहीं सकते, कुछ वश चलता नहीं, इसीसे कहते हैं कि '*हृदय दहेऊ।*' पुनः '*हृदय मम दहेऊ*' का भाव कि हमारे गुरु कहलाते हैं, ऐसे वेदपाठी होकर भी ये वेदतत्त्व नहीं जानते, ये तो मूर्ख ही हैं, इनसे अधिक तो हम ही जानते हैं, ये क्या जानें कि उपासना क्या चीज है। इस तरह विचार करता हुआ मैं इष्टकी न्यूनता न सह सका।

पं०—यदि कहो कि वे गुरु हैं उनपर क्रोध अयोग्य है, तुमने क्यों किया? उसपर यह दृष्टान्त दिया। '*अधम जाति*'—शूद्र।

रा० शं०—आगे सर्प होंगे उसका संस्कार अभीसे पड़ गया।

नोट—४ *'भएउँ जथा अहि दूध पिआएँ।'* सर्पको दूध पिलानेसे विष बढ़ता है, वह पिलानेवालेको भी डस लेता है—**'पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम्।'** यहाँ उदाहरण अलंकार है। विद्या उत्तम पदार्थ है उससे अज्ञान नष्ट होता है; वैसे ही दूध सात्त्विक पदार्थ है, तमोगुण हारक है। गुरुने पुत्रवत् मुझे विद्या पढ़ायी कि मेरा अज्ञान दूर हो, मेरे आचरण ठीक हों, पर विद्या पानेसे मेरी दुष्टता और बढ़ गयी, पहले तो *'आन देव निंदक'* ही था, विद्या पाकर हरिजन और हरिका निन्दक हुआ तथा पढ़ानेवाले गुरुसे ही द्रोह करने लगा—*'गुर कर द्रोह करौं दिनु राती।'* गुरुसे द्रोह करना, द्वेष रखना, ईर्ष्या करना यह कि ये मर जायँ तो मेरा मान हो, इत्यादि विषरूप होना है।

मानी कुटिल कुभाग्य कुजाती। गुरु कर द्रोह करौं दिनु राती॥ ७॥
अति दयाल गुर स्वल्प न क्रोधा। पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा॥ ८॥

अर्थ—अभिमानी, कुटिल, दुर्भाग्यवाला, कुजाति, मैं दिन-रात गुरुसे द्रोह करने लगा॥ ७॥ गुरुजी अत्यन्त दयालु थे। उनको किञ्चित् भी क्रोध न था। वे बारंबार मुझे उत्तम ज्ञानकी शिक्षा देते रहे॥ ८॥

नोट—१ *'मानी······'* इति। धनका अभिमान, विद्याका मान (सबको अपनेसे कम, न्यून एवं अपनेको सब प्रकार सबसे बड़ा समझता तथा उपासनाके ज्ञानका एवं अनन्य उपासक होनेका अभिमान)। पापबुद्धि होनेसे टेढ़ा स्वभाव, टेढ़ी बुद्धि और टेढ़ी चाल थी। कुभाग्य उदय हो आया क्योंकि शाप होना है। कुभाग्य ऐसा कि शुभ उपदेशको भी और ही भाँति समझता तथा ईश्वरों और गुरुसे द्वेष और विरोध करनेसे *'कुभाग्य कुजाती'* कहा। कुजाति=शूद्र जाति। (पं०, वै०, रा० प्र०)

नोट—२ *'अधम जाति मैं बिद्या पाएँ'* *'मानी'* *'कुटिल'* इत्यादिमें उत्तरोत्तर अपना अपकर्ष वर्णन सार अलंकार है।—ये सब गुरुद्रोहके कारण हैं।

३—मानी, कुटिल आदि सब दोष भुशुण्डिजीने अपनेमें चरितार्थ कर दिखाये हैं—
मानी—*'गुर आयउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥'* (१०६) *'अहमिति अधिकाई।'*
कुटिल—*'मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुर हित कहहिं न मोहि सुहाई॥'* (१०६। १६)
कुभाग्य—*'जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी'*
कुजाति—*'जनमत भएउँ सूद्र तनु पाई॥'* (९७। १) *'अधम जाति मैं बिद्या पाएँ'*

४—*'गुरु कर द्रोह करौं दिनु राती'* कहकर *'स्वल्प न क्रोधा'* कहनेका भाव कि निरन्तर द्रोह क्रोधकी उत्पत्तिका कारण है, यथा—*'सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिहु के हिये॥'* (१११। १५) पर इनको किञ्चित् क्रोध न हुआ। क्रोध क्यों न हुआ? इसका कारण बताते हैं कि वे *'अति दयाल'* हैं। दयालु क्षमाशील होते हैं। ☞ गुरुका यह शील-स्वभाव एवं अपनी कुटिलता स्मरणकर भुशुण्डिजीको अब भी पश्चात्ताप होता है—*'एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ॥'* (११०। २)

५—*'पुनि पुनि मोहि सिखाव······'* इति। यह गुरुका धर्म है कि शिष्यके कल्याणकी बात उसे सिखाता रहे। वे अपने धर्मका पूर्णरूपसे पालन करते रहे। गुरुका अर्थ ही अन्धकारको दूर करनेवाला है। (रा० प्र०)

जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहि हठि* ताहि नसावा॥ ९॥
धूम अनल संभव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई॥ १०॥
रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद-प्रहार नित सहई॥ ११॥
मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई। पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई॥ १२॥

अर्थ—नीच मनुष्य जिससे बड़ाई पाता है, वह हठ करके पहले-पहल उसीका नाश करता है॥ ९॥ हे भाई! सुनो। धुँआ अग्निसे उत्पन्न होता है, पर वही मेघकी पदवी पाकर (अर्थात् धूमसे मेघरूप बन

* हति—भा० दा०। हठि—का०, पं० रा० गु० द्वि०। 'हति' का अर्थ होगा 'मारकर'।

जानेपर, अपने उत्पन्न करनेवाले) उसी अग्निको बुझाता है॥ १०॥ धूल राहमें पड़ी निरादरसे रहती है, सब (मार्ग चलनेवालोंके) लातोंकी मार नित्य सहती है (अर्थात् मार्गमें पड़ी धूलि सबके लातोंतले पड़ती है सब उसे लतियाते हैं, ऐसा उसका नित्यप्रति निरादर होता है और वह सहती है। नीच है, न सहे तो क्या करे?)॥ ११॥ पर जब उसे पवन उड़ाता है (अर्थात् उसको ऊँचा उठाता है, ऊर्ध्वगति देता है), तो पहले तो वह नीच धूलि उसीको भर देती है अर्थात् शुद्ध पवनको धूलिमय वा धूमिल कर देती है, फिर राजाओंके नेत्रों और किरीटोंमें जाकर पड़ती है। (धूम और रजकी नीचता अधिक बढ़ गयी)॥ १२॥

नोट—१ यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार है। २—धूमको नीच कहा क्योंकि कड़ुवा होता है, आँखको हानि पहुँचाता है और जिससे उत्पन्न हुआ उसीको नष्ट करता है। ३—'*रज मग परी*……'—(बा० ७ (१२), अ० २२९) '***लातहु मारे चढ़त सिर नीच को धूरि समान***' देखिये। यहाँ नीचके स्वभावका वर्णन है।

रा० शं०—धूम और रज दोनों जड़ हैं, इनकी उपमा देकर अपनेको 'जड़' सूचित किया।

रा० प्र०—१ '*सो प्रथमहि हति ताहि नसावा*' भाव कि इनके रहते हमारी बड़ाई नहीं होनेकी, वे मर जायँ तो अच्छा। २—धूम और रज आकाशगामी भी हुए तब भी उनकी नीचता न गयी।

सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा। बुध नहिं करहिं अधम कर संगा॥ १३॥
कबि कोबिद गावहिं असि नीती। खल सन कलह न भल नहिं प्रीती॥ १४॥
उदासीन नित रहिअ गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं॥ १५॥
मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुर हित कहै न मोहि सोहाई॥ १६॥

अर्थ—हे पक्षिराज! सुनिये। बुद्धिमान् लोग इस प्रकार इस बातको समझकर अधम-(नीच-) का सङ्ग नहीं करते॥ १३॥ कवि और पण्डित ऐसी नीति कहते हैं कि दुष्टसे न झगड़ा ही अच्छा है न प्रीति॥ १४॥ हे गोसाईं! खलसे सदा उदासीन (=न शत्रु, न मित्र) रहना चाहिये, उसका कुत्तेकी तरह त्याग करना चाहिये॥ १५॥ मैं खल था, मेरे हृदयमें कपट और कुटिलता भरी थी। गुरु हितकी कहते थे और यह मुझे न अच्छी लगती थी॥ १६॥

नोट—१ '*अस समुझि प्रसंगा*' इति। '*अस*' अर्थात् जैसा ऊपर '*जेहि ते नीच बड़ाई पावा*' से '*पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई।*' तक आठ चरणोंमें कह आये वैसा।

वै०—संहिता-रहस्यादिके रचयिता और वेद-संहिताके संग्रहकर्त्ता तथा उनका अर्थ प्रसिद्ध करनेवाले 'कोविद' कहलाते हैं।

रा० प्र०—'*श्वानकी नाईं-ब्यास बड़ाई खलन की कुत्तेकी पहिचानि। प्रीति किये तन चाटइ बैर किये तन हानि।*'

खर्रा—'*खल सन कलह न भल*……।' यह न्यायका निदर्शनमात्र है—'**सद्भिर्विवादं मैत्रीं च नासद्भिः किंचिदाचरेत्।**' इसीसे गोसाईंजीने दोनों पक्ष छोड़कर उनसे उदासीन रहनेकी शिक्षा दी।

पं०—दुष्टोंकी प्रीतिसे कलङ्क और वैरसे पीड़ा होती है।

नोट—२ '*उदासीन नित*……*नाईं*' इति। पहले कहा कि उनसे न तो प्रीति करना अच्छा न वैर और अब बताते हैं कि आखिर उनके साथ क्या बर्ताव रखना चाहिये। उनसे उदासीन भाव रखे, श्वानकी तरह उनको दूर ही रहने दे। श्वानकी उपमा देकर बताया कि उससे प्रीति करोगे तो फल यह मिलेगा कि वह तुम्हारा मुँह, हाथ इत्यादि चाटेगा, अशुद्ध कर देगा और वैर करोगे तो काट खायेगा जिससे मरण हो जाता है; वैसे ही खलका सङ्ग करोगे तो उसके कुसङ्गसे वह अपना-सा बनायेगा—'***आपु गये अरु घालहिं आनहिं***', और वैर करोगे तो मार ही डालेगा। श्वानको चाण्डाल कहते हैं, उसके स्पर्शसे अपावनता आती है, छू जानेपर स्नान किया जाता है। उसके समान त्याग करनेको कहकर जनाया कि वह चाण्डालवत् अस्पृश्य है, उससे दूर ही रहे। प्रभुने ऐसा ही उपदेश किया है—'*भूलेहु संगति करिअ न काऊ। तिन्ह*

कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई।' (३९। १-२) भूलकर भी सङ्ग न करना यही उनको छोड़ना है। यहाँ पूर्णोपमा है।

पां०—जगत्‌में तीन ही प्रकारका व्यवहार है—मित्रता, शत्रुता और उदासीनता; यथा—*'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।'* (१। ४) इनमेंसे वैर और प्रीति ये दोनों ही खलोंके साथ करने योग्य नहीं, उदासीनताका ही व्यवहार उनके साथ बरतना चाहिये।

नोट—३ *'मैं खल हृदय……'* इति। *'जेहि ते नीच बड़ाई पावा'* १०६ (९) से *'खल परिहरिअ श्वानकी नाईं'* तक गुरुसे द्रोह करनेका कारण और नीति कही, अब फिर अपनी कथा उठाते हैं। प्रसङ्ग *'पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा'* पर छोड़ा था, अब उसीसे उठाते हैं—*'गुर हित कहै न मोहि सुहाई।'* *'हृदय कपट'* और *'बाहिज नर्म'* एक ही हैं।

पं०—*'कपट कुटिलाई।'* भाव कि बाहरसे तो उनका शिष्य कहाता पर भीतरसे अपना मान बढ़ानेकी (गुरु भी मेरा मान करें इस) इच्छासे उनका उपदेश न भाता था।

दो०—एक बार हर मंदिर जपत रहेउँ सिवनाम।
गुर आएउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥
सो* दयाल नहिं कहेउ कछु उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुर अपमानता† सहि नहिं सके महेस॥१०६॥

अर्थ—एक दिन (की बात है कि) मैं शिवालयमें शिवनाम जपता था, (उसी समय) गुरुजी (वहाँ) आये (पर) अभिमानके कारण मैंने उठकर उनको प्रणाम नहीं किया। वे दयालु थे, (इस मेरी धृष्टतापर) उन्होंने कुछ भी न कहा और उनके हृदयमें लेशमात्र भी क्रोध न हुआ। (पर) गुरुका अपमान महापाप है (इससे) महादेवजी उसे न सह सके॥ १०६॥

नोट—१ *'एक बार हर मंदिर……'* इति। (क) *'एक बार'* के भाव *'एक बार गुर लीन्ह बोलाई।'* (१०६। १) में देखिये। *'हरमंदिर'*—दीक्षित होनेके बादसे एवं दम्भके कारण शिवालयमें जाकर वहीं जप किया करते थे। यथा *'जपौं मंत्र सिवमंदिर जाई। हृदय दंभ अहमिति अधिकाई।'* (१०५। ८) वैसे ही इस समय भी वहीं जप कर रहे थे। (ख) *'सिवनाम'*—नाम और मन्त्रमें अभेद है। जो नाम वही मन्त्र। (पं० रा० व० श०)

पं० रा० व० श०—*'अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम।'* अभिमान यह कि गुरु तो वह है जो अज्ञानको दूर करे और ये तो अज्ञानको बढ़ाते रहे हैं तब ये गुरु कैसे? इनको यथार्थ ज्ञान नहीं है, हमको वेदका यथार्थ ज्ञान है इत्यादि। शास्त्रमें कहा है कि अपनेसे जो बड़ा हो उसके आनेपर खड़ा न होनेसे उसको प्रणाम न करनेसे आयु घट जाती है इत्यादि। [रा० प्र०—अभिमान कि मैं जपनिष्ठ हूँ, जपसे उठना न चाहिये।]

नोट—२ (क) *'गुर आएउ'* एकवचन देकर अक्षरसे अपमान दिखाते हैं। *'अभिमान तें'* कहकर जनाया कि आये हुए देखा, नेत्र बंद न थे, ध्यानमें मग्न रहा हूँ सो बात न थी, मैं जान-बूझकर न उठा। (ख) *'उठि नहिं कीन्ह प्रनाम'*—भाव कि गुरुको देखकर उठकर प्रणाम करना चाहिये, ऐसी शास्त्राज्ञा है। (यथा **'गुरुं दृष्ट्वा समुत्तिष्ठेदभिवाद्य कृताञ्जलिः'** इति धर्मशास्त्रे। वि० टी०)। (ग) *'अति अघ'* कहा क्योंकि गुरुका अपमान वध-तुल्य है। (रा० प्र०) पुनः, *'अति अघ'* का भाव कि द्विजद्रोह, हरिद्रोह इत्यादि भारी अघ हैं और गुरु-अपमान 'अति' अघ है; इससे भारी पाप दूसरा नहीं है। उठकर प्रणाम न करना अपमान है। (घ) *'सहि नहिं सके।'* भाव कि अपना अपमान, हरिका अपमान, ब्राह्मण-अपमानतक सहन हो सकता था; गुरु-अपमान नहीं। (ङ) *'महेस'* अर्थात् महान् ईश हैं। यह शब्द मानसमें कहीं महान् सामर्थ्य, कहीं महान् रामभक्त, कहीं रामप्रभावके परमज्ञाता तथा शिवजीकी अन्य समस्त देवोंसे अधिक महत्ता आदि प्रसङ्गोंमें प्रायः आया है। विमुखों-

* 'गुर दयाल' † 'अपमानता'—(का०, पं०)। 'अपमान ते'—(भा० दा०)

अन्यायियोंके दण्ड देनेके प्रसङ्गोंमें भी आया है। जैसे कि सतीके मोह-प्रसङ्गमें, कामको जलानेके प्रसङ्गमें तथा यहाँ। यथा—*'गईं समीप महेस तब हँसि पूछी कुसलात।'* (१। ५५)……*'एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।* ……*चलत गगन भै गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई।'* (१। ५७), *'जारेउ काम महेस।'* (१८९)*'असि मन्मथ महेस कै नाईं।'* (१। ९०। ८), *'त्रयनयन मयनमर्दन महेस।'*(वि० १३)

प० प० प्र०—गुरुका अपमान शिवका अपमान है। गुरु शिवभक्त ज्ञानी थे। यहाँ दिखाया कि जैसा स्वभाव श्रीरामजीका है, यथा *'जो अपराध भगत कर करई। रामरोष पावक सो जरई।'*, वैसा ही शिवजीका है। इसने भक्तका अपमान किया अतः शिवजी न सह सके। पुनः, गुरु शङ्कररूप हैं और शङ्करजी रामजीको परमप्रिय हैं, अतः यह शूद्र रामरोषका भी पात्र हुआ।

मंदिर माझ भई नभबानी। रे हतभाग्य अग्य अभिमानी॥ १॥
जद्यपि तव गुर कें नहिं क्रोधा। अति कृपाल चित* सम्यक बोधा॥ २॥
तदपि साप सठ दैहों तोही। नीति बिरोध सोहाइ न मोही॥ ३॥

अर्थ—मन्दिरमें आकाशवाणी हुई कि अरे नष्टभाग्य! अरे मूर्ख! अरे अभिमानी! यद्यपि तेरे गुरुके क्रोध नहीं है, वे अत्यन्त दयालुचित्त हैं और सम्पूर्ण ज्ञानसे परिपूर्ण हैं, तो भी, हे मूर्ख! तुझको मैं शाप दूँगा; क्योंकि नीतिका विरोध मुझे नहीं सुहाता॥ १—३॥

नोट—१ (क) *'मंदिर माझ'*—यह महाकालेश्वर शङ्करजीका मन्दिर है। आकाशवाणी इसी प्रकार होती और सुनी जाती है, जैसे आजकल कलकत्ता, बम्बईमें जो गाना होता है वह हजारों कोसपर सुन लिया जाता है। पर देववाणीमें और इसमें भेद यह है कि देववाणीको हर एक नहीं सुन सकता, जिसके लिये वह आकाशवाणी है वही सुन सकता है, दूसरा कदापि नहीं सुन सकता। दूसरे, उसके सुननेके लिये किसी आलेकी जरूरत नहीं पड़ती। नभवाणी=आकाशवाणी=वह वाणी जो देवता आदि आकाशमें अदृश्य रहकर वहाँसे बोलते हैं=देववाणी। (ख) *'हतभाग्य'* क्योंकि *'जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी।'* (१०६। ४) पुनः, भाव कि गुरुके अपमानसे तेरा भाग्य जाता रहा। गुरु-विमुख होकर मेरी सेवासे सुख चाहता था सो तो हुआ नहीं, हाँ दुःख अवश्य पायेगा। *'गुरु हित कहै न मोहि सुहाई'* हितकी बात अच्छी नहीं लगती थी, इससे अज्ञ कहा और गुरुको उठकर प्रणाम न किया अतः अभिमानी कहा। अपमान होनेपर भी क्रोध नहीं किया अतः *'अति कृपाल'* कहा।

पं० रा० व० श०—१ **सम्यक**=यथार्थ, सच्चा, 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्' इत्यमरः।' उनके चित्तमें सम्यक् बोध है अर्थात् वे गुरु-शिष्य-सम्बन्ध नहीं समझते, क्योंकि उनके चित्तमें समस्त जगत्‌के पदार्थका यथार्थ बोध है। अतः उन्हें मानापमान समान है—[सम्यक् बोध=सर्वात्मक ज्ञान (पं०)=भली प्रकार ज्ञान—(रा० प्र०)। *'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'* (३। १५। ७) वे सबमें ब्रह्महीको देखते थे]।

जौं नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥ ४॥
जे शठ गुर सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं॥ ५॥
त्रिजग जोनि पुनि धरहिं सरीरा। अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा॥ ६॥

शब्दार्थ—**भ्रष्ट**=नीचे गिरा हुआ, पतित, जो कामका न रह गया, दूषित। **अयुत**=दस हजार संख्याका स्थान तथा उस स्थानकी संख्या। अगणित।

अर्थ—रे दुष्ट! यदि मैं तेरा दण्ड न करूँ (तुझे दण्ड न दूँ) तो मेरा वेदमार्ग दूषित हो जायगा॥ ४॥ जो शठ गुरुसे ईर्ष्या करते हैं वे करोड़ों युगोंतक रौरव नरकमें पड़े रहते हैं॥ ५॥ फिर (रौरवनरकसे निकलनेपर) तिर्यक् योनियोंमें शरीर धारण करते, अर्थात् जन्म लेते हैं और दस हजार जन्मोंतक जन्म-जन्म भर पीड़ा पाते हैं॥ ६॥

* उर (का०)

पं० रा० व० श०—*'जौं नहिं दंड करौं……'* इति। भाव कि जिनका अपमान हुआ वे तो दया ही करते हैं, हमें बोलनेका क्या प्रयोजन? यदि ऐसा कहा जाय तो उसका समाधान करते हैं कि यदि तेरा दण्ड न किया जायगा तो *'भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा।'* सब यही कहेंगे कि धर्माचरणसे क्या होता है, देखो शिवजीके सम्मुख इसने गुरुका अपमान किया तब भी इसको कुछ न हुआ।

वै०—*'श्रुति मारग मोरा'* अर्थात् सब शैव निश्चिन्त हो जायँगे, कोई अपने बड़ोंको न मानेगा। इस अपराधसे सभी नरकगामी होंगे। श्रुतिमार्ग=शैवमत। वेदाज्ञासे ही सब धर्म हैं।

पां०—गुरु-शिष्यका भाव वेदमार्ग है। गुरुमें शिष्यका भाव कैसा होना चाहिये यह जो वेदोंमें बताया है, वह वेदमार्ग है। [गुरु परमेश्वररूप हैं। यह अनेक बार पूर्व और विशेषकर गुरुवन्दना-प्रसङ्गमें दिखाया गया है। गुरुमें ऐसी ही श्रद्धा होनेपर ही उनके बताये हुए गूढ़ रहस्यमय अर्थ हृदयमें प्रकाशित होते हैं, यह श्वेताश्वतरोपनिषद्के अन्तिम मन्त्रमें बताया गया है। यथा **'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्य ते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥'** इससे भी सिद्ध है कि गुरुमें वैसी ही भक्ति होनी चाहिये जैसी परमेश्वरमें। वाल्मीकिजी तो कहते हैं कि भगवान्‌से अधिक गुरुमें भावभक्ति होनी चाहिये, यथा *'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी॥'* (२। १२९। ८) श्रीमद्भागवतमें भी शिष्यका गुरुके साथ कैसा व्यवहार होना चाहिये, यह स्वयं भगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा है। प्रारम्भमें ही उन्होंने कहा है कि 'आचार्यको मेरा ही स्वरूप समझे, कभी उनका तिरस्कार न करे। उन्हें साधारण मनुष्य समझकर उनके गुणोंमें दोष न निकाले, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है। यथा **'आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्। न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥'** (भा० ११। १७। २७) गुरुगीताके बहुत प्रमाण पूर्व आ चुके हैं।—यह श्रुतिमार्ग है।]

पं०—*'मोरा'* का भाव कि वेदमार्ग गुरुशुश्रूषा आदि सब धर्म मेरे ही थापे हुए हैं—*'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना। आन जीव पामर का जाना॥'*

नोट—१ **'श्रुति मारग मोरा'**=वेदमार्ग, जिसपर मैं स्वयं आरूढ़ हूँ, जिसको मैंने अपना मार्ग स्वीकार कर लिया है।—'श्रुतिमार्ग' क्या है सो आगे बताते हैं कि *'जे शठ गुर……।'* अर्थात् गुरुसे शिष्य ईर्ष्या न करे, यदि करेगा तो उसे *'रौरव नरक……'* इत्यादि दण्ड होगा।

वि० त्रि०—**'यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपि दुर्लभम्। खलानां दण्डकृद्योऽसौ शङ्करः शं तनोतु माम्॥'** ईश हैं। इनका काम निग्रहानुग्रह है, यथा *'सुभ अरु असुभ कर्म अनुसारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥'* **'दण्ड'** को पण्डितोंने धर्मरूप माना है। दण्ड ही प्रजाका शासन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है, जब सब कोई सोता है, तब धर्म जागता है, ऐसा मनुजी कहते हैं। शिवजी कहते हैं कि श्रुतिमार्ग मेरा है, क्योंकि मैं वेदस्वरूप हूँ। यथा—**'विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपं'** अतः वेदविरुद्धाचरण करनेवालेको दण्ड न देनेसे मेरा वेदमार्ग भ्रष्ट होता है। गुरुजीको भले ही क्रोध न हो, क्योंकि उनका कुछ बिगड़ता नहीं, पर मैं तो क्रोध करूँगा, क्योंकि मेरा तो वेदमार्ग नष्ट-भ्रष्ट होता है।

प० प० प्र०—*'भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा'* इस कथनसे श्रीशिवजीको श्रुतिसेतुपालक कहकर *'श्रुतिसेतुपालक राम'* और शिवजीकी अभिन्नताका निदर्शन कराया गया।

नोट—२ *'जे शठ'* इति। भाव कि जो गुरुकी अवज्ञा करते हैं, उनसे ईर्ष्या रखते हैं, उनके साथ बराबरीका अभिमान करते हैं, वे शठ हैं। (पां०) पुनः *'जे शठ'* का भाव कि जो सुनते हैं और जानते हैं, पर जिनके हृदयमें बात नहीं बैठती वे ही ऐसा करते हैं। (पं० रा० व० श०) शठ कहकर जनाया कि तू मन्दबुद्धि है, अभागा है, तेरे हृदयपर मोहका परदा पड़ा है, इत्यादि। यथा *'माया बस मतिमंद अभागी। हृदय जमनिका बहु बिधि लागी॥ ते सठ……।'* (७३। ८। ९)

३—*'रौरव नरक'*—रुरु नामके कीड़े महाक्रूर सर्पसे भी अधिक क्रूर होते हैं। ये रुरुगण महा विषैले कीड़े इस नरकमें असंख्यों रहते हैं। वे पापी प्राणीका मांस चारों ओरसे नोचते हैं। जो निरपराध प्राणी

पापीके हाथसे मारे गये हैं वे ही रुरुरूप होकर इससे बदला लेते हैं। **'ये त्विह यथैवामुना विहिंसिता जन्तवः परत्र यमयातनामुपगतं त एव रुरवो भूत्वा तथा तमेव विहिंसन्ति तस्माद्रौरवमित्याहू रुरुरिति सर्पादतिक्रूरसत्त्वस्यापदेशः॥ एवमेव महारौरवो यत्र निपतितं पुरुषं क्रव्यादा नाम रुरवस्तं क्रव्येण घातयन्ति यः केवलं देहम्भरः॥'** (भा० ५। २६। ११-१२) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! इस लोकमें अपने कुटुम्बका पोषण करनेके लिये उसने जिस जीवकी जिस प्रकार हिंसा की है, परलोकमें यमयातनाको प्राप्त होनेपर उसे वे ही जीव 'रुरु' होकर उसी प्रकार पीड़ित करते हैं। इसीलिये उसे रौरव कहते हैं। रुरु—यह सर्पसे भी अधिक क्रूर स्वभाववाले एक कीड़ेका नाम है। ऐसा ही महारौरव नरक है। वहाँ वह पुरुष जाता है जो अपने ही देहको पालता है। (वहाँ पड़े हुए जीवको कच्चा मांस खानेवाले रुरु नामक जीव मांसके लोभसे काटते हैं।) विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि गुरुके साथ अहिताचरण करनेसे विष्ठाका कीड़ा होना पड़ता है। यथा **'गुरोर्हितं प्रकर्तव्यं वाङ्मनःकायकर्मभिः। अहिताचरणाद्देवि विष्ठायां जायते कृमिः॥'** इति ज्ञानार्णवे शिववाक्यं पार्वतीं प्रति।

४—*'त्रिजग जोनि।'* भा० ३। १० में दस प्रकारकी सृष्टियोंमेंसे तिर्यक् योनिको आठवीं सृष्टि कहा है और बताया है कि इनके २८ प्रकारके भेद हैं, इनको आज-कल-परसों आदि कालका एवं अन्यान्य भविष्यत्का ज्ञान नहीं होता, इनमें तमोगुण अधिक होता है, ये केवल आहार और मैथुनमें तत्पर रहते हैं और सूँघनेसे ही इष्ट अर्थको जानते हैं एवं इनके हृदयमें बोध या विचारशक्ति नहीं है। यथा—**'तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः। अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः॥'** (२०) तथा च श्रुतिः—**'अथेतरेषां पशूनामशनपिपासे एवाभिज्ञानं न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञानं पश्यन्ति न विदुः श्वस्तनं न लोकालोकावित्'॥** इनके २८ भेद ये हैं—गऊ, बकरी, भैंसा, कृष्णसार मृग, शूकर, गवय (नीलगाय), रुरु, मेष (भेंड़ा), ऊँट इन नव प्रकारके पशुओंके खुर बीचसे फटे होते हैं, इस कारण इनकी 'द्विशफ' संज्ञा है। गर्दभ, अश्व, खच्चर, गौर, शरभ और चमरी गऊ—इनका खुर फटा नहीं होता, इस कारण इन्हें एकशफ कहते हैं। कुत्ता, सियार, भेड़िया, बाघ, बिल्ली, खरगोश, स्याही, सिंह, वानर, हाथी, कछुआ, गोह और मगर आदि भूचर और जलचरकी पञ्चनख संज्ञा है। कंक, गृध्र, बटेर, बाज, भास, भालू, मयूर, हंस, सारस, चक्रवाक, काक, उलूक आदिक खेचर जन्तु—इनकी 'पक्षी' संज्ञा है।—(श्लोक २० से २४ तक)।

नोट—**'अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा'**=पशु-पक्षी आदि तिर्यक्-योनि शरीर धरकर दस हजार वर्षतक पीड़ा पाते हैं। गर्भवास, जन्म-मरण, 'अपानि' होनेसे कीटदंशादिसे अपार दुःख सहते और वैखरीवाणी न होनेसे बहुत भाँतिसे ताड़ना होती है—यह सब पीड़ा पाते हैं। (रा० प्र०) पुनः *'पावहिं पीरा'* का भाव कि तिर्यक्-योनिमें भी कोई-कोई भाग्यवान् होते हैं और सुख पाते हैं पर गुरुद्रोहीको दुःख ही मिलता है। (पं० रा० व० श०)।

खर्रा—*'अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा'*—यहाँतक ईश्वरकृत अवश्य विहित दण्ड (वैदिक विधानानुसार दण्ड) दिखाया। आगे अपना शाप पृथक् कहते हैं।

बैठि रहेसि अजगर इव पापी। सर्प होहि खल मल मति ब्यापी॥ ७॥
महाबिटप कोटर महुँ जाई। रहु अधमाधम अधगति पाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**कोटर**=पेड़का खोखला भाग। खोड़र। **अधगति**=पतन, दुर्गति, अधोगति।

अर्थ—अरे पापी! तू अजगरकी तरह बैठा रहा। अरे दुष्ट! तेरी बुद्धिमें पाप व्याप गया है, तू सर्प होगा॥ ७॥ अरे अधमसे भी अधम! अधो (नीच) गतिको पाकर बड़े भारी वृक्षके खोड़रमें जाकर रह॥ ८॥

नोट—१ अजगर सर्प अपनी स्थूलता और निरुद्यमताके लिये प्रसिद्ध है। अपने शरीरके भारीपनके कारण इधर-उधर शीघ्र हिल-डोल नहीं सकता, श्वासद्वारा बकरी, हिरन आदि पशुओंको खींचकर निगल जाता है। *'बैठि रहेसि अजगर इव'* का भाव कि तू अचल बैठा रहा, गुरुके आनेपर किञ्चित् हिला-डोला भी नहीं, अतः न हिल-डोल सकनेवाला ही सर्प होगा। ☞ जैसा शाप होना होता है उसीके अनुसार

आचरण वा संस्कार प्रथमसे ही उपस्थित हो जाते हैं। भुशुण्डिजी पक्षपात करनेसे चाण्डाल पक्षी हुए, *'अजगर इव'* बैठे रहनेसे अजगर हुए। इसी तरह हूहू-गन्धर्वने देवलऋषिका पैर जलमें पकड़ा था इसीसे उन्हें मगर होनेका शाप हुआ, भानुप्रतापने विप्र-मांस परोसा इससे राक्षस हुए। छोटे सर्प छोटे बिलमें रह सकते हैं, अजगर होनेका शाप दिया; अत: बड़े भारी वृक्षके खोढ़रमें रहनेको कहा। (ख) *'मल मति ब्यापी।'*—गुरुद्वेष, गुरु-अपमान इत्यादि मल हैं। *'अधमाधम'*—गुरुसे ईर्ष्या करना महा अधमता है। अन्यसे ईर्ष्या अधमता है। पहले विष्णुभगवान् और वैष्णवोंसे द्रोह करता था। यह अधमता थी। अब गुरुद्रोही हो गया यह महा अधमता है। अत: अधमाधम कहा। (ग) *'अधगति'*—नीच गति। मनुष्य होकर सर्प-योनिमें गिरना नीच गति है। (रा० प्र०) पुन:, अधगति अर्थात् सिर नीचे पूँछ ऊपर। ☞ यह गुरुद्रोहका फल दिखाया। राजा त्रिशङ्कु भी सिर नीचे पैर ऊपर इसी तरह टँगे। (करु०) पुन:, *'अधगति पाई'* का भाव कि गुरुसेवासे ऊर्ध्वगति पाता, मनुष्यसे देवता होता, गुरुसे विमुख हुआ अत: अधोगति पायेगा।

दो०—हाहाकार कीन्ह गुरु दारुन सुनि सिव-साप।
कंपित मोहि बिलोकि अति उर उपजा परिताप॥
करि दंडवत सप्रेम द्विज सिव सन्मुख कर जोरि।
बिनय करत गदगद गिरा* समुझि घोर गति मोरि॥१०७॥

शब्दार्थ—**हाहाकार**=कष्ट, पीड़ा, दीनता, शोक सूचित करनेवाली पुकार।

अर्थ—शिवजीका कठिन शाप सुनकर गुरुने हाहाकार किया। मुझे अत्यन्त काँपता हुआ देखकर उनके हृदयमें बड़ा दु:ख (संताप) हुआ। प्रेमसहित दण्डवत् प्रणाम करके ब्राह्मण शिवजीके सम्मुख हाथ जोड़कर, मेरी भयंकर गति समझकर, गद्गद वाणीसे विनय करने लगे॥ १०७॥

नोट—१ *'हाहाकार कीन्ह गुरु'* यह गुरुकी दयालुताका स्वरूप दिखाया कि अपने द्रोहीको भी दु:खमें पड़ते देख सह न सके, दु:खी हो गये। २—*'कंपित'''* इति। भयसे काँप उठा। कारण कि जिन इष्टके बलपर देवान्तरोंका मैं अपमान करता था, जिनका अपनेको अनन्य उपासक समझता था, जब उन्हींने शाप दिया, तब अब कौन शरण दे सकता है? ३—*'उर उपजा परिताप'* में *'निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥'* चरितार्थ है। सम्भवत: इस चरितको सुनकर गरुड़जीने ऐसा कहा हो। [रा० शं० हाहाकार और परितापका कारण पुत्रवत् स्नेह और उसपर भारी विपत्ति है।] ४—*'घोर गति'*—अयुत जन्म अजगर सर्पके, और फिर आगे न जाने और क्या हो। इस *'घोर गति'* वा 'अधोगति' के सम्बन्धसे शापको 'दारुण' कहा था। ५—*'सिव सन्मुख'* अर्थात् मन्दिरमें जो शिवमूर्ति थी उसके सामने क्षमा कराना है, अत: सप्रेम गद्गद हो विनय की।

(भुजंगप्रयातवृत्त छन्द)

नमामीशमीशान निर्वाणरूपं। विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपं।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं। चिदाकाशमाकाशवासं भजेहं॥
निराकारमोंकार मूलं तुरीयं। गिराज्ञानगोतीतमीशं गिरीशं।
करालं महाकाल कालं कृपालं। गुणागार संसारपारं नतोहं॥

शब्दार्थ—**नमामीशमीशान**=नमामि ईशम् ईशान। **ईशान**=उत्तर-पूर्व-कोण। **ईशमीशान**=ईशानकोणके स्वामी (करु०)।=सर्वसंपदाके स्वामी और जिसकी सत्तासे सबकी सत्ता है।—**'ईश्यते अनेन इति ईशान'** (पं०)। =ईश्वरोंके ईश्वर (वै०)।=ब्रह्मादिके नियन्ता तथा ईशानकोणमें ग्यारह रुद्ररूपसे रहनेवाले। (रा० प्र०)।

* १ गिरा—(रा० गु० द्वि०, का०, करु०)। स्वर—(भा० दा०)।

निज=स्वतन्त्र। **निर्विकल्प**=विकल्प, परिवर्तन या प्रभेदों आदिसे रहित। निर्विकल्प समाधि-अवस्थामें सदा रहनेवाले जिसमें ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता आदिका भेद नहीं रह जाता।=एकरस। **चिदाकाश**=चैतन्य आकाश=आकाशके समान निर्लिप्त और सबके आधारभूत। तुरीय—१। ३२५। छंद ४ देखिये।

अर्थ—मोक्षस्वरूप, समर्थ, व्यापक, ब्रह्म और वेदस्वरूप, ईशानदिशाके स्वामी-(श्रीशंकरजी-) को मैं नमस्कार करता हूँ। स्वतन्त्र एवं स्वयं प्रकट होनेवाले, त्रिगुणरहित, निर्विकल्प, चेष्टारहित, चैतन्य आकाशरूप और आकाशमें वास करनेवाले (अनन्त) आपको मैं भजता हूँ। निराकार, ओंकार-(प्रणव-) के मूल, सदा तुरीयावस्थामें रहनेवाले, वाणी, ज्ञान और इन्द्रियोंसे परे, ईश्वर, कैलासपति, विकराल, महाकालके भी काल अर्थात् महामृत्युञ्जय, कृपालु, गुणोंके घर, संसारसे परे, आपको मैं प्रणाम करता हूँ।'*

नोट—यह भुजंगप्रयातवृत्त छन्द है। इसके चारों चरणोंमें १२-१२ अक्षर होते हैं। पहला, चौथा, सातवाँ और दसवाँ अक्षर लघु होता है। चार यगण होते हैं।

वै०—१ सर्प होनेका शाप है। अतः भुजङ्गप्रयातमें स्तुति की। भुजंग=सर्प। प्रयात=जाता है। अर्थात् आपके शापसे यह भवसागरको जाता है, इसपर कृपा कीजिये। पुनः शिवजीकी क्रोधाग्निको शान्त करना है, अतः इस छन्दमें स्तुति की जिसमें यगण ही पड़े हैं और जिसका देवता जल है।

नोट—निर्वाण=मोक्ष। इससे अलक्षरूप जनाया (रा० प्र०)। विभु=समर्थ (करु०)। अर्थात् पालन और संहार आदि करनेको समर्थ (वै०)। जिसमें सब अणु हैं (रा० प्र०)। व्यापक=सबमें व्याप्त। एक होते हुए भी सबमें अनेक अणु होकर विश्वरूपसे हैं यह 'व्यापक' शब्दसे जनाया (रा० प्र०)। पंजाबीजी लिखते हैं कि विभु और व्यापक दोनों पर्याय हैं। दोनों शब्द देकर भीतर-बाहर व्यापक जनाया। अथवा विभु-(आकाशादि-) में व्याप्त यह अर्थ कर लें (पं०)। ब्रह्म=सबसे बृहत् वा बड़ा (पं०)। 'ब्रह्म' से अनिर्वचनीय जनाया। 'ब्रह्मवेदस्वरूप' इति। अर्थात् प्रतिपाद्य ब्रह्म और प्रतिपादक वेद आप दोनों रूप हैं (पं० रा० व० श०)। वा, आप वेदतत्त्व ब्रह्मस्वरूप हैं (करु०)। आप ब्रह्मरूपसे सबके भीतर प्रकाश करते हैं और वेदस्वरूपसे सबको धर्मोपदेश करते हैं। भाव कि जीवोंको भीतर-बाहर चेतनता देकर शुद्ध करते हैं (वै०)।

२—'*निजं निर्गुणं*......' इति। (क) 'निज' का अर्थ स्वतन्त्र है (करु०)। और अर्थ ये हैं—सब-का-सब, अर्थात् आप सर्वरूप हैं (पं०)। पुनः भाव कि आप अपने-आप हैं अथवा, सबके निज नाथ हैं, कुछ जगत्के नाते ही नाथ नहीं हैं (पं० रा० व० श०)। निज अर्थात् अंश नहीं हैं (रा० प्र०)। (ख) निर्विकल्प=तर्कवर्जित (रा० प्र०)।=मन-वाणीकी कल्पनासे रहित (करु०)।=जिसमें कोई विकल्प नहीं घट सकता। एकरस सर्वत्र व्याप्त (पं० रा० व० श०)। निर्विकल्प-समाधि-अवस्थामें सदा रहनेवाले। (ग) 'निरीह' से निष्क्रिय जनाया। चिदाकाश=नित्यचैतन्य ब्रह्मस्वरूप और आकाशवत् (करु०)।=जिसमें सबको पर्यवसान है, सबमें और सबसे पृथक् (रा० प्र०)। 'चिदाकाश' से जनाया कि आकाश जड़ है और आप चैतन्यस्वरूप (चेतन) आकाश हैं (पं० रा० व० श०)। 'आकाशवासं' अर्थात् जिसके स्वरूपका विस्तार आकाशवत् है। '*चिदाकाशमाकाशवासं*' का भाव कि आप अत्यन्त सूक्ष्म आकाशमें भी सूक्ष्मरूपसे बसे हुए हैं (पं० रा० व० श०)। पंजाबीजी अर्थ करते हैं कि

---

* खर्रा—'नमामीशमीशान..........'। इति। ईशं त्वां नमामि। कथं भूतमीशाननिर्वाणरूपम्। ईशाननिर्वाणौ रूपं यस्य अनेकफलदायकत्वं फलस्वरूपत्वं च शिवस्यैव प्रतिपादितम्। पुनः कथं भूतं विभुं सर्वान्तर्यामिनम्, पुनर्व्यापकं बहिरंगावरकम्, पुनर्ब्रह्म अन्तर्बहिर्व्यापकम्, पुनर्वेदस्वरूपं वेदात्मकम्, पुनरजमजन्मानं पुनर्निर्गुणं निर्गता गुणा यस्मात् तत्, पुनर्निर्विकल्पं निर्गतं विकल्पं द्वैविध्यं यस्मात् तम्, पुनर्निरीहं निर्गता ईहा चेष्टा यस्मात् तम्, पुनश्चिदाकाशं चैतन्येन आकाशं पूर्णम्, पुनराकाशवासंआकाशेऽन्तरिक्षे निवासो यस्य तमहं भजे। पुनः कथं भूतं निराकारमाकारशून्यम्, पुनः ॐकारमूलं ॐकारो मूलं यस्य तम पुनस्तुरीय वस्थात्रयप्रत्ययात्मकम्, पुनर्गिराज्ञानगोतीतं गिरा वाणी ज्ञानं विचारो गावो इन्द्रियाणि तेभ्योऽतीतं विगतम्, पुनरीशमीशानशीलम्, पुनर्गिरीशं कैलाशादिगिरिस्वामिनम्; पुनः करालं कठोरम्, पुनर्महाकालकालं मृत्युजेतारम्, पुनः कृपालुं कृपापूर्णम्, पुनर्गुणागारो गुणानामागार आश्रयः संसारः जगत्प्रवाहस्तस्मात् पारं गतं गुणागारश्चासौ संसारपारश्च तमहं नतोऽस्मि।

'चैतन्यरूप आकाश भी जिसमें बसता है' (घ) आकाश तीन प्रकारका माना गया है। भूताकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश। सो ब्रह्म ही चिदाकाश है (वि० त्रि०)। (ङ) आकाशवास=अन्तरिक्षवासी। **चिदाकाशमाकाशवासं**=सूक्ष्म और महा आकाशमें जिसका वास है, जिसमें दोनों आकाश बसते हैं (पां०)। पुनः आकाशवास=आकाश ही जिसका वस्त्र है, जो सत्तारूप दिगम्बर है।

३—*'निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं ....'* इति। बैजनाथजी लिखते हैं कि पूर्व जो विशेषण दिये उन्हींका स्वरूप क्रमसे यहाँ दिखाते हैं। कैसे ईशमीशान हैं यह *'निजं'* से, निर्वाणरूप कैसे हैं यह निर्गुणसे जनाया। वेदस्वरूप कैसे हैं? यह आकाशवासंसे जनाया। आकाशवासंवत् अर्थात् जैसे शब्द आकाशमें व्याप्त है वैसे इत्यादि। *'ओंकारमूलं'* अर्थात् ओंकार वेदमन्त्रोंके सजीवकर्ता और जगत्के मूल कारण हो (वै०)।

पं० श० प० श०—*'ओंकारमूलं'*—ओंकार सबका मूल है, क्योंकि ब्रह्माके मुखसे प्रथम शब्द यही निकला और आप उसके मूल हैं। ['तुरीय' अर्थात् तीन अवस्थाओं-(जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-) से परे (पं०)। जिसका वेद परात्पर चतुर्थ कहते हैं। (रा० प्र०)] *'गिराज्ञानगोतीत'*—अर्थात् जहाँतक हमारी वाणी तथा हमारा ज्ञान पहुँच सकता है आप उससे परे हैं, जहाँतक हमारी इन्द्रियाँ ग्रहण कर सकती हैं उससे भी परे हैं। [यथा—*'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥'* गिरीश=कूटस्थ। महाकालकाल=कालको भी भयप्रद, महामृत्युञ्जयरूप और प्रलयमें तो प्रकट ही ऐसे हैं। कृपाल=औढरढरन, यथा—*'औढरदानि द्रवत पुनि थोरे।'* करालता और कृपालता दोनों विरोधी एक ठौर आपमें दिखाकर आपका प्रभुत्व सूचित किया (रा० प्र०)] *'करालं महाकालकालं'* से शङ्का होगी कि जब ऐसे कराल हैं तब उनका सेवन कोई कैसे करेगा? उसपर कहते हैं 'कृपालं' अर्थात् भक्तोंके लिये आप कृपालु हैं; यथा—*'सेवा सुमिरन पूजिबो पाताखत थोरे।'* (वि० ७) *'सकहिं न देखि दीन कर जोरे'* (वि० ६) 'संसारपार'= प्रकृतिमंडलसे परे। अर्थात् आपमें प्रकृतिका लेश नहीं।

तुषाराद्रि संकाश गौरं गँभीरं। मनोभूत कोटि प्रभा श्री शरीरं॥
स्फुरन्मौलि कल्लोलिनी चारु गङ्गा। लसद्भाल बालेंदु कंठे भुजंगा॥
चलत्कुंडलं भ्रू* सुनेत्रं विशालं। प्रसन्नाननं नीलकंठं दयालं॥
मृगाधीश चर्माम्बरं मुंडमालं। प्रियं शंकरं सर्वनाथं भजामि†॥

शब्दार्थ—**मनोभूत**=मनसे उत्पन्न, मनोज, मनसिज, कामदेव। **श्री**=शोभा। **स्फुरण**=जरा-जरा हिलना या फड़कना। **स्फुरत्**=शोभित। **कल्लोलिनी**=लहराती हुई। जिसमें अनेक तरङ्गें उठ रही हैं। **मौलि**=जूड़ा, जटाजूट, सिरके ऊपरका भाग। **मृगाधीश**=सिंह, बाघ। **चर्म**=खाल। **संकाश**=सदृश, समान।

अर्थ—हिमाचलके सदृश गौरवर्ण, गम्भीर, करोड़ों कामदेवोंकी शोभाकी कान्ति वा छटा जिनके शरीरमें है, जिनके सिरके जटाजूटपर सुन्दर तरङ्गोंसे युक्त गङ्गाजी कल्लोल करती हुई विराजमान हैं, ललाटपर द्वितीयाका बालचन्द्र और कण्ठमें सर्प शोभित हैं, कानोंमें कुण्डल हिल रहे हैं, सुन्दर भृकुटी और विशाल नेत्र हैं, प्रसन्नवदन, नीलकण्ठवाले, दयालु, बाघाम्बरधारी मुण्डमाल पहने हुए, सबके स्वामी एवं प्रिय शंकरजीको मैं भजता हूँ।‡

---

* शुभ्रनेत्र—पं०, का०।

† वीर—'भजामि' का मकार दीर्घोच्चार होना चाहिये अन्यथा छन्दकी गतिमें अन्तर पड़ता है और छन्दोभङ्ग दोष आता है।

‡ खर्रा—पुनः कथं भूतं तुषाराद्रिसंकाशगौरं हिमाचलसदृशगौरवर्णम्, पुनर्गम्भीरं गम्भीरगुणयुक्तम्, पुनर्मनोभूतकोटिप्रभासं शरीरं मनोभूतानां कामानां ये कोटय तेषां प्रभासो दीप्तयस्तं सदृशं शरीरकान्तिर्यस्य तं प्रभासा स्वार्थे आपः, पुनः 'स्फुरन्मौलिकल्लोलिनी चारु गङ्गा' कल्लोलमस्ति अस्यां सा कल्लोलिनी, मौले कल्लोलिनी मौलिकल्लोलिनी स्फुरन्ति चासौ मौलकल्लोलिनी च स्फुरन्मौलिकल्लोलिनी चारु चासौ गङ्गा च चारुगङ्गा स्फुरन्मौलिकल्लोलिनी चासौ चारुगङ्गा च स्फुन्मौलिकल्लोलिनीचारुगङ्गा सा यस्मिंस्तम्।

नोट—१ अन्यत्र श्रीशिवजीके गौरवर्णके लिये प्राय: कुन्द, इन्दु, शङ्ख और कपूरकी उपमाएँ दी गयी हैं। यथा—'*कुंदु इंदु दर गौर सुदरं।*' (मं० श्लो० ३) '*कुंद इंदु दर गौर सरीरा।*' (१। १०६। ६) '*कुंदु इंदु सम देह।*' (१। मं० सो०) '*कुन्देन्दु कर्पूर दर गौर बिग्रह रुचिर।*' (वि० १०) '*कंबु कुंदेंदु कर्पूर गौरं।*'(वि० १२) यहाँ '*तुषाराद्रि संकाश*' कहा। कुन्द, इन्दु आदिकी छटा एकरस नहीं रहती और हिमालयके बर्फीले पर्वतोंकी स्वच्छता सदा रहती है। वे सदा श्वेत रहते हैं। सदा स्वच्छ श्वेत गौर वर्ण सूचित करनेको 'तुषाराद्रि' की उपमा दी। वि० ११ में भी कहा है '*बिग्रह गौर अमल अति धवल धरणीधराभं।*'

पं० रा० व० श०—अब आपका स्वरूप कहते हैं। 'गम्भीर' अर्थात् कोई थाह नहीं पा सकता, आपको कोई विचलित नहीं कर सकता।

नोट—२ (क) '*मनोभूत कोटि……*' यथा—'*कामसतकोटि लावन्यधामं।*' (वि० १०) '*स्फुरन्मौलि……*' यथा—'*मौलि संकुल जटा मुकुट विद्युच्छटा तटिनि बर बारि हरिचरनपूतं।*' (वि० १०) '*भ्राज बिबुधापगा आपु पावन परम मौलि मालेव सोभा विचित्रं।*' (वि० ११) '*जटा मुकुट सुरसरित सिर।*' (१। १०६)—इन उद्धरणोंसे इस चरणके प्रत्येक शब्दके भाव स्पष्ट हो जाते हैं। रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'स्फुरन्' चमत्कारका अन्वय मौलि और बालेन्दु सबके साथ है। (ख) '*लसद्भाल बालेंदु—*' यथा—'*सोह बाल बिधु भाल।*' (१। १०६) '*ललित लल्लाटपर राज रजनीसकल।*' (वि० ११) '*बर बाल निसाकर मौलि भ्राज।*' (वि० १३)

३ (क) '*भ्रू सुनेत्रं विशालं*'—नेत्र कमलदलके समान लम्बे हैं। यथा—'*लोचन नलिन बिसाल।*' (१। १०६) नेत्रकी लम्बाईतक अर्थात् कर्णपर्यन्त भ्रकुटि भी है। वि० १० में भी '*सुबिसाल लोचन कमल*' कहा है। (ख) 'प्रसन्नानन' से जनाया कि सदा चिन्मयानन्दमें मग्न रहते हैं (पं० रा० व० श०) अर्थात् अखण्डानन्द जनाया (रा० प्र०)। 'नीलकण्ठ' से 'गरलकण्ठ' अर्थात् हलाहलका पानकर कण्ठमें रखना जनाया। नीलकण्ठ कहकर दयाल कहनेसे वह सारा प्रसङ्ग जना दिया। प्राय: स्तुतियोंमें जहाँ करुणा, दया आदि वाचक गुण आते हैं वहाँ यह प्रसङ्गसूचक शब्द भी आते हैं यथा—'*गरल कंठ करुनाकंद।*' (वि० १०), '*जरत सुर असुर नर लोक सोकाकुलं मृदुल चित अजित कृत गरल पानं।*' (वि० ११) '*नौमि करुनाकरं गरल गंगाधरं।*' (वि० १२) '*उपकारी कोऽपर हर समान। सुर असुर जरत कृत गरल पान॥*' (वि० १३) इत्यादि।

४—'*मृगाधीश चर्माम्बरं……*' इति। (क) बाघाम्बरधारी हैं। यथा—'*भस्म तन भूषणं व्याघ्रचर्माम्बरं।*' (वि० ११) (ख) '*मुंडमालं*' इति। किसके मुण्डोंकी मालाएँ धारण किये हैं यह नहीं कहा, कारण कि पुराणोंमें कहीं मनुष्यों, कहीं सतीके अनेक शरीरोंकी, कहीं भक्त सुधन्वाकी, कहीं राहुकी इत्यादि मुण्डमालाएँ कही गयी हैं। विनयमें '*उरगनरमौलि उरमालधारी।*' (११) '*ब्याल-नृकपाल माला बिराजै।*' (१०) मुण्डमालसे शङ्का होती कि भयङ्कर हैं, अत: कहा कि वे भयङ्कर नहीं हैं, सबके प्रिय हैं क्योंकि शङ्कर हैं तथा सबके स्वामी हैं। शङ्कर=सबका कल्याण करनेवाले। '*प्रियं शंकरं*', यथा—'*दीन दयाल दिबोई भावत जाचक सदा सोहाहीं।*' (वि० ४), '*जिन्ह के भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी। तिन्ह राँकन्ह को नाक सँवारत हौं आयों नकबानी।*' (वि० ५) (यह ब्रह्माजीका वाक्य है)। 'सर्वनाथ' का भाव कि समस्त जीवोंके नाथ होनेसे आप सदा सबके कल्याणमें तत्पर रहते हैं, सभी जीव आपको प्रिय हैं क्योंकि सब आपके ही हैं। इस तरह 'प्रिय' का यह भी अर्थ हुआ कि जिसको सभी जीव प्रिय हैं। यथा '*लोकाभिरामं।*' (वि० १०)

पंजाबीजी लिखते हैं कि '*चर्माम्बरं मुंडमालं*' से नि:शङ्कता सूचित की।

इन चरणोंके शब्दोंके भाव बा० मं० सो० ४, १। १०६, उ० मं० ३ इत्यादिमें विस्तारसे आ चुके हैं, पाठक वहीं देखें।

प्रचंडं प्रकृष्टं प्रगल्भं परेशं। अखंडं अजं भानु कोटि प्रकाशं॥
त्रय: शूल निर्मूलनं शूलपाणिं। भजेऽहं भवानीपतिं भावगम्यं॥

कलातीत कल्याण कल्पांतकारी। सदा सज्जनानंद दाता पुरारी॥
चिदानंद-संदोह मोहापहारी। प्रसीद प्रसीद प्रभो मन्मथारी॥

शब्दार्थ—**प्रकृष्ट**=सबसे उत्कृष्ट, प्रधान, उत्तम, श्रेष्ठ। **प्रगल्भ**=प्रतिभाशाली, सम्पन्न बुद्धिवाला; निर्भय, किसीसे न दबनेवाला।

अर्थ—प्रचण्ड (अत्यन्त बल, तेज, वीर्यवाला) सबमें श्रेष्ठ, और बड़े निर्भय तथा प्रतिभाशाली, परमेश्वर, अखण्ड, जन्मरहित, करोड़ों सूर्यके समान प्रकाशवाले, (दैहिक, दैविक, भौतिक आदि) अनेक प्रकारके समस्त शूलोंके निर्मूल करनेवाले हाथमें त्रिशूल धारण किये हुए, भवानीपति, भक्तोंको भावद्वारा प्राप्त होनेवाले आपको मैं भजता हूँ। कलाओंसे परे अर्थात् सर्वकलापूर्ण, कल्याण और कल्पान्त-(प्रलय-) के करनेवाले, सज्जनोंको सदा आनन्द देनेवाले, त्रिपुरके शत्रु, चिदानन्दराशि, मोहके नाश करनेवाले मनको मथ डालनेवाले कामदेवके शत्रु, प्रभो! प्रसन्न हूजिये! प्रसन्न हूजिये!

नोट—१ *'प्रचंडं प्रकृष्टं……'* इति। 'प्रचंड' से बल, प्रताप, वीर्य आदिकी उत्कृष्टता दिखायी। यथा—*'भुजदंड प्रचंड प्रतापबलं। खलबृंद निकंद महाकुसलं।'* (६। ११०) [प्रलयके समयमें प्रकर्ष करके अत्यन्त कोपवाले (वै०)। पुन:, प्रचण्ड=जिसमें चण्डीकी शक्ति प्राप्त है (रा० प्र०)। भाव कि महाप्रलयमें अत्यन्त कोप करके आप सबका नाश करते हैं (वै०)] (ख) प्रकृष्ट=सर्वश्रेष्ठ, महत्तर। (खर्रा)=सम्पूर्ण क्लिष्ट क्लेशोंसे परे (करु०)=जिसमें भली प्रकार अन्तमें सब खिंच जाते हैं जैसे त्रिपुरवधके समय आपने सबका आधा बल ले लिया (रा० प्र०)। (ग) प्रगल्भ=अत्यन्त प्रौढ़; अर्थात् शास्त्रार्थ विद्यावादमें सबको परास्त कर सकनेवाले (वै०)।=जिसके वचनका कोई खण्डन न कर सके। (पं०) जिनसे कालादि भी मुख मोड़े रहते हैं (रा० प्र०)।=अन्त:करणकी जाननेवाले, जिसकी जाति कोई न जान सके, अथाह और गम्भीर (करु०)। =किसीसे दबनेवाले नहीं। भाव कि सब आपके अधीन हैं क्योंकि आप परेश हैं, सब ईशोंके स्वामी हैं (पं० रा० व० श०)। परेश यथा *'सिद्ध सनकादि जोगिन्द्र वृन्दारका-विष्णु-विधि बंद्य चरणारविंदं।'* (वि० १२) *'चंदार्क ब्रह्मेन्द्र बरुनाग्नि बसु मरुत जमर्च्य भवदंघ्रि सर्वाधिकारी।'* (वि० १०)

२ (क) 'अखंड' का भाव कि सब आप ही हैं एवं पूर्ण हैं। यथा—*'ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता।'* (७२। ४) *'अनवद्य अखंड न गोचर गो।'* (६। ११०। छंद), *'उमा एक अखंड रघुराई।'* (६। ६०। १८), *'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता।'* (३। १३। १२) पुन: 'अखंड' का भाव कि सब घटोंमें परिपूर्ण हैं, आप पूर्ण हैं, पूर्णसे पूर्ण निकले और पूर्ण फैले। *'पूरनसे पूरन निसारि कै पूरन ही फैलाया। ताते सब घटमें पूरन।'* 'एकपाद विभूतिसे अनन्त ब्रह्माण्ड रचकर और उनमें भी आप रहकर छोटे-से-छोटे, चींटीसे ब्रह्मापर्यन्त परिपूर्ण चौदहों भुवनोंमें व्याप्त होकर भी जो पूर्ण उबरा (रा० प्र०)। इसमें ईशावास्योपनिषद्‌के शान्तिपाठ **'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।'** का भाव है। (अर्थात्) वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म परमेश्वर सब प्रकारसे सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह (जगत्) भी (उस परब्रह्मसे) पूर्ण है (क्योंकि) यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तमसे ही उत्पन्न हुआ है। पूर्णसे पूर्णको निकाल लेनेपर भी पूर्ण ही बच रहता है। (ख) अज अर्थात् आपका जन्म जीवोंकी तरह कर्मवश नहीं हुआ। आपका जन्म दिव्य है। आप अजन्मा हैं। विनयमें भी कहा है—*'अकल निरुपाधि निर्गुन निरंजन जन्मकर्मपथमेकमज निर्विकारं।'* (वि० १०) (ग) *'भानु कोटि प्रकाशं'*, यथा—*'तरुन रबिकोटि तनु तेज भ्राजै।'* (वि० १०) [*'भानुकोटि प्रकाशं'* का भाव कि आपके ध्यानमात्रसे महामोहरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है (वै०)। (घ) *'त्रयः शूल……'* इति। शूल बहुत प्रकारके होते हैं। यथा—*'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥……बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥'* (१२१। २९—३२) इन समस्त शूलोंका जड़से नाश कर देते हैं। यथा—*'सोक सूल निर्मूलिनं सूलिनं।'* (वि० १२) शूलपाणिका भाव कि इसीलिये आप त्रिशूलधारी हैं (करु०)।

☞**'त्रयः शूल'** पाठमें अनेक प्रकारके समस्त शूल आ जाते हैं। त्रिधा शूल पाठमें केवल तीन

प्रकारके शूलोंका ग्रहण है अतः *'त्रयः शूल'* पाठ ही समीचीन है। *'शूल निर्मूलनं'* कहकर शूलपाणि कहनेका भाव कि इसीलिये आप त्रिशूल धारण किये रहते हैं।

रा० प्र०—'भवानीपति' का भाव कि जिसने भव-(संसार-) को प्रकट किया है वह प्रधान शक्ति आपकी ही है। (भाव कि *'भव भव बिभव पराभवकारिनि। बिस्वबिमोहनि स्वबस बिहारिनि॥'* जो भवानी हैं वे आपकी शक्ति हैं।)

नोट—३ 'भावगम्य' कहकर यह भी जनाया कि 'भाव आपको प्रिय है' भाव देखकर आप कृपा करके प्राप्त हो जाते हैं। कलातीत=अकल। (बा० १। ५०) *'ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।'* (१। २०५) *'अकल अगुन अज अनघ अनामय।'* (६। १०९। ६) में देखिये। यथा—*'कलातीतमजरं हरं।'* (वि० १२), *'सकल कला गुन धाम।'* (१। १०७) कल्पान्तकारी अर्थात् प्रलयके करनेवाले हैं। यथा—*'सकल लोकांत कल्पांत सूलाग्रकृतदिग्गजाव्यक्तगुन नृत्यकारी।'* (वि० ११) *'महाकल्पांत ब्रह्मांडमंडल दवन।'* (वि० १०) शूलिनं कहकर कल्पान्तकारी कहनेसे सिद्ध हुआ कि इसीसे कल्पान्त करके दिग्गजोंको इसके अग्रभागपर लेकर नृत्य करते हैं। कल्पान्तसे भी जीवोंका कल्याण होता है। जीव उतने कालतक विश्राम पा जाते हैं। इसीसे कल्याण और कल्पान्त दोनोंको साथ कहा।

२ (क) *'सज्जनानंददाता'* कहकर *'पुरारी'* कहनेका भाव कि सज्जनोंके आनन्दहेतु त्रिपुरको आपने मारा। (ख) चिदानंदसंदोह अर्थात् चित् जो ब्रह्म उसके आनन्दके संदोह हो। चिदानंदसंदोह होनेसे मोहके नाशक हो। [*'चिदानंद संदोह'*, यथा—*'चिदानंद सुखधाम सिव।'* (१। ७५) *'सच्चिदानंदकंदं।'* (वि० १२), *'चिदानंदसंदोह राम बिकल कारन कवन।'* (७। ६८), *'कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंदसंदोह।'* (७७), *'जानेउ राम प्रताप प्रभु चिदानंदसंदोह।'* (५२) में देखिये।] *'मन्मथारी'* का भाव कि अपराध देखकर दण्ड देकर फिर आप कृपा करनेवाले हैं, कामदेवको भस्मकर फिर उसपर बड़ी कृपा की थी। वैसे ही इसने बड़ा भारी अपराध किया अब इसपर कृपा कीजिये।

खर्रा—'**प्रचंडं प्रकर्षेण समर्थम्। प्रकृष्टं महत्तरम्। प्रगल्भं समर्थम्। भवानीपतिं भव कल्याणम् आनयितुं शीलं अस्याः सा तस्याः स्वामिनम् अन्यथा भवस्य पत्नी तस्याः पतिः द्वितीयपुंयोगः कविभिर्नादृश्यते पुनः। हे कल्याण कल्पान्तकारिन्। त्वं सदा सज्जनानां आनन्ददाता असि।**'

न यावदुमानाथ पादारविंदं। भजंतीह लोके परे वा नराणां॥
न तावत्सुखं शांति संतापनाशं। प्रसीद प्रभो सर्वभूताधिवासं॥
न जानामि योगं जपं नैव पूजां। नतोहं सदा सर्वदा शंभु तुभ्यं॥
जरा जन्म दुःखौघतातप्यमानं। प्रभो पाहि आपन्नमामीश शंभो॥

शब्दार्थ—**भूताधिवासं**=भूतोंके निवासस्थान तथा भूतोंमें निवास करनेवाले। **भजंतीह**=भजन्ति इह। **इहलोके**=इस लोकमें। **सर्वदा**=सब कुछ देनेवाले (रा० प्र०)।=सदैव। 'सदा-सर्वदा' जोर देनेके लिये 'सदैव' अर्थमें प्रयुक्त होता है। **आपन्न**=शरणमें प्राप्त।

अर्थ—हे उमापति! जबतक आपके चरणकमलोंको (मनुष्य) नहीं भजते, तबतक मनुष्योंको इस लोकमें वा परलोकमें सुख और शान्ति नहीं प्राप्त होती और न संतापका नाश हो सकता है। हे सब जीवोंमें निवास करनेवाले तथा सब प्राणियोंके निवासस्थान प्रभो! प्रसन्न हूजिये। न तो मैं योग जानता हूँ, न जप और न पूजा ही। हे सब कुछ देनेवाले, कल्याणके उत्पत्ति-स्थान, शम्भो! मैं आपको सदा प्रणाम करता हूँ। हे प्रभो! बुढ़ापा, जन्म-(मरण-) के दुःखसमूहसे जलते हुए मुझ दुःखीकी दुःखसे रक्षा कीजिये। हे समर्थ शम्भो! मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

पं० रा० व० श०—१ (क) *'संतापनाशं'*, *'भूताधिवासं'*—यहाँ संस्कृतके अनुसार '**नाशः वासः**' होना चाहिये सो न रखकर इनको नपुंसक लिंग *'नाशं वासं'* रखनेमें क्या भाव है? ऊपर सबमें द्वितीयान्त

पद लगा है, यहाँ नहीं? कारण यह है कि गोस्वामीजीने संस्कृत और हिन्दीभाषा मिलाकर स्तुति की है, केवल संस्कृत नहीं है, संस्कृत-सम्बद्ध भाषा है। यह स्तुति भाषाहीकी कही जायगी। इससे संस्कृत-व्याकरण यहाँ नहीं प्रयुक्त होगी। संस्कृत-सम्बद्ध भाषा होनेसे ही *'शंभु तुभ्य'* कहा।* (ख) *'भूताधिवासं'* का भाव कि सबमें वास होनेसे आप सबके हृदयके प्रेरक हैं, आपका वास हृदयमें होते हुए भी जीव दुखारी हैं—*'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'* अतः आप कृपा करें जिससे दुःख दूर हो [सर्वभूताधिवासं=सब भूतोंके अधिपति और सबमें बसे हुए। (करु०)=सबके अधिष्ठान और निवासस्थान। (पं०)=सब भूतोंमें कूटस्थ साक्षी। (रा० प्र०)] (ग) *'न जानामि योगं……।'* अर्थात् इनका बल-भरोसा किंचित् नहीं है जिससे आपपर कुछ जोर हो, हम तो केवल यही जानते हैं कि हम आपकी शरण हैं, आपको नमस्कारभर करते हैं। [भाव कि मैं ज्ञान, कर्म और उपासना जो तीन रीति आपको रिझानेकी हैं उनसे रहित हूँ पर मैं आपको दीनतापूर्वक नम्र होकर सदा प्रणाम करता हूँ; क्योंकि आपको *'सो प्रिय जाके गति न आन की।'* (रा० प्र०)] ☞ एकमात्र जब शरणका भरोसा होता है तब भगवान् कृपा ही करते हैं। (घ) **तातप्यमानं**=अतिशयेन पुनः पुनः तप्यमानं। ☞ परब्रह्मस्वरूपसे यहाँ शिवजीका वर्णन है। सिद्धान्त है कि स्तुति जब कोई करता है तब वह ब्रह्मस्वरूपकी ही करता है। 'प्रभो' से समर्थ जनाया।

खर्रा—**शान्तिश्च सन्तापनाशश्च अनयोः समाहारः द्वन्द्वः, अतः हे प्रभो! प्रसीद। सर्वभूताधिवासं सर्वभूतानाम् अधिष्ठानं त्वां नमामि इति पूर्वसम्बन्धः। न योगं जानामि……अतः अहं तुभ्यं सदा सर्वदा नतोऽस्मि। जराजन्मदुःखौघैः अतिशयेन तप्यमानं पायात् पाहि। हे ईश! हे शम्भो! प्रभो! त्वां नमामि।**

नोट—इस अष्टकमें भगवान् शङ्करके निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूप दिखाये हैं। प्रथम दो छन्दोंमें निर्गुण स्वरूप वर्णित है। तीसरे-चौथेमें सगुणस्वरूपका वर्णन है। पाँचवें-छठेमें निर्गुण-सगुणमिश्रित स्वरूप तथा चरित्रका वर्णन है और सातवें-आठवेंमें प्रसन्न होने, दुःख हरने एवं रक्षाकी प्रार्थना है। निर्गुण-स्वरूपके विशेषण वैसे ही हैं जैसे श्रीरामजीके। वेष अवतारके अनुकूल है। भगवान् रामजी और शङ्करजीके विशेषण मिलान किये जा सकते हैं। ग्रन्थविस्तारके भयसे नहीं छपाये जाते।† स्तुतिमें *'स्फुरन्मौलि कल्लोलिनी चारु गङ्गा'* कहकर आपकी रामभक्ति दिखायी जो वे भुशुण्डिजीसे कहा करते थे—*'रामहि भजहिं तात सिव धाता।'* यथा—*'मकरंद जिन्ह को संभु सिर', 'जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी'*—(बा० २११) (प्र० सं०)।

श्लोक—रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं विप्रेण हरतोषये‡।
ये* पठंति नरा भक्त्यातेषां शंभुः प्रसीदति॥

अर्थ—रुद्रभगवान्‌का यह अष्टक (आठ वृत्तोंमें किया हुआ स्तव) ब्राह्मणद्वारा हरके प्रसन्न करनेके लिये कहा गया। जो मनुष्य इसे भक्तिपूर्वक पढ़ते हैं उनपर शम्भुजी प्रसन्न होते हैं।

☞ शिवजीकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये यह स्तुति की गयी और वे प्रसन्न हुए, इसीसे कवि शिवजीकी प्रसन्नताके लिये इसका भक्तिपूर्वक पाठ करना बतलाते हैं।

---

* इस सम्बन्धमें पूर्व पं० विजयानन्द त्रिपाठीके टिप्पण आ चुके हैं। प्राकृतका प्रयोग गोस्वामीजीने किया है न कि संस्कृतका।

† पूर्व कहीं दोनोंके विशेषणोंका मिलान दिया गया है।

‡ पं० रा० व० श०—'तुष्टये' की जगह यहाँ तोषये है। 'तोष' से तोषाय होता और तुष्टिसे तुष्टये। यह अशुद्ध न समझना चाहिये। इसे संस्कृतका श्लोक न समझकर एक प्रकारका भाषाका ही छन्द समझना चाहिये। यद्यपि मानसी वंदन पाठकजीने किसी व्याकरणका प्रमाण देकर 'तोषये' हीको शुद्ध सिद्ध किया है।

★ जे—(भा० दा०)। ये—(का०)। यह अनुष्टुप्‌वृत्तका श्लोक है।

दो०—सुनि बिनती सर्बग्य सिव देखि बिप्र अनुरागु।
पुनि मंदिर नभ बानी भइ द्विजबर* बर मागु॥
जौं प्रसन्न प्रभु मोपर नाथ दीन पर नेहु।
निज पद भगति† देइ प्रभु पुनि दूसर बर देहु॥ १०८ (क)॥

अर्थ—सर्वज्ञ श्रीशिवजीने विनय सुनकर और (अपने चरणोंमें) ब्राह्मणका प्रेम देखकर मन्दिरमें पुनः आकाशवाणी हुई कि—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! वर माँग। (विप्रवर बोले—) हे प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और हे नाथ! यदि आपका (मुझ) दीनपर प्रेम है तो, हे प्रभो! प्रथम तो अपने चरणोंकी भक्ति देकर फिर दूसरा वर (और भी) दीजिये॥ १०८ (क)॥

पं० रा० व० श०—*'देखि बिप्र अनुरागु।' 'बिनय करत गदगद गिरा' 'करि दंडवत……'* और *'न जानामि योगं……नतोहं'* इत्यादि अनुराग देख रहे हैं। विप्रका अनुराग मन-वचन-कर्मसे इस स्तुतिमें दिखाया। *'करि दंडवत'* कर्म, 'सप्रेम' मन और *'गदगद गिरा'* यह वचन है।

नोट—*'पुनि मंदिर नभ बानी भइ'* का भाव कि एक बार पहले भी नभवाणी हुई थी जो भुशुण्डिजीको शाप देनेके लिये थी। यथा—*'मंदिर माँझ भई नभ बानी॥'* (१०७। १) अब दूसरी बार फिर हुई।

रा० प्र०—*'नभ बानी।'* जो थिर वायुमण्डलमें चरवायु आघात लगनेसे प्रायः प्रभु-इच्छासे वाणी प्रकट होती है। शब्दगुण आकाशका है इसीसे आकाशवाणी कहलाती है।'—[देववाणी जो अन्तरिक्षसे होती है जिसमें देवता या कहनेवाला आकाशमें अदृश्य रहता है। उसे आकाशवाणी कहते हैं। विशेष १०७ (१) में देखिये]

वै०—*'जौं प्रसन्न……।'* भाव कि मुझपर प्रसन्न हों तो अपनी भक्ति दीजिये और जो अपना दास जानकर मुझ दीनपर स्नेह करते हों तो फिर दूसरा वर यह भी दीजिये।—[मिलान कीजिये।—*'जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥……'* (८४ (७)—८४) देखिये।

रा० प्र०—*'निज पद भगति देइ……।'* ☞ बुद्धिमान्‌के हृदयमें सबसे पहली यही अभिलाषा होनी चाहिये कि भक्ति हो। इसीलिये विप्रने पहले भक्ति माँगी। यह विप्रकी उपासनामें सावधानता दिखायी।

दो०—तव मायाबस जीव जड़ संतत फिरै भुलान।
तेहि पर क्रोध न करिय प्रभु कृपासिंधु भगवान॥
संकर दीनदयाल अब एहि पर होहु कृपाल।
साप अनुग्रह होइ जेहिं नाथ थोरेहीं काल॥ १०८ (ख)॥

अर्थ—आपकी मायाके वश जीव जड़ होकर निरन्तर भूला-भटका फिरता है। हे प्रभो! हे दयासागर! हे भगवन्! उस जड़-जीवपर क्रोध न कीजिये। हे कल्याणके करनेवाले, दीनोंपर दया करनेवाले, शङ्करजी! अब इसपर दयालु हूजिये, जिससे हे नाथ! थोड़े ही समयमें इसका शाप अनुग्रह हो जाय॥ १०८ (ख)॥

नोट—१ *'तव मायाबस।'* ऐसा ही श्रीहनुमान्‌जी और वेदोंने श्रीरामजीसे कहा है; यथा—*'तव माया बस फिरौं भुलाना॥'* (४। २। ९) *'तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अगजग हरे। भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥'* (१३ छंद २) वही भाव यहाँ हैं। २—*'तेहि पर क्रोध न करिय'* का भाव कि वे तो अज्ञ हैं, कुछ भला-बुरा समझते ही नहीं, वे तो दयाके पात्र हैं न कि क्रोधके और आप प्रभु हैं, दयासागर हैं, भगवान् हैं, आप जीवका दुःख मेट सकते हैं, जीवपर दया करनेवाले हैं। शङ्कर, दीनदयाल इत्यादिके भाव बहुत बार आ चुके हैं। 'प्रभु' 'कृपासिंधु' और 'भगवान्'

* 'मंदिर नभ बानी भई द्विजबर अब'।—(का०)
† 'पदपद्मभक्ति दृढ़'।—(का०)।

'दीनदयाल'—ये सब साभिप्राय हैं। समर्थ ही शापानुग्रह कर सकता है, दयासागर ही दया और क्षमा कर सकता है, भगवान् ही मायाका निवारणकर अकर्तुको कर सकते हैं तथा दीनोंको ऐश्वर्य-सम्पन्न कर सकते हैं। प्रथम दोहेमें परिकराङ्कुर अलंकार है।

पं० रा० व० श०—*'क्रोध न करिय प्रभु'''''''काल।'* इति।—यह सेवकका धर्म नहीं है कि स्वामीकी आज्ञाको सर्वथा मेट दे, इसीसे कहते हैं कि आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, ऐसा कीजिये कि शाप भी रहे और इसका कल्याण भी थोड़े ही दिनोंमें हो जाय। अयुतजन्म न जाने कितने कालमें हों, न जाने कबतक रौरव नरकमें पड़ा रहेगा।

वीर—इस प्रकरणमें शिवजीके कोपरूप भावकी शान्ति विप्रानुरागरूपी रति-भावके अङ्गसे हुई है। यह समाहित अलंकार है।

एहि कर होइ परम कल्याना। सोइ करहु अब कृपानिधाना॥ १॥
बिप्र गिरा सुनि परहित सानी। एवमस्तु इति भइ नभबानी॥ २॥
जदपि कीन्ह एहि दारुन पापा। मैं पुनि दीन्हि कोप करि सापा॥ ३॥
तदपि तुम्हारि साधुता देखी। करिहौं एहि पर कृपा बिसेषी॥ ४॥

अर्थ—हे दयानिधान! अब वही कीजिये जिससे इसका परम कल्याण हो॥ १॥ परोपकारमें सनी हुई ब्राह्मणकी वाणी सुनकर 'ऐसा ही हो' यह आकाशवाणी हुई॥ २॥ यद्यपि इसने बड़ा घोर पाप किया है और मैंने इसे क्रोध करके शाप भी दिया है तो भी तुम्हारी साधुता देखकर इसपर विशेष कृपा करूँगा॥ ३-४॥

नोट—१ *'होइ परम कल्याना।'* शापानुग्रह होना कल्याण है और भगवत्-चरणोंमें अनुराग हो जाय यह परम कल्याण है। जिसमें फिर यह हरि और हरिजनसे द्रोह न करे, अपना स्वरूप जाने, संसारसे छूटे और भगवान्‌को प्राप्त हो। [शाप छूटनेके अनन्तर जो परमशक्ति और परमगति होनी है उसके सम्बन्धसे 'परम कल्याण' कहा (पं०)। 'परम' का भाव कि जिसमें पुनः विघ्न न होवे। (रा० प्र०)]

२ (क) *'परहित सानी'* कहा; क्योंकि शिवजीके सामने गुरुका अपमान किया तब भी गुरुने केवल उसीके उद्धारके लिये यह स्तुति की, अपने लिये नहीं, दण्डके बजाय उसके लिये क्षमाकी प्रार्थना करते हैं। (ख)—*'एवमस्तु'* से दृढ़ भक्तिका वरदान भी हो गया जो विप्रने माँगा था।

३ (क) *'दारुन पाप'*—गुरु-अपमान अति कठिन पाप है; इसका फल शिवजी ऊपर कह आये हैं। गुरुका अपमान तो अनेक बार किया पर इस बार शिवजीके सामने किया, यह उस पापकी दारुणताको और बढ़ानेवाला हो गया। सामने हुआ इससे वे न सह सके, इसीसे क्रोध आया, क्रोध होनेसे शाप हुआ।—क्रमसे कहा। (ख) *'तदपि तुम्हारि साधुता देखी'''''''* —भाव कि इसके आचरण तो कृपाके योग्य नहीं हैं पर तुम्हारी साधुतापर मैं प्रसन्न हूँ इससे तुम्हारा कहा करूँगा। *'संत असंतन्ह कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥ काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥'* यह 'संतगुण' है। इसका यहाँ चरितार्थ है।—'साधुता' देखी। (ग)—*'कृपा बिसेषी'* अर्थात् जितनी सिफारिश तुमने की उससे भी अधिक। [जिसमें क्रोध भी कृपाका फल देगा।]

छमासील जे पर-उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी॥ ५॥
मोर साप द्विज ब्यर्थ न जाइहि। जन्म सहस्र अवसि यह पाइहि* ॥ ६॥
जनमत मरत दुसह दुख होई। एहि स्वल्पौ नहिं ब्यापिहि सोई॥ ७॥
कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ग्याना। सुनहि सूद्र मम बचन प्रबाना॥ ८॥

* सहस्र अवसि यह पाई—का०, रा० गु० द्वि०। सहस अवस्य यह पाइहि—भा० दा०।

शब्दार्थ—'**बचन प्रबान**'=सत्य वचन, यथा—'***नाइ रामपद कमल सिर बोले बचन प्रमान***' (बा० २५२), '***अति सरोष माषे लषन लखि सुनि सपथ प्रबान। सभय लोक सब*** ......' (अ० २३०), '***बरष चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रबान।***' (अ० ५३)

अर्थ—हे द्विज! जो क्षमाशील और पराया हित करनेवाले हैं वे मुझे खरारि श्रीरामचन्द्रजीके समान प्रिय हैं॥ ५॥ हे द्विज! मेरा शाप व्यर्थ न जायगा, यह अवश्य सहस्र जन्म पायेगा॥ ६॥ जन्मते-मरते दुःसह दुःख होता है वह इसे कुछ भी न व्यापेगा॥ ७॥ किसी जन्ममें ज्ञान न मिटेगा। हे शूद्र! मेरा प्रमाण (कभी असत्य न होनेवाला) वचन सुन॥ ८॥

नोट—१ (क) '***छमासील जे पर उपकारी***' यह संतका सहज स्वभाव है। ये मुझे खरारि श्रीरघुनाथजीके समान प्रिय हैं। इस कथनसे जनाया कि संत-भगवंतमें किञ्चित् अन्तर नहीं है, संत भगवान्‌के ही रूप हैं। क्षमाशील अर्थात् जिनका स्वभाव क्षमामय है, जो कभी भी क्षमाका परित्याग नहीं करते। (ख) '***पर उपकारी***' में भाव यह है कि पर-(=शत्रु-) का भी उपकार ही करते हैं (रा० प्र०)। '***प्रिय जथा खरारी***' का भाव कि मैं उनका कहा टाल नहीं सकता। यथा—'***नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥***' (१। ७७। १) '***आज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी॥***' (१। ७७। ४) पुनः '***जथा खरारी***' अर्थात् सेवक-स्वामि-सखा सभी भावसे प्रिय हैं। यथा—'***सेवक स्वामि सखा सिय पी के।***' (रा० प्र०)। क्षमाशीलता श्रीरघुनाथजीके समान किसीमें नहीं है, यथा—'***छमि अपराध छमाइ पाँय परि इतौ न अनत समाउ॥***' (वि० १००), '***कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥***' (५। ४४। १) अतः खरारी समान कहा। (रा० शं० श०)। सेवकोंको स्वामी-जैसा प्रिय कहनेमें यहाँ प्रेममात्रमें समता है अथवा दोनोंमें अभेदभावसे ऐसा कहा। (पं०)।

रा० बा० दा०—'***जथा खरारी***' इति। ब्राह्मण रामरूप है। यथा—'***मम मूरति महिदेवमई है***' (वि०)। अतः राम-सम कहा। दोनोंका मिलान—

विप्र (गुरु)		श्रीरामजी
'***गुरु कर द्रोह करौं दिन राती***' तब भी '***अति दयाल गुरु स्वल्प न क्रोधा***' —ऐसे क्षमाशील।	१	'***भृगुपति बकहिं कुठार उठाये***' तब भी '***मन मुसुकाहिं राम सिर नाये***'—यह क्षमा।
उठकर प्रणाम न किया तो भी '***सो दयालु कछु कहेउ नहिं उर न रोष लवलेस***' —यह शील।	२	'***गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥ 'सील सराहि सभा सब सोची।***'
पर उपकारी है, शापानुग्रहके लिये स्तुति की।	३	श्रीरामजीने खरादिको मारकर सुर-द्विज-मुनि आदिका उपकार किया।

पं० रा० व० श०—१ '***मोर साप द्विज ब्यर्थ न जाइहि***' इति। '**रक्षण हि प्रतिज्ञायाः**' वचनकी रक्षा करना यह सत्पुरुषोंका लक्षण है; पुनः, ईश्वरों तथा देवताओंके वचन व्यर्थ नहीं होते, यथा—'***मुधा बचन नहिं ईश्वर कहई***' '***संभु गिरा पुनि मृषा न होई॥***' (१। ५१। ३) अतः कहा कि शाप सर्वथा व्यर्थ न होगा, केवल उसके भोगमें सुलभता कर देंगे। २—'***जन्म सहस्र अवसि यह पाइहि।***' भाव कि रौरव नरकमें न पड़ेगा, अयुत जन्मके बदले केवल एक सहस्र जन्म होंगे, यह अनुग्रह हम किये देते हैं। उसमें भी यह और अनुग्रह कि जन्म-मरण-समय जो दुस्सह क्लेश होता है वह इसे किञ्चित् न होगा। ज्ञान जाता रहता है वह न जायगा, इत्यादि।

नोट—२ विनय पद १३६ में भी कहा है कि जन्मके समयमें अत्यन्त वेदनाके कारण ज्ञान जाता रहता है। यथा—'***आगे अनेक समूह संसृति उदरगति जान्यो सोऊ। सिर हेठ ऊपर चरन संकट बात नहिं पूछै कोऊ॥ सोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावत सोवही। कोमल सरीर गँभीर बेदन सीस धुनि-धुनि रोवही।***'—'***प्रग्यो जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना त सह्यो। सो ज्ञान ध्यान बिराग अनुभव जातना पावक दह्यो। अति खेद ब्याकुल अल्पबल छिन एक बोलि न आवई। तव तीव्र कष्ट न जान कोउ सब लोग हर्षित गावई॥***'

पं० रा० व० श०—'*जनमत मरत दुसह दुख होई।*' माताका छिद्र जिससे बालक निकलता है अत्यन्त छोटा होता है और बालक बड़ा। उस छिद्रसे निकलनेका कष्ट ऐसा कहा गया है कि जैसे सुनार चाँदी-सोनेका तार छेदमें डाल-डालकर पतला करता है वैसे ही छिद्रसे यह निकाला जाता है। मरते समय भी बड़ा कष्ट होता है। १००० बिच्छूके एक साथ डंक मारनेसे जैसा कष्ट हो अथवा जैसे शरीरका चमड़ा उधेड़नेमें कष्ट हो। कारण कि शरीरमें उदान, व्यान, समान, प्राण और अपान—ये पञ्चप्राण रहते हैं, मरते समय इन पञ्च प्राणोंको एकमें मिलाकर बाहर निकालना होता है। ऊर्ध्वश्वास वस्तुतः इन पञ्चप्राणोंको एकमें मिलाता है। सबको मिलाकर एक झिटकेसे सबको एकदम शरीरसे निकाल लिया जाता है।

नोट—३ जन्मके समयके दुःख कपिलभगवान्‌ने मातासे (भा० ३। ३१। १—२३ में) विस्तारपूर्वक कहे हैं। संक्षिप्तरूपसे वह यहाँ दिये जाते हैं—

जीव पूर्वकृत कर्मके कारण शरीर-धारणके लिये पुरुषके बीजका आश्रय करके स्त्रीके गर्भमें प्रवेश करता है। जब छः मासका होता है तब जरायु नामक झिल्लीसे आवृत होकर माताकी कोखमें दाहिनी ओर घूमने लगता है। इसी समयसे माताके खाये हुए अन्नपानादिसे उसकी सम्पूर्ण धातुएँ बढ़ने लगती हैं। इस दशामें इच्छा न होनेपर भी उसको उस विष्ठा-मल-मूत्रसे परिपूर्ण माताके गर्भरूप गढ़ेमें शयन करके रहना पड़ता है। गर्भमें गर्भस्थित क्षुधित कीड़े उसके कोमलाङ्गोंमें क्षण-क्षण काटकर घाव कर देते हैं। उस क्लेशसे इसे बार-बार मूर्च्छा आ जाती है। माताके खाये हुए कड़वे, तीखे, गर्म, लवण, खारी, खट्टे आदि भोजनके असह्य रसके स्पर्शसे इसके सब अङ्गोंमें व्यथा उठती है।......जैसे छोटे पिंजड़ेमें पक्षी हो वैसे ही यह अपने अङ्गको हिला-डुला नहीं सकता। गर्भमें इसे अपने पूर्वकर्मोंकी याद आती है तब अनुच्छ्वासप्राय होकर यह अपने सैकड़ों-हजारों जन्मोंके दुरन्त पापोंका स्मरणकर किसी प्रकार चैन नहीं पाता। फिर ज्ञानोदय होनेपर सातवें महीनेका आरम्भ होते ही प्रसूतिवायुके वेगसे विष्ठाके कीड़ेके तुल्य यह जीव एक स्थानपर स्थिर नहीं रहने पाता। उस अवस्थामें पवित्र भावका उदय होनेसे गर्भयन्त्रणाका स्मरणकर यह देहात्मदर्शी जीव दीनभावसे व्याकुलतापूर्वक अञ्जलिबद्ध होकर ईश्वरकी स्तुति करता है, जिसने इसे गर्भमें भेजकर सप्तधातुमय शरीर दिया है।—(यहाँ श्लोक १२ से २१ तक स्तुति है। उसमें गर्भवासका कष्ट भी कहा है कि मेरा यह कर्मानुगत शरीर माताके रुधिर, विष्ठा और मूत्र-कूपस्वरूप गर्भविवरमें पड़ा हुआ है, मैं जठरानलसे अत्यन्त संतापको प्राप्त हो रहा हूँ, कृपा करके इस नरकसे मुझे निकालिये।) स्तुति करनेपर इसी समय प्रसूतिका वायु उसको मुख नीचे करके गर्भके बाहर फेंकता है। वायुके वेगसे आतुर वह नीचे सिर किये हुए बड़े कष्टसे बाहर निकलता है। इस वेदनासे उसका गर्भमें मिला हुआ ज्ञान पुनः नष्ट हो जाता है। इत्यादि।

इसी प्रकार मरणकालका दुःख (भा० ३। ३०। १६ में) उन्होंने यों कहा है कि मृत्युकाल उपस्थित होनेपर ऊर्ध्वश्वासके वेगसे नेत्र बाहर निकल आते हैं, पुतली ऊपर चढ़ जाती है एवं वायुके आने-जानेका मार्ग जो नाड़ियाँ हैं सो कफसे रुँध जाती हैं जिससे साँस लेनेमें कष्ट होता है और गलेमें घुरघुराहट होने लगती है। जब इस प्रकार वह मृत्यु-शय्यापर शयन करता है तब उसके शोकयुक्त बन्धु चारों ओर उसकी शय्या घेरकर बैठते हैं और बार-बार उसे बोलकारते हैं पर वह कालवशवर्ती होनेसे बोल नहीं सकता। वह मृतप्राय अजितेन्द्रिय व्यक्ति रोते हुए स्वजनोंके आर्त्तनादसे बड़ी व्यथाको प्राप्त होता है और अन्तमें ज्ञानशून्य होकर प्राणत्याग करता है। यमदूतोंको देखकर भयके मारे एक साथ मल-मूत्र उस प्राणीके निकल पड़ते हैं।.........फिर नरक-भोगके उपरान्त कुत्ता, शूकरादिकी निकृष्ट योनियोंमें जितने प्रकारकी यातनाएँ हो सकती हैं उनको वह क्रमशः भोगता है। पाप क्षीण होनेपर मनुष्ययोनि पाता है। (३४)

पद्मपु० भूमि० में मातलिने ययातिके पूछनेपर बताया है कि 'जिस प्रकार किसीको लोहेके घड़ेमें बंद करके आगसे पकाया जाय उसी प्रकार गर्भरूप कुम्भमें डाला हुआ जीव जठराग्निसे पकाया जाता है। आगमें तपाकर लाल-लाल की हुई बहुत-सी सुइयोंसे निरन्तर शरीरको छेदनेपर जितना दुःख होता है उससे अठगुना अधिक कष्ट गर्भमें होता है। गर्भवाससे बढ़कर कष्ट कहीं नहीं होता।.........

जीवको जन्मके समय गर्भवासकी अपेक्षा करोड़गुनी अधिक पीड़ा होती है। जन्म लेते समय वह मूर्च्छित हो जाता है। जन्मके पूर्व गर्भमें जो विवेकबुद्धि प्राप्त होती है, वह उसके अज्ञान-दोषसे या नाना प्रकारके कर्मोंकी प्रेरणासे जन्म लेनेके पश्चात् नष्ट हो जाती है। योनि-यन्त्रसे पीड़ित होनेपर जब वह दुःखसे मूर्च्छित हो जाता है और बाहर निकलकर बाहरी हवाके सम्पर्कमें आता है, उस समय उसके चित्तपर महान् मोह छा जाता है।……। यथा—'**एवमेतन्महाकष्टं जन्मदुःखं प्रकीर्तितम्। पुंसामज्ञानदोषेण नानाकर्मवशेन च॥ गर्भस्थस्य मतिर्याऽऽसीत् संजातस्य प्रणश्यति। सम्मूर्च्छितस्य दुःखेन योनियन्त्रप्रपीडनात्॥ बाह्येन वायुना तस्य मोहसङ्गेन देहिनाम्।——महामोहः प्रजायते। सम्मूढस्य स्मृतिभ्रंशः शीघ्रं सञ्जायते पुनः॥**' (६६। १४—१७)

'मृत्युके समय जब शरीरके मर्मस्थानोंका उच्छेद होने लगता है और जीवपर महान् मोह छा जाता है, उस समय उसको जो दुःख होता है, उसकी कहीं भी तुलना नहीं है।………' (अ० ६६)।

४—'*मिटिहि नहिं ज्ञाना*'—भाव कि गर्भमें प्रभुकी कृपासे जो ज्ञान प्राप्त होता है वह जन्मते समय कष्टके कारण अथवा पूर्वजन्मोंके अज्ञानाध्यासके कारण नष्ट हो जाता है, वह नष्ट न होगा। पूर्वजन्मों और उनके कर्मोंके फलोंका ज्ञान बराबर रहेगा। तथा आगे जो जन्म होंगे उनका भी ज्ञान रहेगा और यह भी ज्ञान रहेगा कि संसार नाशवान् है तथा इस शरीरमें जो कुछ हुआ वह भी स्मरण रहेगा।

५—'*सुनहिं सूद्र*—' इति। '*एवमस्तु इति भइ नभबानी।*' (१०९। २) से '*एहि स्वल्पौ नहिं ब्यापिहि सोई।*' (७) तक विप्रदेवसे कहे हुए वचन हैं। '*कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ज्ञाना।—मम बचन प्रबाना*' ये तथा आगेके वचन भुशुण्डिप्रति हैं। इनको सम्बोधन करके कहे गये हैं। ऊपर जो कहा था '*करिहउँ एहि पर कृपा बिसेषी*' वह विशेष कृपा सम्बोधनसे ही प्रकट हो रही है। भुशुण्डिजी थर-थर काँप रहे हैं, उनका त्रास मिटे और वे प्रसन्न हों इस विचारसे उनको सम्बोधन किया और '*मम बचन प्रबाना*' कहा।

६—'*बचन प्रबाना।*' प्रबाना=प्रमाण, सत्य। यथा '*तीनि जनम द्विज बचन प्रबाना।*' (१। १२३। १), '*कहा जो प्रभु प्रबान पुनि सोई।*' (१। १५०। ७) '*मैं पुनि करि प्रबान पितु बानी।*' (२। ६२। १), '*करहु तात पितु बचन प्रबाना।*' (२। १७४। ४), '*कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रबाना।*' (२। २९२। ३), '*सुनु सठ अस प्रबान पन मोरा।*' (५। १०। ४) इत्यादि।

रघुपति पुरी जन्म तव भयऊ। पुनि तें मम सेवा मन दएऊ॥ ९॥
पुरी प्रभाउ अनुग्रह मोरे। राम भगति उपजिहि उर तोरे॥ १०॥
सुनु मम बचन सत्य अब* भाई। हरितोषन ब्रत द्विज सेवकाई॥ ११॥
अब जनि करहि बिप्र अपमाना। जानेसु संत अनंत समाना॥ १२॥

अर्थ—(एक तो) श्रीरघुनाथजीकी पुरीमें तेरा जन्म हुआ। फिर तूने मेरी सेवामें मन लगाया॥ ९॥ पुरीके प्रभाव और मेरी कृपासे तेरे हृदयमें रामभक्ति उत्पन्न होगी॥ १०॥ हे भाई! अब मेरा सत्य वचन सुन—द्विजसेवा ही भगवान्‌के प्रसन्न करनेका व्रत है॥ ११॥ अब विप्रका अपमान मत करना। संतको भगवान्‌के समान जानना॥ १२॥

नोट—१ '*पुरी प्रभाउ अनुग्रह मोरे।* ………' इति। (क) '*सुनहिं सूद्र मम बचन प्रबाना*' जो ऊपर कहा वह सत्य वचन अब कहते हैं। पुरीप्रभाव और अनुग्रहसे भक्ति उपजेगी, इस कथनका भाव कि पुरीमें जन्म होनेसे मानों सुक्षेत्रमें बीज पड़कर जमा और हमारा अनुग्रहरूपी जल पाकर परिपूर्ण श्रीरामभक्ति उत्पन्न होगी। (वै०), क्योंकि शङ्कर-कृपा बिना भक्ति नहीं मिलती। यथा—'*जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥*' (१। १३८। ७) शिवसेवासे भी रामभक्ति मिलती है, यथा—'*संकर भजन*

* 'अति भाई' (का०)। भाव कि मनभावती बात मेरी सुन। वा, कृपाल होकर मित्रसम्मित वाणी बोले। रामभक्तिका वर देकर उसे रामभक्त बना दिया है अथवा उसका भविष्यत् लखकर अब उसे 'भाई' सम्बोधन किया, पहले 'शूद्र' सम्बोधन किया था (पं०, वै०)। भाई स्नेहसूचक है। ☞ और भाव ४५ (२), ६१ (७), लं० २१ (२) इत्यादिमें देखिये।

बिना नर भगति न पावइ मोरि।' (४५) पुरीका भी यह प्रभाव है। यथा—*'कवनेहु जन्म अवध बस जोई। राम परायन सो परि होई॥'* (९७। ६) *'अवध प्रभाव जान तब प्रानी।', 'अति प्रिय मोहि इहाँके बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥'* इसीसे तुलसीदासजीने लिखा है—*'बंदउँ अवधपुरी अति पावनि। सरजू सरि कलिकलुष नसावनि॥ प्रवनउँ पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥'* (रा० प्र०)

२ (क) *'कृपा बिसेषी'* जो कहा था वह यहाँ देखिये कि वरदान-पर-वरदान देते जा रहे हैं, ब्राह्मणकी क्षमाशीलतापर ऐसे मुग्ध हो गये हैं कि देते अघाते नहीं। (ख) *'अनुग्रह मोरे'* इति।—*'सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥'*, यह गुरुने पहले ही समझाया था, वही बात यहाँ शङ्करजी दृढ़ कर रहे हैं (पं० रा० व० श०)।

३ (क) *'हरितोषन ब्रत.........'* इन वचनोंको *'सत्य अब'* कहनेका भाव कि यदि यह बात पूर्व कही जाती तो तू सत्य न मानता, पर अब तूने आँखों देख लिया कि द्विजसेवा तूने की, यद्यपि कपटसे ही तो भी उसका फल तुझको यह मिला कि रघुपति-भक्ति तुझे प्राप्त हुई और जो प्रेमसे करे उसका फल कहा नहीं जा सकता। (ख) भगवान् भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। यथा—*'बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।'* (९०), *'जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥'* (३। १६। २) यह कहकर भगवान्ने उसका साधन बताते हुए आदिमें विप्रपद-प्रेम ही कहा है—*'प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती।'* (३। १६। ६) मूल साधन होनेसे यहाँ *'हरितोषन ब्रत द्विज सेवकाई'* कहा।

४—*'अब जनि करहि'* का भाव कि अबतक जो अपमान किया सो किया पर अब इस समयसे तो संतको बराबर भगवान् ही समझना। अपमानका फल देखकर अब सावधान हो जा। देख, तूने संत-विप्र-गुरुका अपमान किया, उसीसे मैंने शाप दिया। यदि वे कृपा न करते तो तू कहींका न रहता। उन्हींकी कृपासे शाप अनुग्रह हुआ और तुझको रघुपति-भक्ति प्राप्त हुई। तुझे मेरे वचनोंकी साक्षात् परीक्षा मिल गयी। अतः तुझे दृढ़ करनेके लिये अब ये सत्यवचन मैं कहता हूँ।

५—'रामभक्तिका वर देकर फिर द्विजसेवा आदिकी शिक्षा देनेका क्या प्रयोजन? कारण कि यद्यपि फल प्राप्त हो गया पर जबतक बिगड़ा हुआ आचरण न सुधरेगा तबतक फिर गिरने तथा अकल्याणका भय है, अतः शिक्षा देते हैं जिसमें फिर चूक न होने पावे। भगवान्के प्रसन्न होनेपर फिर भय नहीं रह जाता। वे सर्वज्ञ हैं, सदा रक्षा करते रहते हैं, अतः भगवान्के प्रसन्न करनेका उपाय बताया—*'हरितोषन.........।' 'जनि करहि.........'* का भाव कि उनका पूजन करना चाहिये, पूजा न बने तो कम-से-कम अपमान तो न करे। (पं० रा० व० श०)

नोट—६ शूद्र विप्र, हरि और हरिजन तीनोंसे द्वेष रखता था। यथा—*'हरिजन द्विज देखे जरउँ करउँ बिष्नु कर द्रोह।'* (१०५) इसीसे शङ्करजीने (आकाशवाणीद्वारा) तीनोंके सम्बन्धमें उपदेश किया। यथा—*'हरितोषन ब्रत द्विज सेवकाई', 'अब जनि करहि बिप्र अपमाना', 'जानेसु संत अनंत समाना।'*

इंद्रकुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥ १३॥
जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्रद्रोह पावक सो जरई॥ १४॥
अस बिबेक राखेहु मन माहीं। तुम्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥ १५॥
औरौ एक आसिषा मोरी। अप्रतिहत गति होइहि तोरी॥ १६॥

अर्थ—इन्द्रके वज्र, मेरे विशाल त्रिशूल, कालके दण्ड और विष्णुभगवान्के भयंकर चक्र इनके मारे भी जो नहीं मरता वह भी विप्रद्रोहरूपी अग्निसे भस्म हो जाता है॥ १३-१४॥ ऐसा विवेक मनमें धारण कर रखना। (मनमें सदा यह विचार रखनेसे) संसारमें तुमको कुछ भी दुर्लभ न होगा॥ १५॥ मेरा एक और भी आशीर्वाद है कि तेरी गति अप्रतिहत होगी अर्थात् जहाँ जानेकी तुम इच्छा करोगे वहाँ तुम (बिना रोकके) जा सकोगे॥ १६॥

नोट—१ (क) ब्राह्मणकी सेवाका फल भगवान्‌की प्रसन्नता बताकर अब ब्राह्मणोंसे द्रोहका फल बताते हैं। अपमान क्यों न करना चाहिये इसका कारण बताते हैं। (ख) *'इंद्रकुलिस मम सूल'*—यहाँ कुलिशसे बढ़कर घातक त्रिशूल, त्रिशूलसे कालका दण्ड और उससे भी भगवान्‌का चक्र बढ़कर कराल दिखाये। एकसे दूसरे, दूसरेसे तीसरे, तीसरेसे चौथेको अधिक उत्कृष्ट जनाया। शत्रुविनाशके लिये इनसे बढ़कर जगत्‌में कोई आयुध नहीं। कालदण्डकी करालता रावण-दिग्विजयमें दिखायी है कि मारीचादि सब साथी रावणको छोड़कर भाग गये थे; यह वाल्मीकीयके उत्तरकाण्डमें कहा है।

२—*'जो इन्ह कर मारा नहिं मरई।'* अर्थात् यदि ऐसा प्रतापी हो जैसे रावण। रावण, कुम्भकर्ण, कबन्ध आदि असाधारण प्राणी हो गये हैं जिनपर वज्र, चक्र इत्यादि चलाये गये फिर भी वे न मरे। ऐसे-ऐसे प्राणी भी विप्रद्रोहके कारण नाशको प्राप्त हुए। वज्रादिकसे न मरना कहकर विप्रद्रोहाग्निमें जल मरना दिखाकर विप्रद्रोहकी अत्यन्त भीषणता दिखायी। यथा—*'जिमि द्विजद्रोह किये कुल नासा।'* (४। १७। ८) *'राखेहु मन माहीं'* अर्थात् यदि इसपर बराबर ध्यान रखोगे तो कभी चूक न होगी और जगत्‌में सब कुछ सुलभ रहेगा। विवेक=ज्ञान, निर्णय, विचार।

रा० प्र०—*'औरौ एक आसिषा मोरी',* ऊपर जो आशीर्वाद दिये वे गुरुकी सिफारिशसे और यह अपनी ओरसे कृपा करते हैं।

पं० रा० व० श०—*'अप्रतिहत'* में यह भी भाव आ गया कि जिस शरीरमें जब चाहें चले जायँ। पृथिवी-जलादि तत्त्वोंमें भी जा सकते हैं, सब लोकोंमें जा सकते हैं। कहीं भी गति रुकेगी नहीं, जहाँ जी चाहे जा सकते हैं।—[खर्रा—यहाँ गतिसे ज्ञान और गमन दोनों जनाये।]

वि० त्रि०—यह वरदान उसी जन्मके लिये नहीं प्रत्युत जन्म-जन्मान्तरके लिये दिया। इसीमें भावी उन्नतिका बीज निहित था। एक हजार सर्प-जन्मके बाद जब इन्हें ब्राह्मण-शरीर मिला, उस समय लोमश ऋषिके पास मेरुपर्वतपर इनके पहुँचनेका कारण यही वरदान हुआ। वहाँ यह कहा भी है *'अब्याहत गति संभु प्रसादा।'* वहीं इन्हें कागशरीर मिला, रामचरितसर मिला और अविरल भक्ति मिली।

दो०—सुनि सिव बचन हरषि गुर एवमस्तु इति भाषि।
मोहि प्रबोधि गएउ गृह संभु चरन उर राखि॥
प्रेरित काल* बिंधिगिरि जाइ भएउँ मैं ब्याल।
पुनि प्रयास बिनु सो तनु तजेउँ गए कछु काल॥

अर्थ—शिवजीके वचन सुनकर गुरुने प्रसन्न होकर 'एवमस्तु' यह कहकर और मुझे बहुत समझाकर वे शिवजीके चरणोंको हृदयमें रखकर घर गये। कालकी प्रेरणासे मैं विन्ध्याचलमें जाकर सर्प हुआ और फिर कुछ काल बीतनेपर मैंने बिना परिश्रम वह (व्याल) शरीर त्याग दिया।

नोट—१ *'सुनि सिव बचन हरषि गुर'*—पूर्व *'हाहाकार कीन्ह गुर दारुन सुनि सिव साप'* और *'उपजा उर परिताप'* अब वह संताप मिटा, अनुग्रह सुनकर हर्ष हुआ। विनयकी अतिशय सफलता देख प्रसन्न हुए। श्रीभुशुण्डिजीके इन गुरुजीका नाम वैद्यक मुनि था।

२—*'एवमस्तु इति भाषि',* यह गुरुका भी मानो आशीर्वाद हुआ। *'संभुचरन उर राखि'* यह आद्यन्त गुरुकी उपासना दिखायी। पुनः, पद-भक्ति माँगी अतः *'उर राखि'* कहा।

३—*'पुनि प्रयास बिनु——',* यह शिववरदानका चरितार्थ है—*'एहि स्वल्पौ नहिं ब्यापिहि सोई'*। *'गुरु आएउ अभिमान ते उठि——।'* (१०६) उपक्रम और *'मोहि प्रबोधि गएउ गृह——'* उपसंहार है।

* सुबिधि—(का० पं०)।

दो०—जोइ तनु धरौं तजौं पुनि अनायास हरिजान।
जिमि नूतन पट पहिरै नर परिहरै पुरान॥
सिव राखी श्रुति नीति अरु मैं नहिं पाव कलेश*।
एहि बिधि धरेउँ बिबिधि तनु ज्ञान न गएउ खगेश॥ १०९॥

अर्थ—हे हरिवाहनजी! जो भी शरीर मैं धारण करता फिर उसे बिना परिश्रम ही छोड़ देता था। जैसे मनुष्य पुराना वस्त्र छोड़ देता है और नया वस्त्र पहिन लेता है। श्रीशिवजीने श्रुतिकी, नीतिकी रक्षा भी की और मैंने क्लेश भी न पाया। हे पक्षिराज! इस प्रकार मैंने अनेक प्रकारके बहुत-से शरीर धारण किये। मेरा ज्ञान न गया॥ १०९॥

नोट—१ *'जोइ तनु धरौं—'* यह गीताके **'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥'** (२। २२) इस श्लोकका अनुवाद-सरीखा है। भाव यह कि किसी शरीरमें मेरा गाढ़ ममत्व न होता था वरन् मैं उसे हर्षपूर्वक छोड़ देता था। पुराना कपड़ा उतारकर नया पहिननेमें परिश्रम नहीं, न उतारनेमें, न पहिननेमें, वरन् उलटे हर्ष होता है।

२—*'भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा'* का उपसंहार है *'सिव राखी श्रुति नीति।'* यहाँ शिवजीके वचनोंको चरितार्थ किया है। *'ज्ञान न गएउ'*, यथा—*'कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ज्ञाना'*। *'एहि बिधि'*—जैसा प्रथम कहा कि *'जिमि नूतन—।'* यहाँ उदाहरण अलङ्कार है।

पं० रा० व० श०—*'सिव राखी श्रुति नीति।'* भाव कि **'देवाः सर्वे अमोघवाचो भवन्ति'**, देवताओंके वाक्य व्यर्थ नहीं जाते।

वै०—इस प्रसङ्गमें *'मानस पुन्य होइ नहिं पापा'* का चरितार्थ है। पूर्व गुरुद्रोह मनमें करते रहे जब साक्षात् अपमान किया तब दण्ड मिला।

त्रिजग देव नर जोइ तन धरऊँ। तहँ तहँ रामभजन अनुसरऊँ॥ १॥
एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुर कर कोमल सील सुभाऊ॥ २॥
चरम देह द्विज कै मैं पाई। सुरदुर्लभ पुरान श्रुति गाई॥ ३॥
खेलौं तहूँ बालकन्ह मीला। करौं सकल रघुनायक लीला॥ ४॥

शब्दार्थ—**'चरम शरीर'**=वह शरीर जिससे आवागमनके चक्रसे छूटकर मोक्ष प्राप्त किया जाता है। सबसे उत्कृष्ट, पराकाष्ठाका।=अन्तिम। मनुष्योंमें मोक्षका अधिकारी ब्राह्मण है, इसीलिये उसके शरीरको चरम (अन्तिम) कहा गया।

अर्थ—तिर्यग्योनि पशु-पक्षी आदि, देवता या मनुष्य जो भी शरीर धारण करता था, उस-उस शरीरमें मैं रामभजन करता था॥ १॥ एक शूल मुझे बना रहा। गुरुका कोमल और शीलस्वभाव मेरे हृदयसे कभी नहीं भूलता। (अर्थात् मैंने उनका कैसा घोर अपमान किया यह पश्चात्ताप बराबर बना रहा)॥ २॥ अन्तिम देह मैंने ब्राह्मणकी पायी। पुराण और श्रुति यह देह देवताओंको भी दुर्लभ कहते हैं॥ ३॥ वहाँ (द्विजदेहमें) भी मैं बालकोंमें मिलकर खेला करता और श्रीरघुनाथजीकी सब लीला किया करता था॥ ४॥

वै०—*'त्रिजग देव नर जोइ तन धरऊँ'*—पहले शिवशापसे त्रिजग सर्पके हजार तन धरे। जब इस तरह महापापका भोग हो गया तब पूर्वजन्मोंके सुकृत-फल भोगके लिये देव-तन पाकर स्वर्गमें भोग किया। जब पाप-पुण्य समान रहे तब शूद्र, वैश्य, क्षत्रियादि मनुष्यतन पाया और जब यावज्जन्म-जन्मान्तरके शुभाशुभ कर्म सब भोग चुका तब अन्तमें द्विजदेह पायी। [रा० प्र०—इससे जनाया कि भजनका अधिकार सर्वत्र रहा।]

* 'पावा क्लेस'—(भा० दा०, रा० गु० द्वि०) 'सिव असीस श्रुतिनीति'—(का०)

नोट—१ *'चरम ....'* इति। इसी तरह जड़भरतको मृगशरीरके बाद ब्राह्मण-शरीर मिला है जिसके छोड़नेपर वे मुक्त हो गये। इससे जनाया कि यह शरीर सबके अन्तमें जीवको मिलता है कि इससे अपने मोक्षका साधन कर ले। भागवतमें भी 'चरम शरीर' पद आया है। यथा—**'यस्तु तत्र पुमांस्तं परमभागवतं राजर्षिप्रवरं भरतमुत्सृष्टमृगशरीरं चरमशरीरेण विप्रत्वं गतमाहुः।'** (भा० ५। ९। २) अर्थात् उनमें (यमजमें) जो पुत्र था वह मृगशरीरको त्यागकर चरमशरीर ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए परम भगवद्भक्त राजर्षिश्रेष्ठ भरतजी ही थे—ऐसा कहते हैं।

वीर—ना० प्र० ने *'धरम देह मैं द्विज कै पाई'* पाठ रखा है। प्रसंगानुकूल 'चरम' पाठ प्रधान और 'धरम' पाठान्तर प्रतीत होता है। शूद्र-तनको प्रथम कहकर फिर हजार बार अजगरकी देह और असंख्यों बार देवता-मनुष्यादिके शरीर धारण करनेकी चर्चा करके कागभुशुण्डिजी कहते हैं कि सबसे अन्तका शरीर मुझे ब्राह्मणका मिला इसके बाद फिर जन्म नहीं लिया। लोमश ऋषिके शापसे वही शरीर कौएका हुआ है जो अबतक वर्तमान है। 'चरम' शब्दके 'अन्त, अन्तिम, पीछेका, पिछला, आखीरका'—ये पर्यायी शब्द हैं।—[*'धरम देह'* पाठ का० में है। रा० प्र०—कार अर्थ करते हैं 'धर्मानुष्ठान जिससे बने उसमें भी उत्तम ब्राह्मण-तन मैंने पाया']

नोट—२ *'सुरदुर्लभ'* ४३ (७) देखिये। मनुष्य देह ही सुरदुर्लभ है, उसपर फिर ब्राह्मण-देह! ३—*'खेलौं तहूँ......।'* इससे शिववाक्य चरितार्थ हुआ कि किसी जन्ममें ज्ञान नष्ट न होगा। इनको अपने गुरु और शिवजीके वचन स्मरण हैं।

इसी तरह जड़भरतजीको ईश्वरकी कृपासे पूर्वजन्मोंके वृत्तान्तका स्मरण बना रहा था। ब्राह्मण-शरीर पानेपर वे सबसे अलग रहकर हरिचरणोंमें मग्न रहते, यह सोचते कि फिर सङ्ग करनेसे अध:पतन न हो जाय, भक्तियोग-साधनमें विघ्न न आ पड़े। जिनका श्रवण, स्मरण और गुण-कीर्तन सम्पूर्ण विघ्नोंको दूर करनेवाला है उन श्रीहरिके चरणकमलयुगलोंको हृदयमें धारणकर विचरने लगे। सब स्वजनोंसे दूर रहते थे। यथा—**'तत्रापि स्वजनसंगाच्च भृशमुद्विजमानो भगवतः कर्मबन्धविध्वंसनश्रवणस्मरणगुणविवरणचरणारविन्दयुगलं मनसा विदधदात्मनः प्रतिघातमाशङ्कमानो भगवदनुग्रहेणानुस्मृतस्वपूर्वजन्मावलिरात्मानमुन्मत्तजडान्धबधिरस्वरूपेण दर्शयामास लोकस्य।'** (भा० ५। ९। ३) भुशुण्डिजीमें यह अधिकता है कि ये लड़कोंके साथ खेलते, पर रघुनायक-लीला ही खेलते-खिलाते थे। जड़भरतजी ज्ञानी अवधूत-से थे, भुशुण्डिजी उपासक थे।

खर्रा—*'एक सूल मोहि बिसर न काऊ.......'* इति। भाव कि ऐसे कोमल स्वभाववाले गुरुसे वियोग हुआ, यह शूल कभी नहीं भूलता।

वि० त्रि०—*'खेलौं तहूँ—लीला'* इति। प्रेमोत्कर्षमें रामलीला करना स्वाभाविक है। भुशुण्डिजी बचपनमें खेलनेके समय रामलीला करते थे, कृष्णजीके विरहमें गोपियोंने कृष्णलीला की। अतः यह धारणा एकदम निर्मूल है कि रामलीलाकी प्रथा आधुनिक है, और अकिञ्चित्कर है। लीलाकी उपयोगिताका ठीक अनुभव उपासक ही कर सकता है।

प्रौढ़ भए मोहि पिता पढ़ावा। समुझौं सुनौं गुनौं नहिं भावा॥ ५॥
मन ते सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी॥ ६॥
कहु खगेस अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी॥ ७॥

अर्थ—बड़ा होनेपर मुझे पिता पढ़ाने लगे। मैं समझूँ, सुनूँ और विचार करूँ। (तो भी वह विद्या पढ़ना मुझे) अच्छा न लगता था॥ ५॥ मेरे मनसे सारी वासनाएँ भाग गयीं (अर्थात् सांसारिक कोई भी वासना किंचित् भी मनमें न रह गयी) केवल श्रीरामजीके चरणोंमें लय लग गयी॥ ६॥ हे खगेश! कहिये तो ऐसा कौन अभागी होगा जो कामधेनुको छोड़कर गदहीकी सेवा करे॥ ७॥

पं० रा० व० श०—*'समुझौं सुनौं गुनौं'* इति। समझता यह कि पिताका धर्म है कि पुत्रको अवश्य शिक्षा दे अतः ये पढ़ाते हैं, उनका वचन सुन लेता था फिर मनमें विचार करता था।

पं०—'*समुझौं सुनौं गुनौं*——', यह कि भजन बिना शास्त्ररूपी गर्तमें पड़कर क्या करूँ?

वै०—भाव कि यज्ञोपवीतादि कर पिताने ब्राह्मण-कर्म पढ़ाये। जो वे पढ़ाते वह सुन लेता था, उसका अर्थ समझता था फिर उस पदपदार्थका बोध कर लेता था; परंतु प्रसिद्ध पढ़ना नहीं भाता था। अर्थात् पूर्वजन्मोंकी पढ़ी सब विद्याका ज्ञान शिवकृपासे बना रहा, हरिभजनके प्रभावसे जो मेरी पूर्व पढ़ी न थी वह भी पिताके पढ़ाते ही समझमें आ जाती थी। फिर उसे मनमें गुणकर पुष्ट कर लेता था। मैंने सब पढ़ लिया पर प्रकट नहीं किया; इससे वे अपढ़ ही जानते रहे।—कवितावलीके '*कीबे को कहा पढ़िबे को कहा*——', से मिलान करो।

नोट—'*नहिं भावा*' इति। विद्या तो अच्छी चीज है, इसका अनादर क्यों किया? इसका कारण आगे कहते हैं कि वे सांसारिक स्वार्थ-साधनवाली लोकविद्या पढ़ाते थे। जिससे भवसे छुटकारा नहीं हो सकता, मेरे मनमें लोक-एषणादि कोई सांसारिक वासना ही न थी तब संसारको देनेवाली विद्यामें मन कैसे लगता? पढ़नेसे तोते-मैने बन्धनमें पड़ते हैं मैं भी पड़ूगा।

पं० रा० व० श०—'*खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी।*' सांसारिक सब विषय-वासनाएँ गदही हैं, भक्ति कामधेनु है जो स्वतः सब कामनाओंको भी देनेवाली है। उपनिषद् कहता है कि दो विद्याएँ पढ़नी चाहिये—पहिले अपराविद्या—वेद, पुराण, स्मृति, छन्द, कल्प विद्यादि पढ़े फिर पराविद्या पढ़े, जिससे परात्पर ब्रह्म जाना जाय। [यथा '**द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।**'(मु० १। १। ४-५) ☞ स्मरण रहे कि पराविद्याका भी वर्णन वेदोंमें ही है, उतने अंशको छोड़कर अन्य सब वेद और वेदाङ्गोंको अपराविद्याके अन्तर्गत समझना चाहिये। भगवान् शङ्कराचार्यजी कहते हैं कि 'पराविद्या' से वेद्यविषयक ज्ञान बतलाना अभीष्ट है। यहाँ प्रधानतासे यही बतलाना इष्ट है कि उपनिषद्वेद्य अक्षरविषयक विज्ञान ही पराविद्या है, उपनिषद्‌की शब्दराशि नहीं। और 'वेद' शब्दसे सर्वत्र शब्दराशि ही कही जाती है। शब्दसमूहका ज्ञान हो जानेपर भी गुरूपसत्ति आदिरूप प्रयत्नान्तर तथा वैराग्यके बिना अक्षरब्रह्मका ज्ञान नहीं हो सकता; इसलिये ब्रह्मविद्याका पृथक्करण और 'वह पराविद्या है' ऐसा कहा गया] पराविद्याका निचोड़ है 'रामभक्ति।' जिसको इस सिद्धपदार्थकी प्राप्ति हो गयी, फल मिल गया, वह अपराविद्यामें पड़े, साधनोंमें पड़े, यह अभाग्य ही है। अतः कहा कि '*अस कवन अभागी*' अर्थात् भाग्यहीन छोड़ दूसरा ऐसा न करेगा। ☞ ऐसी ही दशा जड़भरतजीकी है जैसी भुशुण्डिजीकी।

वै०—'*लय लागी*'। जैसे मृदङ्ग, वीणादि बाजा और पदहस्तादिकी गति रागमें मिले रहनेको लय कहते हैं वैसे ही इन्द्रिय-मनादिकी वृत्ति चाहसहित प्रभुके चरणोंमें लगी, कभी अलग नहीं होती। अतः पढ़नेमें मन न लगा।—[☞'*लय*' दशा भजनकी सर्वोत्तम दशा है। इसमें एकरस तैलधारावत् अविच्छिन्न सुरति लगन उसी ओर लगी रहती है। अष्ट प्रहर प्रभुके प्रेमरसमें डूबा रहता है।—'**पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जपः। जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लयः॥**' यह दशा वासनाओंके रहते नहीं होती, वासनारहित होनेपर ही होती है—'*सकल कामनाहीन जे रामभगतिरस लीन। नाम सुप्रेम पियूषह्रद तिन्हहु किये मन मीन॥*' अतः वासना न रह जानेपर लय लगना कहा।]

वि० टी०—किसी बातमें अटल और निरन्तर प्रेमको लय कहते हैं।

प्रेम मगन मोहि कछु न सोहाई। हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई॥ ८॥
भए कालबस जब पितु माता। मैं बन गयउँ भजन जनत्राता॥ ९॥
जहँ जहँ बिपिन मुनीस्वर पावौं। आश्रम जाइ जाइ सिरु नावौं॥ १०॥

अर्थ—(श्रीराम) प्रेममें डूबा हुआ रहनेसे मुझे और कुछ न सुहाता था। पिता पढ़ा-पढ़ाकर हार गये॥ ८॥

जब माता-पिता मर गये तब मैं जनरक्षक-(श्रीरघुनाथजी-) का भजन करनेके लिये वनमें चला गया॥ ९॥ वनमें जहाँ-जहाँ मुनीश्वरोंका आश्रम पाता था तहाँ-तहाँ जा-जाकर उनको मस्तक नवाता था॥ १०॥

नोट—१ *'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई'* इति। इससे जनाया कि पिताका स्नेह मुझपर बहुत था, वे सोचते थे कि ब्राह्मणका कर्तव्य है कि वेद पढ़े, व्याहृतियोंसहित गायत्री पढ़े, इत्यादि। पर मैं बेमन उन शिक्षाओंका व्यवहार करता था जिसमें पिता शिक्षा देनेका आग्रह न करें। जब मन नहीं लगता था तो पिता क्यों बारम्बार पढ़ानेकी चेष्टा करते थे? इसका कारण यह है कि वे समझते थे कि पुत्रको उपदेश देना पिताका कर्तव्य है और धर्म है तथा पुत्रस्नेहके कारण कि मैं पण्डित हो जाऊँ। उनको आशा थी कि बार-बार पढ़ानेपर अवश्य मेरा मन लग जायगा। *'हारेउ'* का भाव कि वे सफलमनोरथ न हुए।

मिलान कीजिये—'**तस्यापि ह वा आत्मजस्य विप्रः पुत्रस्नेहानुबद्धमना आ समावर्तनात्संस्कारान्यथोपदेशं विदधान उपनीतस्य च पुनः शौचाचमनादीन्कर्मनियमाननभिप्रेतानपि समशिक्षयदनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेति॥ स चापि तदु ह पितृसन्निधावेवासध्रीचीनमिव स्म करोति छन्दांस्यध्यापयिष्यन् सह व्याहृतिभिः सप्रणवशिरस्त्रिपदीं सावित्रीं ग्रैष्मवासन्तिकान्मासानधीयानमप्यसमवेतरूपं ग्राहयामास॥ एवं स्वतनुज आत्मन्यनुरागावेशितचित्तः शौचाध्ययनव्रतनियमगुर्वनलशुश्रूषणाद्यौपकुर्वाणककर्माण्यनभियुक्तान्यपि समनुशिष्टेन भाव्यमित्यसदाग्रहः पुत्रमनुशास्य स्वयं तावदनधिगतमनोरथः कालेनाप्रमत्ते स्वयं गृह एव प्रमत्त उपसंहृतः॥**'(भा० ५। ९। ४—६) (अर्थात्) श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि द्विजश्रेष्ठ-(जड़भरतजीके पिता-) ने पुत्रस्नेहसे आसक्तचित्त हो उस अपने उन्मत्त पुत्रके भी समावर्तनपर्यन्त सम्पूर्ण संस्कार शास्त्रविधिसे करनेका विचार करके उसका उपनयन संस्कार किया। उसके बाद 'पुत्र पितासे उपदेश ग्रहण करे इस शास्त्राज्ञानुसार उसे अपेक्षा न रहते हुए भी शौच, आचमन आदि कर्मों और नियमोंकी शिक्षा दी। भरतजी भी अपने पिताके सामने ही उनके उपदेशके विरुद्ध आचरण करने लगे। उनके पिताने (श्रावण मासमें) उन्हें वेदाध्ययन करानेकी इच्छासे वसन्त और ग्रीष्म-ऋतुके (चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़—इन) चार महीनोंमें व्याहृति, प्रणव और शिरोमन्त्रके सहित त्रिपदा गायत्रीका निरन्तर अध्ययन कराते हुए भी उन्हें वह मन्त्र स्वरादिके सहित न सिखा सके। इस प्रकार अपने पुत्रमें आत्माके समान प्रेम रखनेवाला वह ब्राह्मण भरतजीकी प्रवृत्ति न होनेपर भी उन्हें शौच, वेदाध्ययन, व्रत, नियम तथा गुरु और अग्निकी सेवा आदि ब्रह्मचर्य आश्रमके आवश्यक नियम 'पुत्रको भली प्रकार उपदेश करना चाहिये' इस दुराग्रहसे सिखाता रहा;, किंतु अपना मनोरथ पूर्ण होनेसे पहले ही जब कि वह घरके धन्धोंमें आसक्त रहकर भगवत्सेवारूप अपने मुख्य कर्तव्यसे असावधान था कि कभी न चूकनेवाले कालने उसे धर दबाया।

यही सब भाव *'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई'* से सूचित किया गया है।

२—*'भए काल बस जब पितु माता।—'* इति (क) भाव कि जीते-जी उनकी सेवा कर्तव्य समझकर घर न छोड़ा, नहीं तो उनको दुःख होता। नारदजीकी यही दशा दासीपुत्र-शरीरमें हुई, माताके मरनेपर वे भवन छोड़ वनको गये; बराबर यही सोचते रहे कि वह कब मरे और हम भजन करने जायँ। (ख) घरमें प्रथम माता-पिता पुत्रके रक्षक होते हैं। घर छूटनेपर एकमात्र भगवान् ही रक्षक रह जाते हैं। भगवान् अपने जनकी सदा रक्षा करते हैं, यह भरोसा रख वनको गये; अतः *'जनत्राता'* कहा। जनत्राता हैं अतः उनको वनमें भय नहीं। दूसरे, वन भजनका सर्वोत्तम स्थान है।

'जहँ जहँ बिपिन मुनीस्वर पावौं।' वनमें रहनेपर मुनीश्वरोंकी खोज हुई जो एकान्तमें रहा करते हैं।

बूझौं तिन्हहिं रामगुन गाहा। कहहिं सुनौं हरषित खगनाहा॥ ११॥
सुनत फिरौं हरिगुन अनुबादा। अब्याहत गति संभु प्रसादा॥ १२॥
छूटी त्रिबिधि ईषना गाढ़ी। एक लालसा उर अति बाढ़ी॥ १३॥
रामचरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं॥ १४॥

शब्दार्थ—**अनुबादा**=जाने हुए अर्थका दोहराना, बारम्बार कथन।

अर्थ—हे गरुड़जी! उनसे मैं श्रीरामजीके गुणोंकी गाथा (कथा) पूछा करता, वे कहते और मैं हर्षपूर्वक सुना करता॥ ११॥ (इस प्रकार) हरिगुणानुवाद (सर्वत्र) सुनता फिरता था (क्योंकि) शिवजीकी कृपासे मेरी अव्याहत गति थी (अर्थात् जहाँ चाहता वहीं बिना रोक-टोक या परिश्रमके जा सकता था)॥ १२॥ तीनों प्रकारकी प्रबल पोढ़ी इच्छाएँ छूट गयीं और केवल एक यही लालसा हृदयमें अत्यन्त बढ़ी कि जब श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलोंका दर्शन पाऊँ तब अपना जन्म सफल हुआ समझूँ॥ १३-१४॥

नोट—१ *'बूझौं तिन्हहिं रामगुन गाहा—अनुबादा।'* इति। (क) *'गुनगाहा'* शब्द मानसमें अनेक बार आया है। यथा—*'कलिजुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥'* (१०३। ४) *'लाग कहै रघुपति गुन गाहा॥'* (६४। ३) *'बूझहिं बैठि राम गुनगाहा॥'* (२६। ५) *'करन चहौं रघुपति गुनगाहा॥'* (१। ८। ५) *'कहहिं परस्पर हरिगुन गाहा॥'* (१। ४४। ८) इत्यादि। इससे *'गुनगाहा'* का अर्थ चरित, कथा, सुयश है। मुनि लोगोंसे रामचरित, रामगुणग्राम पूछते थे और वे कहते थे, ये सुनते थे। यह कहकर कहते हैं कि *'सुनत फिरौं हरिगुन अनुबादा'* इस तरह जनाया कि 'हरिगुणानुवाद' का अर्थ है *'रामगुन गाहा।'* (ख) *'सुनौं हरषित।'* रामचरित सुननेमें हर्ष होना ही चाहिये, यथा—*'कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती॥'* (१। ११३। ७) (ग) यहाँतक इनकी दो भक्तियाँ कहीं। *'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।'* तथा *'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती।—एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥ श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥ संतचरनपंकज अति प्रेमा'*—ये सब इनमें दिखाये। (आ० ३५। १६)।

नोट—२ *'त्रिबिधि ईषना गाढ़ी।'* तीनों एषणाएँ मनुष्यके सङ्ग लगी रहती हैं, पीछा नहीं छोड़तीं, यथा—*'सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥'* इसीसे इन्हें *'गाढ़ी'* कहा। ये संसारबन्धनमें डालनेवाली हैं। दोहा ७१ (६) देखिये। इनका छूटना यह संतोंमें प्रेम और गुणानुवादका फल मिला।

☞ *'तब निज जन्म सफल करि लेखौं।'*—इससे जनाया कि मनुष्य-शरीर पाकर यदि भगवत्की प्राप्ति इसमें न कर ली तो जन्म व्यर्थ समझना चाहिये। साधारण माला-पूजा-पाठ ही कर लेनेसे जन्म सफल न समझ ले, यह इच्छा बराबर दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाय, जबतक दर्शन न हो चैन न पड़े। थोड़ी-सी भक्ति-भजन-पाठ स्मरण होनेसे कृतार्थ हो जाना शरीर-साफल्य नहीं है, भवपार करनेके लिये तो अवश्य काफी है पर शरीर साफल्यके लिये कुछ भी नहीं है।

जेहि पूछौं सोइ मुनि अस कहई। ईश्वर सर्बभूतमय अहई॥ १५॥
निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई। सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई॥ १६॥

अर्थ—जिसी मुनिसे पूछूँ वही ऐसा कहे कि ईश्वर सर्वभूतमय है॥ १५॥ यह निर्गुण मत मुझे न सुहाता था, हृदयमें सगुण ब्रह्मपर प्रीति बहुत बढ़ती जाती थी॥ १६॥

वै०—*'जेहि पूछौं सोइ'* से जनाया कि सगुणोपासक रामानुरागी भक्त मुनीश्वर थोड़े हैं, निर्गुणरूपके उपासक शान्तरसवाले बहुत हैं। [वा, यह इतना गोप्य रहस्य है कि कोई बताता ही न था।]

पं० रा० व० श०—*'सर्बभूतमय अहई'* अर्थात् आकाशवत् सर्वव्यापक है, सर्वत्र है, कोई देश-काल, दिशा-विदिशा ऐसी नहीं जहाँ वह न हो और कहीं उसे खोजने नहीं जाना है। मन थिर करके ध्यान करो तो तुम्हारे ही उरमें प्रकाशित हो जायगा। (वै०) दोहा ११२ देखो।

खर्रा—*'जेहि पूछौं'* इति। क्या पूछते थे सो पूर्व कह दिया कि 'किस प्रकार दर्शन हों?' यह बताइये। जब उनके दर्शन हों तब मैं जन्म सफल समझूँ। तब वे मुनीश्वर यही उपदेश देते थे कि ईश्वर सर्वभूतमय है, यही सर्वान्तर्यामी भाव जानना दर्शन है।

नोट—*'निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई'* कहकर जनाया कि *'ईश्वर सर्बभूतमय अहई'* यही निर्गुण मत

है। *'सगुन ब्रह्म रति—'* अर्थात् 'श्रीदाशरथि रामचरणवारिजके' दर्शनोंकी लालसा और श्रीदाशरथि राममें प्रेम सगुण ब्रह्मका प्रेम है। २—*'अधिकाई'* का भाव कि शिवप्रसादसे श्रीरामजीमें भक्ति तो पूर्व ही उत्पन्न हो गयी थी, प्रत्येक तनमें बनी रही और अब वह दिनोंदिन बढ़ी।

वै०—*'निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई।'* का भाव कि व्यापक ब्रह्मकी उपासना मुझे न अच्छी लगती थी, मुझे तो सगुणरूप जिसमें कृपा, करुणा, वात्सल्यादि दिव्य गुण भरे हैं, जो श्यामसुन्दर मनमोहनस्वरूप नेत्रोंको सुखदायक है वही रघुनायकरूप प्यारा लगता था।

दो०—गुर के बचन सुरति करि रामचरन मनु लाग।
रघुपति जस गावत फिरौं छन छन नव अनुराग॥
मेरु सिखर बट छाया मुनि लोमस आसीन।
देखि चरन सिरु नाएउँ बचन कहेउँ अति दीन॥

अर्थ—गुरुजीके वचन स्मरणकर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें मन लग गया। मैं श्रीरघुनाथजीका यश क्षण-क्षण नवीन प्रेमसे गाता फिरता था और क्षण-क्षण नया अनुराग उत्पन्न होता जाता था। सुमेरुपर्वतके शिखरपर बरगदकी छाँहमें लोमशमुनिको बैठे देखकर उनके चरणोंमें मैंने सिर नवाया और अत्यन्त दीन वचन कहे।

नोट—१ *'गुर के बचन सुरति करि'* इति। निर्गुण मत न सुहाता था यह कहकर उसका कारण कहते हैं कि *'सिव सेवाकर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥ रामहिं भजहिं तात सिव धाता। नर पाँवर कै केतिक बाता॥'* श्रीगुरुजीके इन वचनों तथा शिववरदानपर कि *'रामभगति उपजिहि उर तोरे।'*, उनके 'एवमस्तु' इस वचनसे मनमें निश्चय हो गया था कि मुझे अवश्य श्रीरामचरणमें अविरल भक्ति होगी तथा यह भी दृढ़ विश्वास हो गया था कि जीवका एकमात्र कर्तव्य यही है कि रामभक्ति करे। अतः उनमें मन लगा।

२—*'लोमस'* —ये ब्रह्माजीके पुत्र हैं, चिरंजीवी हैं। जब एक ब्रह्मा मरते हैं तब ये अपना एक रोम उखाड़कर फेंक देते हैं। मानो यही मरनेपर भद्र कराना हुआ। कहा जाता है कि इसीसे इनका नाम लोमश प्रख्यात हुआ। (रा० बा० दा०)

३—*'बचन कहेउँ अति दीन'* क्योंकि यह अधिकारीका चिह्न है। *'गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥'* 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।' (मु० १। २। १२) के **'अभिगच्छेत्'** में भी यही भाव है कि विनयपूर्वक जाय।

पं० रा० व० श०—मुझे विश्वास हो गया कि जब भक्ति उपज ही रही है तब कोई कारण नहीं कि सगुण ब्रह्मका दर्शन न हो, दर्शन अवश्य होगा। न जाने मुनि हमें अधिकारी नहीं समझते इससे ऐसा कहते हैं वा क्या बात है। इसीसे मुनिवचन न भाता था।

प० प० प्र०—*'मेरु सिखर बट छाया——'* इति। इस चरणमें मात्राकी न्यूनताद्वारा आश्चर्य और हर्षका भाव दिखाया है। मेरु शिखर देवताओंके गुप्त निवासका स्थान है, यहाँ मुनि कैसे? यह आश्चर्य। हर्ष यह कि कोई महान् अधिकारी रामभक्त ही होंगे अन्यथा मनुष्यका निवास यहाँ असम्भव है। वटछायामें बैठे हैं। आश्रम, पर्णकुटी आदि कुछ नहीं है, अतः ये कोई बड़े वैराग्यवान् ही जान पड़ते हैं।

दो०—सुनि मम बचन बिनीत मृदु मुनि कृपाल खगराज।
मोहि सादर पूँछत भए द्विज आएहु केहि काज॥
तब मैं कहा कृपानिधि तुम्ह सर्बग्य सुजान।
सगुन ब्रह्म अवराधन* मोहि कहहु भगवान॥ ११०॥

* आराधना—(का०)

अर्थ—मेरे अत्यन्त नम्र कोमल वचन सुनकर, हे पक्षिराज! दयालु मुनि मुझसे आदरसहित पूछने लगे कि हे ब्राह्मणदेव! आप किस कार्यके लिये यहाँ आये हैं? तब मैंने कहा हे दयासागर! आप सर्वज्ञ और सुजान हैं। हे भगवन्! मुझसे सगुण ब्रह्मकी उपासना कहिये॥ ११०॥

नोट—१ पूर्व *'बचन कहेउँ अति दीन'* कहा और यहाँ *'सुनि मम बचन बिनीत मृदु'*; इस तरह *'अति दीन'*=विनीत मृदु। दीन वचन सुनकर मुनिको दया आयी और उन्होंने *'सादर'* प्रश्न किया, अतः *'कृपानिधि'* सम्बोधन किया। दीन भगवान्‌को भाते हैं, यथा—*'देखि दीन रघुपति मन भाएउँ।'* २ सर्वज्ञ हैं अतः मेरे मनकी तथा सब कुछ जानते हैं। सुजान हैं अतः सगुणब्रह्मकी आराधना भली प्रकार जानते हैं। *'भगवान'* से ऐश्वर्यवान् जनाया, ऐसे हैं कि कल्पान्तमें भी आपका नाश नहीं, न जाने कितने ब्रह्मा आपके सामने हो गये। ३ *'परतत्त्व'* पूछ रहे हैं इसीसे *'सर्वज्ञ सुजान भगवान'* विशेषण दिये, जिसमें ये गुण होंगे वह ही परतत्त्वका ज्ञाता हो सकता है। इसी तरहके विशेषण श्रीरामस्तवराजमें व्यासजीको युधिष्ठिरजीने दिये हैं। यथा—'**भगवन् योगिनां श्रेष्ठ सर्वशास्त्रविशारद। किं तत्त्वं किं परं जाप्यं किं ध्यानं मुक्तिसाधनम्॥**' मानसके '**सर्वज्ञ सुजान**' में '**योगिनां श्रेष्ठ सर्वशास्त्रविशारद**' का भाव भी आ जाता है। *'भगवान'* दोनोंमें हैं। [करु०—यहाँ मुनिको भगवान् कहा। भगवान्=षडैश्वर्ययुत। जिनमें षट् ऐश्वर्यमेंसे एक, दो, तीन भी हों उनकी भी भगवान् संज्ञा है। वा, इसे सगुण ब्रह्मका विशेषण मान लें।]

तब मुनीस रघुपति गुन गाथा। कहे कछुक सादर खगनाथा॥ १॥
ब्रह्मज्ञान रत मुनि बिज्ञानी। मोहि परम अधिकारी जानी॥ २॥
लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ ३॥

अर्थ—तब (मेरी प्रार्थना सुननेपर) हे पक्षिराज! मुनिश्रेष्ठने आदरपूर्वक कुछ रघुपतिगुणोंकी कथा कही॥ १॥ ब्रह्मज्ञानमें तत्पर, सदा ब्रह्मज्ञानमें लीन, वे विज्ञानी मुनि मुझे अत्यन्तश्रेष्ठ अधिकारी जानकर ब्रह्मका उपदेश करने लगे कि वह जन्मरहित, अद्वितीय (अर्थात् वह एक ही है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं), निर्गुण और हृदयका स्वामी (सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे बसा) है॥ २-३॥

वै०—१ पहले सादर रघुनाथजीके कुछ गुण वर्णन किये। 'कुछ ही क्यों कहे?' इसका कारण आगे बताते हैं कि मुनि तो विज्ञानी थे, ब्रह्मज्ञानमें उनका प्रेम था, उसीमें लगे रहते थे, आत्मानुभवमें तदाकार रहा करते थे। अपना सिद्धान्त कहना-सुनना-उपदेश देना सबको भला लगता है। दूसरे, मुझमें उन्होंने ज्ञानके परम अधिकारीके गुण देखे। इससे सगुण चरित छोड़ ब्रह्मका उपदेश करने लगे।

करु०, वै०, पं०—अधिकारीके लक्षण ये हैं—विषयोंसे वैराग्य, गुरु-वेद-वाक्यमें विश्वास, विप्र, सत्सङ्गाभिलाषी, देह-व्यवहार असार समझकर त्याग किये हुए। इत्यादि।

नोट—मुण्डकोपनिषद्‌में अधिकारीके लक्षण '**परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन॥**' (१। २। १२) इस प्रकार कहे हैं। अर्थात् कर्मसे प्राप्त किये जानेवाले लोकोंको परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्यको प्राप्त हो जाय। (यह समझ ले कि) संसारमें कोई नित्य पदार्थ नहीं है। कर्म स्वयं अनित्य हैं, वे अनित्य फलके देनेवाले हैं, उनसे स्वतः सिद्ध नित्य परमेश्वर नहीं मिल सकते, अतः ऐसे कर्मोंसे हमें कोई प्रयोजन नहीं। जो जिज्ञासु इस प्रकार समस्त भोगोंसे सर्वथा विरक्त हो और वास्तविक परमतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करनेका उत्सुक हो। ऐसेको ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाना चाहिये। इसीको फिर मन्त्र १३ में दूसरे शब्दोंमें कहा है। मन्त्र १३ में ब्रह्मज्ञानके अधिकारी ये बताये हैं—जो पूर्णतया शान्त-चित्त हो, मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये हुए हो।—'**सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय॥**' (१। २। १३) शरणमें आये हुए ऐसे शिष्यको वह ज्ञानी महात्मा उस ब्रह्मविद्याका तत्त्वविवेचनपूर्वक भलीभाँति उपदेश करे। ऐसा आदेश इस मन्त्रमें है।

श्रीभुशुण्डिजीमें ये गुण हैं। यथा—*'मन ते सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी॥' 'मैं बन गयउँ भजन जनत्राता।'*, *'छूटी त्रिबिधि ईषना गाढ़ी।'*, *'छन छन नव अनुराग॥'* एषणाएँ-वासनाएँ ही

चित्तको मलिन करती हैं, जब वही नहीं रह गयीं तब चित्त प्रशान्त हुआ ही चाहे। मनपर विजय प्राप्त होनेपर ही वासनाओंसे छुटकारा मिलता है। *'समुझौं सुनौं गुनौं नहिं भावा' 'अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी॥'* में मन्त्र १२ का भाव है। विवेकपूर्वक वैराग्य है कि श्रीरामजीको छोड़ सब व्यर्थ है, श्रीरामको ही प्राप्त करना चाहिये।

खर्रा—*'लागे करन ब्रह्म उपदेसा'* इति। इसके चार कारण यहाँ कहे—१ ब्रह्मज्ञानरत, २ मुनि, ३ विज्ञानी, ४ मुझे परम अधिकारी जाना। *'परम अधिकारी'* क्योंकि ब्राह्मणशरीर है जिसे ज्ञानका अधिकार है, दूसरे वैराग्यपूर्वक जिज्ञासा उठी है।

गौड़जी—*'परम अधिकारी……।'*—लोमशजीसे भुशुण्डिजीने सगुण ब्रह्मकी आराधना पूछी। उसके उत्तरमें उन्होंने कुछ थोड़ी रामचर्चा की परंतु समझा यह कि जिज्ञासु निर्गुण उपासनाका पक्षपाती है और सगुणोपासना केवल कुतूहलशान्तिके लिये उसने पूछी है। यह वास्तवमें निर्गुण उपासनाका अधिकारी है। चालाक जिज्ञासु अपने पक्षकी पुष्टिके लिये ऐसा ही व्यवहार करते हैं। लोमशजीने यह न समझा कि भुशुण्डि इतना सरल है और चालाक जिज्ञासु नहीं है। इसीलिये उन्होंने निर्गुणका निरूपण किया और जब-जब भुशुण्डि सगुणका प्रतिपादन करते थे तब-तब वह फिर निर्गुण पक्षका पोषण करते थे। लोमशजीको भ्रम यह था कि यह जिज्ञासु वस्तुतः निर्गुण उपासनाके पोषणकी युक्तियाँ जाननेके लिये उत्तरपक्ष ग्रहण करता जाता है।

पं० रा० व० श०—जब नित्य नैमित्त आदि कर्म करके उपासनामें दृढ़ता हो जाय तब अधिकारी होता है।

करु०—परम अधिकारीके लक्षण इस काण्डके अन्तमें *'कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।'* इसमें दिये हैं। सगुण ब्रह्ममें ऐसी लगन तथा वैराग्य आदि परम अधिकारीके चिह्न हैं।

वि० त्रि०—*'ब्रह्मज्ञान रत……हृदयेसा॥'* इति। ब्रह्मज्ञानी मुनिजीने समझा कि यह ज्ञानके लिये मेरे पास आया है। (यथा—**'निर्विण्णचित्तं ब्राह्मणं ब्रह्मिष्ठं गुरुमुपासीत।'** श्रुतिः) अतः उन्हें ब्रह्मज्ञानका उपदेश करने लगे। यह नहीं समझा कि यह भक्तिका अधिकारी है और भक्तिके अधिकारीके लिये ज्ञान और वैराग्य प्रायेण श्रेयस्कर नहीं होता (यथा—**तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह**) क्योंकि वह अति अनुरागी-विरागी होता है और सेवक-सेव्य-भावको त्यागना नहीं चाहता।

पं० रा० व० श०—*'लागे करन ब्रह्म उपदेसा'* इति। अर्थात् चरित कहकर अन्तमें यह कहा कि सब लीला माया है, ब्रह्म अपनी मायाको ग्रहणकर यह चरित करता है। जो कुछ देखते हो यह सब ब्रह्म है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** यह ब्रह्म उपदेश करने लगे।

नोट—*'अज अद्वैत अगुन हृदयेसा'* से लेकर *'बारि बीचि इव गावहिं बेदा'* तक, यही *'ब्रह्म उपेदस'* है। इसीको आगे *'निर्गुन मत'* भी कहा है यथा—*'निर्गुन मत मम हृदय न आवा॥'* (१११। ७) इन सब विशेषणोंके भाव पूर्व आ चुके हैं।

अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥ ४॥
मन गोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी॥ ५॥
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥ ६॥

अर्थ—(वह) कला, इच्छा वा चेष्टा, नाम और रूप (इन सबसे) रहित है, अनुभवसे प्राप्त होने वा जाननेयोग्य है, अखण्ड है, उपमारहित है॥ ४॥ मन और इन्द्रियोंसे परे है, निर्मल और विनाशरहित है, विकाररहित, सीमारहित और आनन्दराशि है॥ ५॥ वेद कहते हैं कि तू वही है, उसमें और तुझमें भेद नहीं है; जैसे जल और जलकी लहर (एक ही हैं, उनमें कुछ भेद नहीं है)*॥ ६॥

* 'गावहिं बेदा' यथा-१ 'तत्त्वमसि' इति सामवेदे। इसीका 'सो तैं' कैसे थोड़ेमें है। यह सामवेदका महावाक्य है। २—'अयमात्मा ब्रह्म' इति अथर्वणे। ३-निरुपममनादितत्त्वं त्वमहमिदमद इति कल्पनादूरम्। 'नित्यानन्दैकरसं सत्यं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम्।' (वेदान्त)।

पं० रा० व० श०—१ *'अकल'* अर्थात् वह घटता बढ़ता नहीं कि आज एक वर्षका हुआ, कल दोका इत्यादि। *'अनाम अरूपा'* का भाव कि वाचिक नामरूप उपाधिके सम्बन्धसे कहे जाते हैं। जब रूप नहीं तब दर्शन कैसा? उसका दर्शन बाहरसे नहीं होता वरन् वह अनुभवसे देख पड़ता है इति **'अनुभवगम्यः।'** अनुभव प्राप्त होनेपर वह अखण्ड एकरस सर्वत्र जान पड़ेगा।

२ *'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।——'* का भाव कि कुछ भेद नहीं, जो तुम वही वह, भेद जो देख पड़ता है वह उपाधिमात्रका भेद है। जैसे जल और लहरका। दोनों एक हैं, केवल वायुके लगनेसे ऊँचा उठनेसे उसे लहर कहने लगे। पवनके बंद होनेपर जल ज्यों-का-त्यों जल है। इसी तरह जीव ब्रह्मका प्रतिबिम्ब है, अविद्यामायाकी उपाधि ब्रह्ममें पड़ जानेसे वह जीव कहलाता है—(करु०—इसी तरह जीव और ब्रह्म एक है। वासनारूपी उपाधिसे जीव कहा गया। वासनाध्वंससे केवल ब्रह्म है।) वस्तुतः वस्तु भिन्न-भिन्न देखभर पड़ते हैं पर हैं एक ही, नाम अनेक हैं। उत्तम वृत्तिसे देखनेसे ब्रह्म एकरस है। भेद नहीं है, भेद अनित्य है, क्योंकि शरीरके सम्बन्धसे है, शरीरके कारण ही भेद कहा जाता है।

'बारि बीचि इव।' यहाँ जीव और ब्रह्ममें स्वरूपतः अभेद है यह दिखा रहे हैं। लहर जलसे पृथक् नहीं किंतु जलस्वरूप ही है। इतनेमें ही लोमशजीका दृष्टान्त यहाँ लेना होगा। *'बारि बीचि'* से गुणतः दोनोंमें अभेद नहीं है, इससे वह लोमशजीका आशय यहाँ नहीं है। गुणतः भेद है। जलसे लहर है, लहरसे जल नहीं। इसी तरह ईश्वरसे जीव जायमान है, जीवसे ईश्वर नहीं। जीव अंश है। पुनः जल एक, उसमें लहरें अनेक। वैसे ही ईश्वर एक, जीव अनेक।

[उपर्युक्त भावके लिये भगवान् शंकराचार्यजीका यह वाक्य आधार है—**'सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः। सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।'** (षट्पदीस्तोत्र)। अभेद सिद्ध होनेपर भी जीव ईश्वरका अंश ही है, जैसे तरंग समुद्रका। (प० प० प्र०)]

नोट—*'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'*—बा० १८ देखिये।

वै०—*'ताहि तोहि नहिं भेदा।'* भाव कि तू अपना रूप भूला हुआ है। जब आत्मानुभवज्ञान होगा तब ब्रह्मानन्द आप-ही-आप तेरे ही अन्तःकरणमें प्रकाशमान हो जायगा। इसी भूलसे तू बाहर ढूँढ़ता फिरता है। सगुण तो प्रयोजनमात्र हुआ। वस्तुतः निर्गुण निर्गुण ही रहा, वही मूल है, मूलको पकड़। जीव और ब्रह्म दोनों एक हैं, उपाधिमात्र दूसरा रूप और कथनमात्र दूसरा नाम है। महावाक्यको धारण कर।

नोट—*'सो तैं——'* इति। यथा—**'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो——।'** (छा० ६। ८। ७) अर्थात् वह जो सत्संज्ञक अणिमा जगत्का मूल बतलायी गयी है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। यह मन्त्र आगे आठों खण्डोंमें प्रत्येक दृष्टान्तद्वारा समझानेपर आया है।

सि० ति०—'जो तत्त्व ब्रह्म है, वही तू है। वह—*'प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥'* (७२। ७) है, वैसे तू भी यमादि साधनोंसे प्रकृतिपार (तीन अवस्था और तीन गुणोंसे पर) होकर *'निरीह बिरज अबिनासी'* ब्रह्मके समान हो जायगा। जैसे वह **'तुरीयमेव केवलम्'** है वैसे ही तू भी कैवल्यमुक्तस्वरूप हो जायगा। सेवक बननेकी क्या आवश्यकता है? इसे निर्गुण मत कहा है, क्योंकि प्रकृतिपार (गुणातीत) इसका होना फल है। आगे *'बारि बीचि इव'* से भी तात्त्विक एकता ही सिद्ध की गयी है। अभेदका अर्थ तुल्यरूपताका है, आगे स्पष्ट है; यथा—*'जीव कि ईस समान'* (दो० १११)

बाबा जयरामदास दीनजी—कुछ लोग *'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा——'* इस वाक्यको लेकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं कि श्रीगोस्वामिपादका मत भी अद्वैतवाद ही था। वे कहते हैं कि यहाँ जीव और ब्रह्मकी एकता बतायी गयी है। अतएव अद्वैतवाद है।

यहाँपर मानस-भक्तोंको सचेत होकर विचार करना चाहिये कि यह उपर्युक्त वचन हेय अर्थमें आया है या ध्येय अर्थमें। इसी बातको तो श्रीभुशुण्डिजीने स्वीकार नहीं किया और लोमश ऋषिसे बहस छेड़

दी। उन्होंने इसपर शङ्का उपस्थित करते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—*'माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।'* इतना ही नहीं; बल्कि उन्होंने जीव-ब्रह्मकी एकता सुनना भी भक्तिके विरुद्ध समझा। उन्होंने साफ-साफ कह डाला—*'राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥ सो उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया॥ भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा॥'*; इसी विवादपर क्रुद्ध होकर लोमशने उन्हें काक होनेका शाप दे दिया। उसे भी भक्तभूषण श्रीभुशुण्डिजी सहर्ष शिरोधार्य कर निर्भय उड़ चले। क्योंकि वास्तवमें विरोधरहित हृदय तो भगवद्भक्तोंका ही हो सकता है, जो अपनेको दास और सारे जगत्‌को अपने प्रभुका रूप मानते हैं, जैसा कि भगवान् शिवने कहा है—*'उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'*

इसी भावकी पुष्टि आगेके वचनों—*'सुनु खगेस नहिं कछु रिषिदूषन। उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन॥ कृपासिंधु मुनि मति कर भोरी। लीन्हीं प्रेम परिच्छा मोरी॥'* (११३। १—७)—से भी होती है। रामभक्त भुशुण्डिजी जो कुछ भी हुआ उसे अपने प्रभु रघुवंशविभूषणकी ही प्रेरणा मानते हैं; परंतु उनको ऐसा विश्वास है कि ब्रह्म-जीवकी एकताका कथन मुनिजीकी मति भोरी करके श्रीप्रभुने कराया था। यही कारण है कि उन्होंने उस कथनका सर्वथा विरोध करके और शापतक स्वीकार करके अपनी भक्तिकी दृढ़ताका प्रमाण दिखाया। ऐसे प्रसङ्गको भी अद्वैतवादके पक्षमें खींचना कहाँतक उचित है, यह विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

२ इसी तरह पूर्व दोहा ७१ के *'सो दासी रघुबीर के समुझें मिथ्या सोपि।'* इस वाक्यको लेकर उन महानुभावोंका कहना है कि यहाँ मायाको मिथ्या कहा गया है, अतः अद्वैतवाद है।

समाधान—यहाँ भी ऊपरका प्रसङ्ग *'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* (७०। ७) से लेकर *'सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड।'* (७१) तक देखिये। इसमें *'मैं अरु मोर तोर तैं माया'* जो अविद्या है, उसीका पूरा वर्णन करते हुए संसारचक्र दिखाया गया है। अतः उसीके लिये, जिसके वशमें होकर यह जीव *'मैं', 'मोर', 'तैं', 'तोर'* में पड़ा हुआ है—*'जा बस जीव परा भव कूपा', 'सो',* शब्दका इस दोहेमें व्यवहार किया गया है। जब यह *'मैं', 'मोर', 'तैं', 'तोर',* ही उसका स्वरूप है तब तो यह अज्ञानता मिथ्या मोहजन्य है ही। परंतु यह भी श्रीरामकृपाके बिना निवृत्त नहीं हो सकती; यह श्रीकाकभुशुण्डिजी प्रतिज्ञा करके कह रहे हैं। क्योंकि यह श्रीरामजीके अधीन है। *'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥'*

अतः मोह, काम, चिन्ता, श्रीमद, लोभ, यौवन, ममता, एषणा आदिको ही जिन्हें ऊपर *'माया कर परिवारा',* बताया गया है, मिथ्या कहा गया है, क्योंकि ये सब मोहमूलक हैं। इनका आभास तभीतक मिलता है जबतक श्रीरामकृपासे यह जगत् राममय नहीं भासता, जबतक *'सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'* का भाव उदय नहीं होता। अतएव यहाँ स्पष्टरूपमें मायावाद श्रीरामजीकी कृपासे उसकी निवृत्ति सूचित की गयी है।

३—इसी तरह *'मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥'* (७८। ८) को प्रमाणरूपमें पेश करके वे लोग कहते हैं कि 'यहाँ ईश्वर और जीवके भेदको मुधा (झूठा) कहा गया है, अतः इससे अद्वैतवाद सूचित होता है।'

इसके भी ऊपरके पदोंको देखिये—*'ज्ञान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर॥ जौं सबके रह ज्ञान एक रस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥ माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥ परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥'* जब ये पद ईश्वर और जीवका भेद बतानेवाले हैं तब इसी प्रसङ्गमें इसी भेदको झूठा कहकर **'वदतो व्याघात'** होना कैसे सम्भव है। अतः यहाँ यह सूचित किया गया है कि यह जगत् जो हमें भेदाभेदरूपमें भास रहा है, इसका कारण माया ही है। यद्यपि यह नानारूप जगत्‌का भेद जो मायाकृत है मुधा अर्थात् झूठा है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् एक भगवद्रूप ही है, फिर भी भगवान्‌की कृपाके बिना यह नाना-दर्शन कभी जा नहीं सकता। इसीकी पुष्टि चौपाईके

आगेके, '*रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान। ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥*—*ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥*' इन पदोंसे होती है। श्रीरामजीके भजनद्वारा उनकी कृपासे ही द्वन्द्व-दुःख हट सकता है; अन्यथा कोई चाहे ज्ञानवान् भी क्यों न हो, बिना श्रीरामभजनके अपने पुरुषार्थपर भवसागर पार करनेको दावा करनेवाला बिना सींग-पूँछका पशु ही है। जहाँ ऐसी बात है वहाँ अद्वैतवादका अर्थ करना भूल नहीं तो और क्या है?

बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा। निर्गुन मत मम हृदय न आवा॥ ७॥
पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा। सगुन उपासन कहहु मुनीसा॥ ८॥
रामभगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥ ९॥
सोइ उपदेस कहहु* करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया॥१०॥

अर्थ—मुनिने मुझे अनेक प्रकारसे समझाया पर निर्गुण मत मेरे हृदयमें न धसा॥ ७॥ चरणोंमें माथा नवाकर मैंने फिर कहा—हे मुनीश्वर! मुझसे सगुण ब्रह्मकी उपासना कहिये॥ ८॥ रामभक्तिरूपी जलमें मेरा मन मछली हो रहा है (तब) हे चतुर मुनीश! (वह उससे) कैसे अलग हो सकता है?॥ ९॥ दया करके वही उपदेश कीजिये जिससे मैं श्रीरघुनाथजीको अपनी आँखोंसे देखूँ॥ १०॥

नोट—१ '*बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा*' इति। छान्दोग्योपनिषद्‌में आरुणिके श्वेतकेतुसे कहनेपर कि 'वही तू है', उन्होंने फिर समझानेकी प्रार्थना की। उसपर आरुणिने फिर समझाया है—'**यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाꣳ रसान्समवहारमेकताꣳ रसं गमयन्ति।**'(६। ९। १) **ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति।**' (२ से लेकर)(६। १६। ३) तक जो अनेक भाँतिसे समझाया है वह सब '*बिबिध भाँति*' में आ जाता है।—प्रथम मधुका और नदियोंका दृष्टान्त देकर समझाया कि जिस प्रकार मधुमक्खियाँ मधु निष्पन्न करती हैं तो नाना दिशाओंके वृक्षोंका रस लाकर एकताको प्राप्त करा देती हैं, वे रस जिस प्रकार उस मधुमें इस प्रकारका विवेक प्राप्त नहीं कर सकते कि 'मैं इस वृक्षका रस हूँ और मैं इस वृक्षका रस हूँ; पुनः ये नदियाँ पूर्ववाहिनी होकर पूर्वकी ओर बहती हैं तथा पश्चिमवाहिनी होकर पश्चिमकी ओर। वे समुद्रसे निकलकर फिर समुद्रमें मिल जाती हैं और वह समुद्र ही हो जाता है। वे सब जिस प्रकार वहाँ (समुद्रमें) यह नहीं जानतीं कि 'यह मैं हूँ', 'यह मैं हूँ' ठीक इसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजा सत्‌को प्राप्त होकर यह नहीं जानती कि हम सत्‌को प्राप्त हो गये हैं; एवं ये सम्पूर्ण प्रजाएँ सत्‌से आनेपर यह नहीं जानतीं कि हम सत्‌के पाससे आयी हैं। इस लोकमें वे व्याघ्र, सिंह, शूकर, कीट, पतङ्ग, डाँस वा मच्छड़ जो-जो भी होते हैं वे ही फिर हो जाते हैं। वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, आत्मा है और वही तू है। (२। ९। १—४, २। १०। १—३)

वृक्षका दृष्टान्त—यदि कोई इस महान् वृक्षके मूलमें आघात करे तो यह जीवित रहते हुए केवल रस-स्राव करेगा। इसी तरह यदि मध्यमें या अग्रभागमें आघात करे तो भी रसस्राव करेगा। यह वृक्ष जीव (आत्मा) से ओत-प्रोत है और जलपान करता हुआ आनन्दपूर्वक स्थित है। यदि इस वृक्षकी एक शाखाको जीव छोड़ देता है तो वह सूख जाती है। यदि दूसरीको छोड़ दे तो वह सूख जाती है, इत्यादि। इसी प्रकार यदि सारे वृक्षको छोड़ देता है तो सारा वृक्ष सूख जाता है। इसी तरह तू जान कि जीवसे रहित होनेपर यह शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता। वह जो अणिमा है। एतद्रूप ही यह सब है""वही तू है। (६। ११। १—३)

वटवृक्षका दृष्टान्त—इस वटवृक्षका एक फल ले आ। लानेपर फोड़कर देखनेको कहा कि इसमें क्या है? शिष्यने बताया कि इसमें ये अणुके समान दाने हैं। इनमेंसे एकको फोड़कर देखनेको कहा।

* करहु—रा० गु० द्वि।

तब बताया कि इसमें कुछ नहीं है। तब आरुणिने कहा कि इस वटबीजकी जिस अणिमाको तू नहीं देखता, उस अणिमाका ही यह इतना बड़ा वटवृक्ष खड़ा हुआ है। (आगे वही मन्त्र है—वह जो यह अणिमा है एतद्रूप······) (६। १२। १—३)

लवणका दृष्टान्त—इस नमकको जलमें डालकर कल प्रातःकाल मेरे पास आना। श्वेतकेतुने वैसा ही किया। तब आरुणिने कहा कि जो नमक जलमें डाला था उसे ले आओ। किंतु उसने ढूँढ़नेपर उसे उसमें न पाया। (आरुणि—) 'जिस प्रकार वह नमक इसीमें विलीन हो गया है (इसलिये तू उसे नेत्रसे नहीं देख सकता, उसे यदि जानना चाहता है तो) इस जलको ऊपरसे आचमन कर, देख कैसा है? (उत्तर) नमकीन है। (गुरु—) नीचेसे आचमन कर। अब कैसा है? (उत्तर) नमकीन है। (गुरु—) 'अच्छा, अब इस जलको फेंककर मेरे पास आ।' उसने वैसा ही किया और बोला 'उस जलमें नमक सदा ही विद्यमान था। तब आरुणिने कहा—इसी प्रकार वह सत् भी निश्चय वहीं विद्यमान है। (आगे वही मन्त्र है)।' (६। १३। १—३)

अन्यत्रसे लाये हुए पुरुषका दृष्टान्त—जिस प्रकार जिसकी आँखें बँधी हुई हों ऐसे किसी पुरुषको गान्धार देशसे लाकर जनशून्य स्थानमें छोड़ दे। उस जगह जिस प्रकार वह पूर्व, उत्तर, दक्षिण अथवा पश्चिमकी ओर मुख करके चिल्लावे कि मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाया गया है और आँखें बँधे हुए ही छोड़ दिया गया है। (तो) उस पुरुषके बन्धनको खोलकर जैसे कोई कहे कि 'गांधार देश इस दिशामें है, अतः इसी दिशाको जा' तो वह बुद्धिमान् समझदार पुरुष एक ग्रामसे दूसरा ग्राम पूछता हुआ गांधारमें ही पहुँच जाता है, इसी प्रकार इस लोकमें आचार्यवान् पुरुष ही (सत्को) जानता है; उसके लिये (मोक्ष होनेमें) इतना ही विलम्ब है जबतक वह (देहबन्धन) से मुक्त नहीं होता। उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न (ब्रह्मको) प्राप्त हो जाता है। (आगे वही मन्त्र है) (६। १४। १—३)

मुमूर्षु पुरुषका दृष्टान्त—(ज्वरादिसे) सन्तप्त (मुमूर्षु) पुरुषको चारों ओरसे घेरकर उसके बान्धवगण पूछा करते हैं—'क्या तुम मुझे जानते हो? मुझे पहचानते हो?' जबतक उसकी वाणी मनमें लीन नहीं होती तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन नहीं होता तबतक वह पहचान लेता है। वाणी, मन, प्राण तेजके लीन हो जानेपर वह नहीं पहचानता। (आगे वही मन्त्र है) (६। १५। १—३)

चोरके तप्त परशुग्रहणका दृष्टान्त—(राजकर्मचारी) किसी पुरुषको हाथ बाँधकर लाते हैं (और कहते हैं—) इसने धनका अपहरण किया है, चोरी की है, इसके लिये परशु तपाओ। वह यदि चोरीका करनेवाला होता है तो अपनेको मिथ्यावादी प्रमाणित करता है। वह मिथ्याभिनिवेशवाला पुरुष अपनेको मिथ्यासे छिपाता हुआ तपे हुए परशुको ग्रहण करता है; किंतु वह उससे दग्ध होता है और मारा जाता है। और यदि वह उसका करनेवाला नहीं होता तो उसीसे वह अपनेको सत्य प्रमाणित करता है। वह सत्याभिसन्ध अपनेको सत्यसे आवृत कर उस तपे हुए परशुको पकड़ लेता है। वह उससे नहीं जलता और तत्काल छोड़ दिया जाता है। वह जिस प्रकार उस (परीक्षाके) समय नहीं जलता (उसी प्रकार विद्वान्‌का पुनरावर्तन नहीं होता और अविद्वान्‌का होता है)। यह सब तद्रूप ही है, वह सत्य है, वह आत्मा है और वही तू है। तब वह (श्वेतकेतु) उसे जान गया, उसे जान गया। (६। १६। १—३)

नोट—२ (क) *'मम हृदय न आवा।'* भाव कि हृदयमें तो सगुणोपासनाका वास हो रहा है तब निर्गुणके लिये जगह कहाँसे आती। (ख)—*'पुनि मैं कहउँ नाइ पद सीसा।'* एक बार पहिले कह चुके हैं, यथा—*'सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान॥'* (११०) अब दूसरी बार फिर कहा।—[*'मुनिस रघुपतिगुनगाथा कहे कछुक'* इससे यह निश्चय हो गया कि ये सगुणोपासना जानते हैं, इसीसे फिर कहा, नहीं तो न कहते। (रा० शं०)] बार-बार वही बात अपनेसे बड़ेसे दोहरानेसे उसका अपमान और कहनेवालेकी धृष्टता जनाती है। दूसरे, मुनिकी बात काटकर बीचमें अपनी बात कहना अशिष्टाचार है; अतः क्षमाके लिये *'नाइ पद सीसा कहेउ।'* पहले *'सगुन ब्रह्म अवराधन'* कहा और यहाँ *'सगुन उपासन'* इस तरह दोनोंको एकार्थी जनाया। आराधना वा अवराधन=उपासना।

३ *'रामभगति जल—किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना'* इति। (क) प्रवीणका भाव कि आप चतुर हैं, जानते हैं कि मछली जलसे अलग होकर कब रह सकती है। 'सगुणोपासना' कहकर यहाँ 'रामभक्तिजल' कहा। इस तरह सगुण-उपासना और रामभक्तिको एक ही जनाया। रामभक्तिको जल कहकर निर्गुण-ब्रह्म-उपदेशको सूखा थल जनाया। मनको मीन कहकर जनाया कि मन सगुणोपासनासे क्षणभर भी अलग नहीं होता, क्योंकि वह तो उसका जीवन है तब दूसरी बात कैसे सुन सकता हूँ। ☞ इन वाक्योंसे अपनेको अति आर्त्त अधिकारी जनाया जिसमें अवश्य कहें, संकोच न करें। मीनका जैसा प्रेम जलमें है ऐसा किसीका नहीं, यह बात कविने दोहावलीमें थोड़े ही शब्दोंमें बहुत कुछ स्पष्ट कह दिया है।

वि० टी०—*'रामभक्ति जल मम मन मीना।—'* में यह शंका हो सकती है कि 'जब विप्रका मन मछलीकी नाईं रामतत्त्वरूपी जलमें पड़ रहा था तो फिर अधिक उपदेशकी क्या आवश्यकता थी?' उसका समाधान यह है कि श्रीरामचन्द्रजी परब्रह्म हैं और उनकी भक्ति जलवत् कही है। तथापि वह भक्ति पूर्णरूपसे स्थिर नहीं हुई थी और उसमें विप्रके मनरूपी मच्छको चारा नहीं मिला था अर्थात् उसे श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन नहीं हुए थे। इस हेतु जबतक भक्ति पक्की न हो और मन संतुष्ट न हो तबतक उपदेशकी बारम्बार आवश्यकता रहती है। तभी तो विप्रकी प्रार्थना मुनिजीसे यह थी कि—*'सो उपदेस करहु करि दाया॥ निज—।'*

नोट—४ *'सोइ उपदेस कहहु—निज नयनन्हि देखौं रघुराया'* यहाँ कहा और पूर्व कहा है कि *'रामचरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं॥'* इससे जनाया कि सगुण ब्रह्मकी उपासनासे मुख्य यही तात्पर्य था। *'निज नयनन्हि देखौं'* अर्थात् दर्शन बिना मैं अपना जन्म सफल नहीं मान सकता। पुनः भाव कि अनुभवसे नहीं, ध्यानसे नहीं, वरन् चक्षु इत्यादिसे प्रत्यक्ष देखूँ।

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा॥ ११॥
मुनि पुनि कहि हरि कथा अनूपा। खंडि सगुन मत अगुन निरूपा*॥ १२॥

अर्थ—पहले अवधपति श्रीरघुनाथजीको नेत्रभर देखकर तब निर्गुणब्रह्मका उपदेश सुनूँगा॥ ११॥ मुनिने फिर अनुपम हरिकथा कहकर सगुणमतका खण्डन कर निर्गुणमतका निरूपण (प्रतिपादन, सिद्धान्त) किया॥ १२॥

नोट—१ *'भरि लोचन बिलोकि—'* इति। (क) *'भरि लोचन'*, यथा—*'भरि लोचन छबिसिंधु निहारी।'* (१। ५०। २) *'यह उत्सव देखिअ भरि लोचन॥'* (१। ८८। १) *'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन।'* (१। १४६। ६) *'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना।'* (२११ छंद) *'भरि लोचन छबि लेहु निहारी।'* (१। २४६। ३) इत्यादिमें जो भाव है वही यहाँ है। अर्थात् अघाकर देखकर, बहुत अच्छी तरह इन नेत्रोंसे जी भरकर दर्शन करके। नेत्रोंमें उस रूपको दर्शन करके भर लूँ तब। (ख) *'अवधेसा'* अर्थात् रघुकुलमें जो अवतार लेकर राजा हुए उस अवधपति रूपका दर्शन करना चाहता हूँ, अन्य किसी रूपका नहीं। (ग) *'तब सुनिहौं—'* का भाव कि जबतक सगुणरूप श्रीअवधेशरूपका साक्षात् दर्शन न हो जायगा, तबतक मैं दूसरी बातका उपदेश न सुनूँगा। आप निर्गुण निरूपणका व्यर्थ परिश्रम न करें। इससे दिखाया कि दर्शनकी कैसी उत्कट लालसा है।

२ ☞ दर्शनकी उत्कट लालसा है, यह बारंबार कहकर जनाया है। (१) *'रामचरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सुफल करि लेखौं॥'*, (२) *'सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान।'*, (३) *'सगुन उपासन कहहु—'*, (४) *'सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया॥'*, (५) *'भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा॥'*

सि० ति०—*'तब सुनिहउँ—'*—यह कथन वास्तवमें व्यंग्यसे उपेक्षापरक है, जैसे कहीं सत्सङ्गमें कोई अपनी ही कविताकी बार-बार बड़ाई करके उसीको बार-बार सुनाता है। तब कोई आवश्यक प्रसङ्ग रुका

* निर्गुन रूपा (का०)।

हुआ देखकर लोग कह देते हैं कि अच्छा मैं इसे चलते समय नोट कर लूँगा, अब अमुक प्रसङ्ग होने दीजिये। अन्यथा विचार किया जाय कि जब श्रीकाकजीको सगुणके साक्षात् दर्शन भी हो गये। तब श्रीलोमशजीके पास निर्गुण उपदेश लेनेके लिये क्या काकजी आये? २७ कल्प तो बीत गये। पूर्व बिना पहिचानके आये थे, अब तो गुरुका नाता भी हो गया। पर सगुण-दर्शनके पीछे श्रीकाकजीने निर्गुणमतकी चर्चा भी नहीं की। क्या करें? जनक-विश्वामित्र-संवाद बा० २१५ देखिये, तथा *'ब्रह्मानंद हृदय दरस सुख लोयननि अनुभये उभय सरस राम जाने हैं।'* (गी० १। ५९) *'अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्म सुख सौ गुन दिये।* (जा. मं. ४५) अर्थात् निर्गुणके ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा सगुण दर्शनका आनन्द सौगुणा है।

नोट—३ *'पुनि कहि हरिकथा अनूपा—'* अर्थात् जैसे पूर्व कहा था वैसे ही फिर कहा और कहकर फिर उसका खण्डन किया कि यह नित्य नहीं है नैमित्त है। नित्य एकरस निर्गुण ही है। पुनः इस तरह खण्डन किया कि सगुणमें हानि-लाभ, शोक-मोहादिक व्यवहार देखे जाते हैं। तब भला वे उपासकोंके चित्तसे हर्ष-शोकादि कैसे दूर कर सकते हैं। अतः निर्गुणका ही ध्यान श्रेष्ठ है—(पं०)। अवतार मायासे होता है, अनित्य है, थोड़े दिन रहकर पूर्व निर्गुण ब्रह्ममें लय हो जाता है, इत्यादि।—विशेष ११२ (१२) में देखिये।

तब मैं निर्गुन* मत करि दूरी। सगुन निरूपौं करि हठ भूरी॥१३॥
उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा॥१४॥

अर्थ—तब मैं निर्गुणमतको दूर (खण्डन) कर बहुत हठ करके सगुण मतका निरूपण करता॥ १३॥ मैंने उत्तर-प्रत्युत्तर किया अर्थात् उत्तर-पर-उत्तर दिया। मुनिके शरीरमें क्रोधके चिह्न उत्पन्न हो गये॥ १४॥

प०—सगुणका निरूपण करता, इस भाँति कि जो रूप-रेखसे परे है उसका ध्यान क्या और अरूप-अरेखमें स्थित भय सुख क्या? सगुणके दर्शन अमृत वचन-श्रवण, सारूप्यादि मुक्तिमें सुख प्रत्यक्ष है।

वै—*'तब मैं'* अर्थात् प्रथम मैंने विनीतभावसे जिज्ञासु बनकर प्रश्न किया। उसका उन्होंने परिपूर्ण समाधान न किया। फिर दूसरी बार मैंने आर्त अर्थार्थी होकर प्रश्न किया तब भी जब मुनि खण्डन करने लगे तब मैंने विचारा कि मैं तो इनको आचार्य मान प्रश्न करता हूँ और ये मेरे प्रतिपक्षी होकर मेरे इष्टकी न्यूनता दरसाते हैं। तहाँ भक्तिपक्षकी ऐसी रीति है यथा शिवसंहितायाम् (कि)-**'रामादन्यं परं श्रेष्ठं यो वै पाण्डित्यमात्रतः। संतमहृदयं तस्य जिह्वां छिद्याम्यहं मुने॥'** ऐसा विचारकर मैंने निर्गुणमतको खण्डन कर दूर कर दिया और फिर उन्हींके वचनोंसे बड़े हठपूर्वक सगुणको सर्वोपरि निरूपण करूँ।—

इस तरहकी जो आपने **'तत्त्वमसि'** *'सो तैं—'* कहा सो उसका अर्थ इस प्रकार है—**'तत्कोऽर्थः, तस्य ईश्वरस्य त्वम् असि भवसीत्यर्थः, तेन जीवेश्वरयोरेव अनादिसम्बन्धः, तस्य कस्य परात्परपरब्रह्मणः श्रीरामचन्द्रस्य मुख्यत्वेन ननु श्रीरामचन्द्रे एव जीवानां मुख्यसम्बन्धः'** अर्थात् हे जीव! परब्रह्म श्रीरामजीमें और तुझमें अंशी-अंश, प्रकाशी-प्रकाश, शेषी-शेष, स्वामी-सेवक इत्यादि सम्बन्ध अनादि कालसे है। पुनः जो आपने *'ताहि तोहि नहिं भेदा'* में **'अयमात्मा ब्रह्म'** प्रमाण दिया (सो सुनिये)—**'तत्र अयं शब्दः शान्ताः, तकारस्य निर्देशत्वात् क्षेत्रज्ञे प्रविशति, महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।'** अर्थात् यह शरीर क्षेत्र है जिसमें क्षेत्रज्ञ जीव बसता है सो महाभूत अहंकार बुद्धिके वश इन्द्रिय-विषय, इच्छा-द्वेष, सुख-दुःखमें पड़ा है......।

२—*'उत्तर प्रति उत्तर'* यथा मुनि बोले कि श्रुति-स्मृति कहती है कि जैसे पुरुष एक है पर दर्पणमें दूसरा रूप देखता है, जलमें चन्द्रमा नाना रूपसे जो देख पड़ता है सो तो शून्य है; क्योंकि वह न तो घटे,. न बढ़े, न भीगे, वैसे ही परमात्मा भी आत्मारूपसे जीवोंके अन्दर व्याप्त है। जीव और आत्माके धर्म विलग हैं। पुनः, बोले कि जैसे घटाकाश-महाकाशके नाश होनेपर केवल आकाश रहता है, वैसे ही यावत् अज्ञान दशा है तावत् भेद देख पड़ता है। जबतक भेदबुद्धि है तबतक जन्म-मरण नहीं छूटेगा। अतएव भ्रमको त्यागकर एक ब्रह्म ही निश्चय मानो। स्वयंप्रकाश ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई नहीं इत्यादि।

* निर्गुन मति—ना० प्र०।

इसके उत्तरमें मैंने कहा कि जब दूसरा है ही नहीं तब उपदेश कैसा? उपदेशसे तो सिद्ध-साधकता स्पष्ट है। अतएव जीव और ईश्वरमें भेद प्रत्यक्ष है और ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं है। तदर्थ श्रुति जीवोंको उपदेश देती है। क्योंकि हर्ष-विषादादि जीवोंके धर्म सदा उनमें रहते हैं और ईश्वर सच्चिदानन्द अखण्डज्ञानरूप है। अत: ईश्वर-जीवका एकत्व सम्भव नहीं।-(वै०)।

नोट—लोमश-भुशुण्डि-वाद कुछ इस प्रकार कहा जाता है—(कथासे)—

मुनि—'*खंडि सगुन मत*……।' (प्रथम सगुन कह गये। फिर) कहा कि तीन प्रकारके चेतन हैं—१ ब्रह्म, २ ईश्वर, ३ जीव। सर्वव्यापक, निर्लेप, आकाशवत्, सर्वगत, निर्विशेष ब्रह्म मायामें प्रतिबिंबित होनेसे मायाको ग्रहण करनेसे मायोपाधित 'ईश्वर' कहा जाता है और जो अविद्योपाधित है वह 'जीव' है। ब्रह्म ही अविद्याके नाना रूपोंमें प्रतिबिम्बित होनेसे जीव कहलाता है। अत: ईश्वरकी भी उपासना मायिक ही ठहरी। इसकी उपासनासे केवल चित्तकी एकाग्रता होना इतना ही उपयोग है। इससे सगुणोपासना करनेवालोंको कुछ कालमें निर्विशेष ब्रह्मके बोध होनेसे मुक्ति होती है। सगुणोपासना अन्तमें आप-से-आप छूट जाती है। अत: जो सर्वगत निरतिशयानन्द ब्रह्मकी प्रथमसे ही उपासना करते हैं वे सगुणोपासककी अपेक्षा शीघ्र संसारसे छूटकर ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। क्योंकि ब्रह्म ही मायोपाधिक ईश्वर और अविद्योपाधिक जीव हुआ है।

विप्र—(काकभुशुण्डिजी बोले कि) महाराज! मायाको ब्रह्म ग्रहण करता है कि माया ब्रह्मको ग्रहण करती है? यदि मायाको कहिये कि वह ब्रह्मको ग्रहण करती है तो माया जड़ है उसमें ब्रह्मको ग्रहण करनेकी शक्ति कहाँ? यदि कहिये कि ब्रह्मने मायाको ग्रहण किया तो मायासे ब्रह्मका कुछ प्रयोजन नहीं, वह तो आनन्दस्वरूप है। मायाको ग्रहण कर ही नहीं सकता।—(उत्तरमें) मुनि चुप रहे।

विप्र—(तब फिर प्रश्न किया कि) माया ब्रह्मसे भिन्न है कि ब्रह्ममें है? यदि ब्रह्ममें है तो माया हमारेमें है यह ब्रह्म जानता है कि नहीं? यदि जानता है, तो ब्रह्म ज्ञानवान् है केवल ज्ञानमात्र निर्विशेष कैसे? यदि नहीं जानता है तो बिना जाने अङ्गीकार कैसे करता है? और फिर ब्रह्ममें अज्ञपना भी आ गया।

मुनि—माया अनादि है।

काक—तब तो माया और ब्रह्म दो अनादि हुए, अद्वैत कैसे? (मुनि उत्तर न दे सके।)

विप्र—आपने कहा है कि मायामें ब्रह्म प्रतिबिम्बित है तो प्रतिबिम्ब साकार वस्तुका होता है। ब्रह्मको निराकार कहते हैं कि साकार? (उत्तर) मुनि—निराकार।

विप्र—निराकारका प्रतिबिम्ब कहीं देखा गया है? (उत्तर) मुनि—नहीं।

विप्र—तब निराकार परब्रह्मका प्रतिबिम्ब मायामें कैसे? (मुनि चुप रहे।)

विप्र—ब्रह्म सविशेष है कि निर्विशेष? (उत्तर) मुनि—निर्विशेष।

विप्र—निर्विशेषका बोधक शब्द कौन है? (उत्तर) मुनि—**ज्ञानमात्रं ब्रह्मेति।**

विप्र—ज्ञान, यह '**ज्ञा अवबोधने**' इस धातुसे बनता है। कर्णमें 'ल्युट्' प्रत्यय है। अन आदेश होनेसे ज्ञानशब्द बना। तो यह तो प्रकृति-प्रत्ययके योगसे निर्विशेषका बोधक नहीं हो सकता।

मुनि—निर्विशेषका अर्थ तुम क्या करते हो?

विप्र—निर्विशेष निराकार इत्यादि शब्द किसी विशेषणसे विशिष्ट वस्तुको दूसरे वस्तुमें विशेषणके निषेधको बोधन करते हुए ब्रह्मका बोधक है।……इत्यादि।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'***उत्तर प्रति उत्तर***'—मुनिने '**तत्त्वमसि**' महावाक्यके अर्थरूपमें '***सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव***……' कहा है, मुनिका अर्थ इस अर्धालीके प्रसङ्गमें कहा गया। श्रीभुशुण्डिजीने प्रति-उत्तर रूपमें ऐसा अर्थ किया कि—वाक्यके गूढ़ अभिप्राय प्रकट करनेके लिये ही उपमा दी जाती है। '***बारि बीचि इव***' यह उपमा 'तत्त्वमसि' के भावको प्रकट कर देती है। **तत्-त्वम्-असि** अर्थात् वही तू है। इसका अर्थ श्रुतिके प्रकरणके अनुसार करना चाहिये। पूरी श्रुति इस प्रकार है; यथा—'**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।**' (छां० ६। ८। ७) अर्थात् यह जो अणिमा

है एतद्रूप (ब्रह्मात्मक) ही यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। इसके पूर्वकी श्रुति '**यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन।**' (छां० ६। १) में सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म जगत्का कारण कहा गया। उसीको आगे '***सदेव सौम्य……।***' (छां० ६। २) इस श्रुतिमें सत् संज्ञासे कहा गया। पुन: '**तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय।**'(छां०६। २। ३) में '***तत्***' शब्दसे कहा गया। उसी **तत्** शब्दसे कहे हुए सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मको यहाँ भी 'तत्' शब्दसे कहा है और '**त्वम्**' शब्द श्वेतकेतुके लिये है। अत: '**तत्त्वमसि**' का अर्थ हुआ—वह ईश्वर तू है। सर्वज्ञ ईश्वर और अल्पज्ञ जीवका प्रत्यक्ष ऐक्य देखा नहीं जाता। अत: सत्यवादिनी श्रुतिका अभिप्राय यहाँ कुछ विशेष अर्थसे है—वह यह कि जो 'सत्' एक है वही अनेक प्रकारका हुआ और जैसा एक है वैसा ही अनेक है। एकका नाम 'सत्' ही उचित है और उसीके अनेक होनेपर अनेकका एक ही 'ब्रह्म' ऐसा नाम चल सकेगा। जब आकार भिन्न हुए तब व्यवहारके लिये उन आकारोंके भिन्न-भिन्न नाम रखे गये। जैसे इससे पूर्वके 'मृत्पिण्ड' के विकारोंके नामोंके दृष्टान्तसे कहा गया है।

स्पष्टार्थ यह हुआ कि जो 'सत्' प्रलयमें एक ही था—वही तू (श्वेतकेतु आदि जो नाना हुए हैं) है। सत् चिदचित्से विशिष्ट और तू भी चिदचित्से विशिष्ट है। जगत्के सब व्यष्टि आकार चिदचित्विशिष्ट ही हैं। प्रत्येक प्राणी देह (अचित्) जीवात्मा (चित्) और अन्तर्यामी ब्रह्म-(ईश्वर-) से विशिष्ट रहते हैं। शरीरी ब्रह्मके प्राधान्यसे शरीररूप चिदचित् भी ब्रह्म संज्ञासे कहे जाते हैं। इस तरह श्वेतकेतुको ब्रह्मका शरीर एवं नियाम्य कहकर गुरुजीने उसका अहंकार दूर किया कि शरीरके गुण, विद्या आदिके वैभव शरीरीके ही हैं, शरीररूपी जीवको उनका अभिमानी नहीं होना चाहिये। यह प्रसङ्ग उद्दालक महर्षिजीने अपने पुत्र श्वेतकेतुके विद्याके अहङ्कारको दूर करनेके लिये ही छेड़ा था।

पाँ०—'***मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा।***' इति। भाव कि मुनि कहनेको थे तो मननशील और हो गये क्रोधके रूप। (क्रोधके चिह्न यह कि नेत्र लाल हो गये, होंठ फड़कने लगे, शरीरपर क्रोधकी लालिमा आ गयी इत्यादि)।

सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किए। उपज क्रोध ज्ञानिन्ह* के हिए॥ १५॥
अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चंदन† ते होई॥ १६॥

शब्दार्थ—**अवज्ञा**=अनादर, अपमान।

अर्थ—हे प्रभो! सुनिये। बहुत अनादर करनेसे ज्ञानियोंके हृदयमें भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है॥ १५॥ यदि कोई चन्दनकी लकड़ीको (आपसमें) अत्यन्त रगड़े तो उससे (भी) आग प्रगट हो जायगी॥ १६॥

प० प० प्र०—१ '***उपज क्रोध ज्ञानिन्ह के हिए***' इति। यहाँ संत वा साधु शब्द न देकर सूचित किया कि ज्ञानियोंके हृदयमें क्रोध उत्पन्न हो जाता है, किंतु ज्ञानी रामभक्तोंके, संतोंके हृदयमें क्रोध नहीं उपजता, उन्हें तो '***निंदा अस्तुति उभय सम***' होते हैं यह श्रीमुखवाक्य है। विशेष '***क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु।***'(१११) में देखिये।

२ '***अनल प्रगट चंदन ते होई***' इति '***सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा***' सिद्धान्तवाले लोमशमुनि चन्दन हैं। उत्तरप्रत्युत्तररूपी संघर्षण करनेसे अग्निका प्राकट्यसूचक धूमरूपी क्रोधके चिह्न प्रकट हुए। अब थोड़ी ही देरमें शापरूपी अग्नि प्रकट होगी।

नोट—१ ज्ञानी चन्दनसमान शीतल होते हैं। पर जैसे चन्दनमें अग्नितत्त्व गुप्त है वैसे ही ज्ञानीके हृदयमें भी क्रोधादि सूक्ष्मरीतिसे दबे हुए वर्तमान हैं। अपने ज्ञान-वैराग्य-शमदमादिसे उन्होंने काम-क्रोधादिको दमन कर रखा है। पर वे अति सूक्ष्मरूपसे भीतर मौजूद हैं—'***बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे।***' 'अति विषय' पाकर प्रकट हो जाते हैं क्योंकि यह जीवका धर्म ही है। चन्दनके साधारण रगड़से अग्नि नहीं निकलती, जब अत्यन्त रगड़ होगी तभी उसमेंसे अग्नि प्रकट होगी; वैसे ही ज्ञानी भी क्षमाशील और शीतल होते हैं, साधारण अवज्ञासे उन्हें क्रोध कभी नहीं हो सकता जब अवज्ञा अतिको प्राप्त होती है तभी क्रोध उत्पन्न होता है। '***प्रगट***'

* ज्ञानिहु—रा० गु० द्वि०, का०। † चंदनहु—का०।

का भाव कि गुप्तरूपसे तो सदा बनी रहती है, प्रकट नहीं देख पड़ती। यहाँ दृष्टान्तालङ्कार है।

वि० टी०—अतिशय संघर्षणके कारण साधुओंको भी क्रोध करना उचित बताया गया है। जैसा कि महाभारतके वनपर्व (२८। ६। ८) में लिखा है—'**न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।……तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता।**' अर्थात् न तो सदा क्रोध ही कल्याणकारी होता है और न सदा क्षमा करना ही श्रेयस्कर है। इस हेतु सदा क्षमा करनेका भी पण्डित लोग निषेध करते हैं।

यद्यपि आगे चलकर गोस्वामीजी लिखते हैं कि '*सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन।*……' इत्यादि, तथापि उनका यहाँका कथन भी यथार्थ है। बहुत अवज्ञा करनेपर ज्ञानीके हृदयमें क्रोध आ जाता है, इसकी पुष्टि भी वे '*अति संघर्षन*……' से करते हैं। जबतक जीवका सम्बन्ध मायासे है अथवा यों कहिये कि ज्ञानसम्पादन कर ममता, मोह आदिको लोग अपने वशमें कर लेते हैं, तथापि देहका सम्बन्ध जबतक जीवके साथ रहता है तबतक सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण कुछ-कुछ अंशमें बने ही रहते हैं। इस प्रकारकी असावधानीसे ये गुण विशेषकर तमोगुण (जिसके कारण मनुष्यके हृदयमें क्रोध उत्पन्न होता है) अवसर पाकर प्रबल हो उठता है जैसा कि इसी काण्डमें लिखा है—'*बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय*……।'

दो०—बारंबार सकोप मुनि करै निरूपन ग्यान।
मैं अपने मन बैठ तब करौं बिबिधि अनुमान॥
क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु* द्वैत कि बिनु अग्यान।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान॥१११॥

अर्थ—मुनि बारम्बार क्रोधसहित (क्रोधावेशमें) ज्ञानका निरूपण करते थे। तब मैं बैठे-बैठे अपने मनमें अनेक प्रकारके अनुमान करता कि बिना द्वैतबुद्धिके क्या क्रोध हो सकता है? द्वैत क्या बिना अज्ञानके हो सकता है? (इसी तरह) क्या मायाके वश परिच्छिन्न, जड़ जीव ईश्वरके समान हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं॥ १११॥

नोट—१ क्रोध मुनिको हुआ; अतएव '*क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु*' इसी प्रसङ्गसे अपर विचार मनमें आये जो वे आगे कहते हैं—(खर्रा)। २—'*द्वैतबुद्धि बिनु*'=अपनेसे पृथक् दूसरेको माने बिना। भाव कि जब प्राणी यह मानेगा कि मैं एक व्यक्ति हूँ और यह या वह मुझसे भिन्न दूसरा व्यक्ति है तभी उसे दूसरेपर क्रोध आ सकेगा, अन्यथा नहीं। मुनि सबको ब्रह्म बतलाते हैं, एकसे दूसरा नहीं बताते। इसीपर यह विचार करते हैं कि जब दूसरा है ही नहीं तब मुनि क्रोध क्यों और किसपर करते हैं, अतः यह निश्चय है कि जीव ब्रह्म नहीं है, वह तो माया-आवरणसे ढका हुआ है, कथनमात्रसे वह क्या ईश्वरके समान हो सकता है? कदापि नहीं।

'*द्वैत कि बिनु अग्यान*' इति। ज्ञानका लक्षण यह है कि '*देख ब्रह्म समान सब माहीं।*' सबमें परमात्माको देखनेसे द्वैतभाव नहीं रह जाता। ज्ञानरहित होनेपर अविद्यामायाके वश होनेसे ही द्वैतबुद्धि आयेगी। ज्ञान रहते द्वैतबुद्धिका अभाव रहेगा, वह ज्ञानी भक्त अपने ही प्रभुको सबमें देखेगा, सबमें प्रभु हैं, मैं सबका सेवक हूँ तब क्रोध कैसा? यथा—'*निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।*'

पं० श्रीकान्तशरणजी—अज्ञानसे द्वैत होता है और द्वैतसे क्रोध। ज्ञानके विरुद्ध वृत्तिको अज्ञान कहते हैं। सबमें परमात्माको समान देखनेसे द्वैतभाव नहीं रहता। सब जीव भगवान्‌के शरीर हैं। अतः जीवोंके द्वारा सुख-दुःखकी प्राप्ति उन-उन कर्मानुसार भगवान्‌की प्रेरणासे होती है। प्रभु सर्वज्ञ एवं न्यायशील हैं, अतः सब ठीक ही करते हैं। ऐसा विचार रहनेसे किसीसे भी शत्रु-मित्र आदि भाव नहीं होते। क्योंकि फिर कोई जीव प्रीति-वैरका कर्ता नहीं रह जाता।

* 'द्वैतबुद्धि बिनु क्रोध किमि' (का०)। भाव कि कहते भर हैं, उसपर आरूढ़ नहीं।

द्वैत तो नानात्वदृष्टिसे होता है, यथा—'*जननि जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी। द्वैत रूप तम कूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारी॥*' (वि० १११) अर्थात् जननी आदि इन सब रूपोंके द्वारा सब प्रकारसे हित करनेवाले आप ही हैं; ये सब आपके शरीर हैं। इस ऐक्यदृष्टिके विरुद्ध द्वैतरूप अर्थात् उन्हें पृथक्-पृथक् सत्तावान् माननेपर उन-उनके ऋणी होनेसे तमकूप-(अज्ञानमय भवकूप-) में पड़ूँगा, इस द्वैतरूप अज्ञानसे रक्षाका यत्न विचारिये—यह प्रार्थना है।

तात्पर्य यह कि नानात्वदृष्टि ही अज्ञान है, उसीसे द्वैत होता है और द्वैतसे क्रोध; यथा '*जौं निज मन परिहरै बिकारा। तौ कत द्वैत जनित संसृत दुख संसय सोक अपारा। शत्रु मित्र मध्यस्थ तीन ये मन कीन्हें बरिआई। त्यागब गहब उपेक्षनीय अहि हाटक तृन की नाई॥*' (वि० १२४)

प० प० प्र०—'*क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु*' इति। (क) यहाँसे यह विप्र अनेक अनुमान करता है। पर इसका भाव यह नहीं है कि ये सभी अनुमान सिद्धान्त हैं। इनमेंसे कई अनुमान सत्य (संवादी भ्रम) हैं और कुछ असत्य (विसंवादी भ्रम) हैं। अद्वैतबुद्धि स्थिर होनेपर भी कभी-कभी प्रारब्ध-कर्म संयोगवश, कभी ईशप्रेरणावश क्रोधादि विकारोंकी क्रिया होती है। नारदजीने प्रत्यक्ष भगवान्‌को ही शाप दिया है। वृत्रासुर ब्रह्मनिष्ठ था पर उसने तो अनुचित अत्याचार भी किये हैं। सहस्रार्जुन भी भगवान् दत्तात्रेयके शिष्य थे, ब्रह्मनिष्ठ थे पर उन्होंने भी जमदग्नि ऋषिपर अत्याचार किया। अत: '*क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु*' यह निरपवाद सिद्धान्त नहीं है। नारदजी विशिष्टाद्वैती मानो या अद्वैती, उन्होंने नलकूबर-मणिग्रीवको शाप दिया है। रघुपतिको लङ्का और पंचवटीमें क्रोध हुआ है। सारांश यह है कि संत या ज्ञानीकी पहचान बाह्य लक्षणोंसे करनेमें धोखा रहता है। लोमश, नारद, अगस्त्य आदि महापुरुष कारण पुरुष होते हैं, ईश्वरी प्रेरणारूपी माया उनको निमित्त करके अघटित घटना कराती है।

रा० बा० दा०—भुशुण्डिजी तर्क करते हैं कि लोमश ऐसे विज्ञानी चिरंजीवीको क्रोध आ गया। इससे सिद्ध है कि जीवमें अज्ञानकारण सूक्ष्म बना रहता है, काल पाकर जाग्रत् हो जाता है। इसीसे जीव मायावश दीन हो रहा है, तब वह ईश कैसे हो सकता है।……यदि कोई कहे कि उन्होंने शिक्षा-भावमें क्रोध किया है तो यह भी नहीं बनता क्योंकि अज्ञानी शिष्यपर ही शिक्षा सम्भव है और जो मतवादी है उसपर शिक्षा-भाव कैसा।

नोट—'*मायाबस परिछिन्न जड़*……' इति। ईश्वर स्वतन्त्र है, जीव मायावश परतन्त्र होकर जड़ हो रहा है। परतन्त्र स्वतन्त्रके समान कैसे हो सकता है? यहाँ विशिष्टाद्वैतका प्रतिपादन किया है। अर्थात् ईश्वर, जीव और माया तीनोंकी स्थिति पृथक्-पृथक् दिखायी है। 'परिच्छिन्न'=सीमायुक्त, परिमित=पृथक् किया हुआ—(श० सा०)। इस तरह भाव हुआ कि वह ईश्वरसे अलग है। इस प्रकार भाव यह है कि जीव मायावश होनेसे अहङ्कारी हो गया, कर्माभिमानी होनेसे भगवान्‌से विमुख हो गया, देह-गेहको अपना मानने लगा, यहाँतक मायासे गाँठ जोड़ ली कि स्वयं अपनेको देह मानने लगा, देहाभिमानी हो गया। यथा—'*जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो॥ माया बस स्वरूप बिसरायो।*……*तैं निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्हो। अपनेहि करनि गाँठि हठि दीन्ही॥ ताही तें परबस परयो अभागे॥*' (वि०१३६) यही सब भाव '*मायाबस परिछिन्न*' में है। देहाभिमानी होनेसे अपनेको देह माननेसे 'जड़' कहा गया, क्योंकि देह जड़ वस्तु है, पंचभूतोंसे रचित है। '*जीव कि ईस समान*'—१। ६९ में देखिये, वहाँ विस्तारसे लिखा गया है। जीव परतन्त्र है, मायाके वश हो जानेवाला है, उसके वश होनेसे वह देहाभिमानी, कर्माभिमानी है। यथा—'*मायाबस्य जीव सचराचर।*' '*मायाबस्य जीव अभिमानी*' (७८। ४, ६) और ईश्वर स्वतन्त्र है, माया उसके वशमें है, वह प्रभुसे सदा डरती रहती है, उनके इशारेपर नाचनेवाली है, यथा—'*परबस जीव स्वबस भगवंता॥*' (७८। ७) '*ईस बस्य माया गुनखानी॥*' (७८। ६) '*बंध मोच्छप्रद सर्ब पर माया प्रेरक सीव॥*' (३। १५) '*देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥*' (१। २०२) '*सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥*' (७२। २) ईश्वर उसके वशमें नहीं हैं, वे तो उससे परे हैं। यथा '*प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी॥*' (७२। ७) '*माया मोह पार परमीसा॥*' (५८। ७) '*माया खलु नर्तकी बिचारी॥*' (११६। ४) जीव बन्धनमें पड़ता है, ईश्वर उसे छुड़ा देता है। यथा—'*बंध*

मोच्छप्रद॥' (३। १५) इत्यादि। अत: जीव ईश्वरके समान कैसे हो सकता है। [रा० प्र०—***'परिछिन्न——'*** अर्थात् मायाके वश उसीके घेरेमें पड़ा चारों ओरसे भली प्रकार छिपा है और उसी प्रकार जड़-सा हो गया।] ☞ इस प्रसङ्गभरमें 'प्रत्यक्षप्रमाण' 'वक्रोक्ति' और 'प्रथमविनोक्ति' अलङ्कारोंकी संसृष्टि है।

कबहुँ कि दुख सबकर हित ताके। तेहि कि दरिद्र परसमनि जाके॥ १॥

परद्रोही कि होहिं नि:संका*। कामी पुनि कि रहहिं अकलंका॥ २॥

बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हे। कर्म कि होहिं स्वरूपहि† चीन्हे॥ ३॥

अर्थ—सबका भला चाहनेसे क्या कभी दु:ख हो सकता है? जिसके पास पारसमणि है क्या उसे दारिद्र्य (कंगालपन) सता सकता है॥ १॥ क्या परद्रोही निश्शंक हो सकता है? और क्या कामी कलंकरहित रह सकते हैं?॥ २॥ क्या ब्राह्मणका अनभल करनेसे वंश रह सकता है? (अर्थात् नहीं रह जाता, उसका नाश अवश्य होता है) क्या अपना स्वरूप पहिचान लेनेपर कर्म हो सकते हैं?॥ ३॥

नोट—१ (क) ***'कबहुँ कि दुख सबकर हित ताके'*** इति। परहित करना धर्म है यथा—***'परहित सरिस धर्म नहिं भाई॥'*** (४१। १) धर्मसे सुख होगा—दोहा २० देखिये (ख) ***'तेहि कि दरिद्र——'*** यथा—***'डरहु दरिद्रहि पारस पाये'***—अ० २१० (२) देखिये (ग) ***'परद्रोही कि होहिं नि:संका।'*** दूसरेसे जो द्रोह करता है उसे स्वयं भी शत्रुसे भय रहता है कि वह मेरा कुछ अहित न करे।—***'ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहु मन बिश्राम। भूतद्रोहरत——॥'*** (६। ७८) (घ) ***'बंस कि रह——'*** यथा—***'दहइ कोटि कुल भूसुर रोसू॥'*** (१२६। ४) ***'जिमि द्विजद्रोह किए कुल नासा॥'*** (४। १७। ८) क्योंकि एक तो वे अपने तेजसे बलवान् हैं, दूसरे भगवान् उनका अपमान सह नहीं सकते। उनके लिये तो अवतार लेते हैं—***'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।'*** तब भला विप्रद्रोही उन्हें कब भावेगा। यथा—***'मोहि न सोहाइ बिप्रकुल द्रोही॥'*** (३। ३३। ८)

नोट—२ आशय यह है कि आत्मस्वरूप जान लेनेपर वह सदा आत्मासे ही रमण करता हुआ उसीमें तृप्त और उसीमें सन्तुष्ट रहता है। आत्माके अतिरिक्त उसे ज्ञानयोग या कर्मयोगरूप साधनोंकी अपेक्षा नहीं रहती। उसके धारण-पोषण और भोग आदि सब कुछ आत्मा ही है। उसके लिये अब कुछ भी कर्तव्य नहीं है। रह गयी यह बात कि कोई मनुष्य बिना कर्मके रह ही नहीं सकता तो उसके सम्बन्धमें यह जान लेना चाहिये कि उसके द्वारा जो भी कर्म देखनेमें आते हैं वे सब कामना और संकल्पसे रहित होनेसे वे भुने हुए बीजके समान शुभाशुभ फलदाता नहीं हो सकते, यही बात भगवान्‌ने गीतामें कही है—**'यस्य सर्वे समारम्भा: कामसंकल्पवर्जिता:। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं——॥'** (४। १९)

वे कर्म उसके द्वारा बिना ही किसी अपने प्रयोजनके (यदि वह प्रवृत्तिमार्गवाला है तो लोकसंग्रहके लिये और निवृत्ति मार्गवाला है तो जीवन-यात्रा-निर्वाहके लिये) केवल चेष्टामात्र ही क्रिया होती है। (श्रीशाङ्करभाष्य) उसके कर्म प्रकृतिसे पृथक् आत्मस्वरूपके अनुसन्धानपूर्वक किये जानेके कारण वे कर्म संकल्पसे रहित होते हैं। (प्रकृति और प्रकृतिके गुणोंके साथ आत्माकी एकता करके समझनेका नाम 'संकल्प' है। (श्रीरामानुजभाष्य) ऐसा पुरुष कर्ममें प्रवृत्त हुआ भी कुछ नहीं करता; क्योंकि वह नित्यस्वरूपमें ही तृप्त है; वह कर्मके नामपर ज्ञानका ही अभ्यास करता है। यथा **'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रय:। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति स:॥'** (गीता ४। २०) इस श्लोकसे ***'कर्म कि होहिं'*** का भाव और भी स्पष्ट हो जाता है। श्लोक २१—२३ भी इसीसे सम्बद्ध हैं, पाठक देख लें।

प० प० प्र०—स्वरूपानुभूति होनेपर कर्म हो ही नहीं सकता। यह भाव लेनेसे यहाँ विसंवादी भ्रम है, असत्य है। कारण कि **'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** यह सिद्धान्त है। सत्य सिद्धान्त है—**'हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।'** (गीता)

* परद्रोही की होहि निसंका—भा० दा० रा० गु० द्वि०। 'परद्रोही कि होहिं नि:संका'—(का० रा० गौ०)।
† रूप बिनु चीन्हे—(का०)।

अन्य सब अनुमान सत्य हैं।

गौड़जी—'*कर्म कि होहिं……।*'—कर्म करनेवाली इन्द्रियाँ हैं और अहंकार (जो भीतरी इन्द्रिय है) समस्त कर्मोंकी जिम्मेदारी लेता है। मोहवश जीवात्मा अपनेको अहंकार मानकर सब कर्मोंका करनेवाला समझता है।—'**अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते।**'(गीता) अहंकारसे विमोहित आत्मा अपनेको कर्त्ता मानता है। जब स्वरूपज्ञान हो जाता है जिसे आत्मज्ञान भी कहते हैं तो उसे यह पता चल जाता है कि आत्मा कुछ करता-धरता नहीं है। यहीं कर्मका अन्त हो जाता है। इसी प्रकार आत्मानुभवके बाद फिर कर्म नहीं होता।

करु०—अपने स्वरूपको चीन्हनेपर वह शुभाशुभ कर्म नहीं कर सकता किन्तु स्वस्वरूप चीन्ह लेनेसे शुभाशुभ कर्म किंचित् कालके वशसे होते रहते हैं पर उस पुरुषको परिणाममें दोनों काम नहीं उगँहैं जैसे भूना हुआ अन्न।—'**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥**'

☞'*कामी पुनि कि रहहिं अकलंका।*'—यहाँ कहा कि कामी कलंकी होता है और आगे कहते हैं कि '*बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।*' इससे जनाया कि कामी होना पाप है। यही बात पूर्व भी कही है, यथा—'*परद्रोही परदाररत परधन पर अपवाद। ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद॥*'

वै०—१ '*कबहुँ कि दुख……।*' भाव कि ईश्वर सबका हितकर्ता और अखण्ड ज्ञान तथा सदा आनन्दरूप है, यदि जीव वही है तो इसको दुःख हो नहीं सकता; पर जीवोंको शुभाशुभकर्मोंका भोग दुःख नित्य देख पड़ता है। अतः जीव ईश्वर कैसे हो सकता है? जैसे पारसमणि जिसके पास है वह दरिद्र नहीं हो सकता। २—'*परद्रोही कि होहिं……*' भाव कि ईश्वर स्वतन्त्र है, निर्विकार है, जीव क्रोधवश सबका द्रोही है, अतः सविकार होनेसे सदा शंकित रहता है। इसी तरह कामविकारवश कलंकित रहता है। तब वह ईश्वर कैसे हो सकता है? ३—'*बंस कि रह……*' इति। जीव लोभ और अभिमानवश होकर ब्राह्मणकी हितहानि करता है इससे नाश होता है। भाव कि यद्यपि जीव ईश्वरांश है तथापि आत्मरूप भूल गया, मायावश जीवत्व धारणकर देहाभिमानी हुआ और पाप-पुण्य करके दुःख-सुख भोगता है; यदि वह आत्मरूपको पहिचाने तो पाप-पुण्य कैसे कर सके? क्योंकि स्वरूप चीन्हनेपर कर्म होते नहीं; तब जो जीव कर्म करता है वह ईश्वरके समान कैसे हो सकता है?

खर्रा—'*कर्म कि होहिं……।*' भाव कि जैसा ऋषिने ज्ञानका स्वरूप कहा है वैसा स्वरूप जान लेनेपर फिर क्या कर्मसाधन वेष-तपस्यादि रहता? अर्थात् यह कथनमात्र ही उनका जान पड़ता है, तादृश-विश्वास नहीं है।

काहू सुमति कि खल सँग जामी। सुभ गति पाव कि परत्रियगामी॥ ४॥
भव कि परहिं परमात्मा* बिंदक। सुखी कि होहिं कबहुँ हरिनिंदक†॥ ५॥
राजु कि रहै नीति बिनु जाने। अघ कि रहहिं हरिचरित बखाने॥ ६॥
पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावै कोई॥ ७॥

अर्थ—क्या दुष्टके संगसे किसीमें सुन्दर बुद्धि उत्पन्न हुई है? क्या परस्त्रीगामी शुभ (उत्तम) गति पा सकता है?॥ ४॥ क्या परमात्माको जाननेवाले एवं प्राप्त भवमें पड़ते हैं? क्या भगवान्‌की निन्दा करनेवाले कभी सुखी होते हैं?॥ ५॥ क्या बिना नीति जाने राज्य कर सकता है? क्या भगवान्‌के चरित गानेसे पाप रह सकते हैं?॥ ६॥ क्या बिना पुण्यके पवित्र यश होता है? क्या बिना पापके कोई अपयश पाता है?॥ ७॥

नोट—१ '*काहू सुमति कि खल सँग जामी*', यथा—'*बिनसै उपजै ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग॥*' (कि० १५), '*को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई॥*' (२। २४। ८) (ख) '*सुभ गति पाव कि परत्रियगामी*' यहाँ कहा और पूर्व कहा था कि '*कामी पुनि कि रहहिं अकलंका।*' कामी

* 'परमातमबिंदक' † 'परनिंदक'—(का०)।

और परत्रियगामी एक ही हैं। इसमें पुनरुक्ति नहीं है। क्योंकि दो स्थानपर दो पृथक्-पृथक् बातें कह रहे हैं। पहलेसे कामीका इहलोक बिगड़ना और दूसरेसे परलोक नष्ट होना कहा। कलंक इस लोकमें और अशुभगति परलोकमें। इस तरह लोक-परलोक दोनोंका नष्ट होना कामसे दिखाया।

२ (क) *'भव कि परहिं——'* अर्थात् नहीं पड़ते, वे तो प्रभुके ही हो जाते हैं—*'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'* हरिनिन्दक सुखी नहीं होते; क्योंकि *'हर गुरनिंदक दादुर होई। जनम सहस्र पाव तन सोई।'* (१२१। २३) और *'जनमत मरत दुसह दुख होई।'* (ख) *'बिंदक'* शब्द मानसमें दो बार आया है और इसी प्रसङ्गमें। एक तो दोहा १०५ (४) में *'परम साधु परमारथ बिंदक'*, दूसरे यहाँ। विन्दक=प्राप्त करनेवाला, जाननेवाला, ज्ञाता। यह संस्कृत भाषाका शब्द है। '**क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं——**।'(२। ४। १७) यहाँ देखनेकी बात यह भी है कि दोनों जगह दूसरे चरणमें *'हरिनिंदक'* शब्द भी है।

३—नीति-बिना राज्य नहीं रहता—*'राज नीति बिनु——'* आ० २१ (८) देखिये। हरिचरित तो पापनाशक है—*'समन पाप संताप सोक के।'* (१। ३२। ५) तब उसके कहनेपर पाप कब रह सकता है?

४—*'पावन जस कि पुन्य बिनु होई।'* भाव कि यश अपावन भी होता है। कुकर्मसे या पापसे जो यश कमाया जाय वह पावन नहीं है। जैसे रावणादिका यश। इसी भावसे लक्ष्मणजीका व्यङ्ग परशुरामप्रति इस प्रकार है—*'लखन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा। तुम्हहि अछत को बरनइ पारा॥'* गर्भके बालकोंको मारना पावन यश नहीं है। अतः कहा कि *'पावन जस'* पुण्यकर्मसे ही होता है।

नोट—५ ☞*'कबहुँ कि दुख सब कर हित ताके'* इत्यादिका भाव कि जीवमें ये सब गुण-अवगुण देखनेमें आते हैं। खलसंगसे दुर्बुद्धि, परतियगामी होनेसे नरकगामी, परमात्मचिंतनसे भवपार, हरिनिन्दा करनेसे दुःखी, अनीतिवान् होकर राज्यभ्रष्ट, हरिगुणगान करके निष्पाप, पुण्य करके यश और पाप करके अपयशका भागी होता दिखायी देता है। ईश्वरमें ये कोई बातें नहीं हैं। तब जीव-ईश्वर समान कैसे? जैसे ये सब सिद्धान्त अटल हैं, अबाधित हैं, वैसे ही *'जीव कि ईस समान'* यह सिद्धान्त भी निर्वाद और अटल जानना चाहिये।

लाभु कि किछु हरिभगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना॥८॥
हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिय न रामहि नर तनु पाई॥९॥

अर्थ—क्या हरिभक्तिके समान कोई दूसरा लाभ है कि जिसे श्रुति, संत और पुराण गाते हैं?॥ ८॥ भाई! क्या संसारमें इसके समान कोई हानि है कि मनुष्यशरीर पाकर श्रीरामचन्द्रजीका भजन न करें?॥ ९॥

नोट—१ हरिभक्तिके समान कोई लाभ नहीं है, यथा—*'लाभ कि रघुपतिभगति अकुंठा।'* (६। २६। ८) इससे यह पाया गया कि यह सर्वोपरि लाभ है सही, पर इसके न करनेसे कोई हानि नहीं है, चाहे हम करें या न करें। उसपर कहते हैं कि *'हानि कि जग——।'* अर्थात् ऐसा न समझो। मनुष्यतन पाकर यदि रामभजन न किया तो इसके समान लोक-परलोकमें कोई हानि नहीं है। भक्ति सर्वोपरि लाभ है और भक्तिरहित होना सर्वोपरि हानि है। २—*'लाभ कि किछु'* और *'हानि कि जग'* कहनेका भाव कि सुत, वित, नारि, परिवार, संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रताप, तेज, ज्ञान, योग, जप, तप, दान, स्वर्ग, अपवर्ग इत्यादि सबकी प्राप्ति भी इसके सामने कुछ भी लाभ नहीं है और न इन सबका नाश भी 'भक्तिहीनता' के समान हानि नहीं है। इससे जनाया कि बिना भक्तिके समस्त सांसारिक लाभ भी व्यर्थ ही हैं। ४३। (७) से दोहा ४४ तक जो भाव कहे गये हैं सब इन अर्धालियोंमें हैं। ८४ (४-५) भी देखिये।

अघ कि पिसुनता* सम कछु आना। धर्म कि दया सरिस हरिजाना॥१०॥
एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ॥११॥

---

* पिसुन तामस—(ना० प्र०), 'बिना तामस'—(का०)

'परनिंदा सम अघ न गिरीसा'आगे कहा है और यहाँ 'अघ कि पिसुनता सम कछु आना' कहा है। चुगली भी परनिन्दा ही है। इस तरह दोनों वाक्योंमें कोई विरोध नहीं है।

अर्थ—चुगलखोरीके समान क्या कोई और पाप है। हे हरिवाहनजी! क्या दयाके समान कोई धर्म है॥ १०॥ इस प्रकार मैं (जीव और ईश्वरके भेदकी पुष्टताके प्रमाण योग्य) अगणित युक्तियाँ मनमें विचार करता रहा और मुनिका उपदेश आदरसे न सुनता था। (अर्थात् वे बकते जाते थे, मैं उनके वचनपर कान न देता था न उनके सम्मुख दृष्टि ही रखता था)॥ ११॥

पं०—*'पिसुनता'* पद चुगलीका वाचक और निन्दाका उपलक्षक है। २—*'एहि बिधि अमिति——'* इति। यहाँतक अष्टादश युक्तियोंसे सिद्ध किया कि जैसे सबोंमें बिना कारणके कार्य नहीं होता वैसे ही द्वैत बिना क्रोध नहीं होता, इत्यादि। इसी प्रकारकी युक्तियाँ विचारता रहा।

नोट—☞ *'मैं अपने मन बैठ तब करउँ बिबिध अनुमान'* उपक्रम और *'एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ'* उपसंहार है। २० चरणोंमें ये युक्तियाँ वा अनुमान हैं। *'एहि बिधि'* और *'अमिति'* पद देकर जनाया कि सब अनुमान वा युक्तियाँ इसी प्रकारकी थीं पर इतनी ही न थीं, न जाने कितनी युक्तियाँ उस समय मनमें आयीं, उनकी गिनती नहीं कर सकता, केवल यही बता सकता हूँ कि इसी प्रकारकी थीं।

चौपाइयोंमें १८ युक्तियाँ हैं। दोहेमें जो कहा कि *'जीव कि ईस समान'* उसीकी पुष्टि इन युक्तियोंसे करते हैं। इसीसे दोहेमेंकी गणना नहीं की। १८ युक्तियाँ देकर जनाया कि अठारहों पुराणोंका सार-सिद्धान्त यही है।

पुनि पुनि सगुन पक्ष मैं रोपा। तब मुनि बोलेउ बचन सकोपा॥ १२॥
मूढ़ परम सिष देउँ न मानसि। उत्तर प्रति उत्तर बहु आनसि॥ १३॥
सत्य बचन बिस्वास न करही। बायस इव सबही ते डरही॥ १४॥

अर्थ—मैंने बारम्बार सगुणोपासनाका ही पक्ष स्थापित किया। तब मुनि कुपित होकर कोपयुक्त वचन बोले॥ १२॥ अरे मूढ़! मैं तुझे परम सिद्धान्त, सर्वोत्तम शिक्षा देता हूँ, तू उसे नहीं मानता और बहुत-सा उत्तर-प्रत्युत्तर देता है॥ १३॥ तू सत्य (सिद्धान्त) वचनपर विश्वास नहीं करता, कौवेकी तरह सभीसे डरता है॥ १४॥

नोट—१ (क) पहले जब उत्तर-प्रत्युत्तर किया तब क्रोधके चिह्नमात्र शरीरपर देख पड़े थे, अब *'पुनि पुनि'* सगुण पक्ष ही सिद्ध करनेपर वे कोपयुक्त हो गये, इससे जनाया कि पहिले कुछ उत्तर देते जाते थे। यद्यपि पूर्ण रीतिसे उत्तर न बन पड़ता था और अब अपने पक्षमें परास्त हो गये, कोई उत्तर नहीं दे सके, तब उसके बदले क्रोध किया। क्रोधका बल परुष वचन है, अतः *'बोलेउ बचन सकोपा'* से कठोर वचन बोलना जनाया। (ख) यहाँ उत्तरोत्तर क्रोधकी वृद्धि दिखायी है, यथा—*'मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा'* फिर *'बारंबार सकोप मुनि करहिं निरूपन ज्ञान'* और अब कठोर वचन कह डाला जो क्रोधका पूर्ण बल है—*'बोलेउ बचन सकोपा।'* (ग) यहाँ मुनिके मन, वचन और तन तीनोंसे क्रोध दिखाया। *'उपज क्रोध ज्ञानिन्ह के हिये'* यह मन, *'बोलेउ बचन सकोप'* यह वचन और *'मुनि तन भये क्रोधके चीन्हा'* यह तन।

नोट—२ (क) *'परम सिष'* अर्थात् निर्गुणमत अद्वैतज्ञान परमोत्तम शिक्षा है। इससे परम हित है। आगे इसीको *'सत्य बचन'* कहा है। भाव कि निर्गुण-मत ही सत्य है, सगुण सत्य नहीं है; अतः यही परम शिक्षा है। (ख) *'न मानसि'* अर्थात् परम शिक्षाका अनादर करता है, उसे तुच्छ समझता है, उसको अनहित मानता है। (ग) *'आनसि'* का भाव कि बाहरसे प्रमाण ला-लाकर उत्तर दिये हैं, केवल युक्तिहीसे उत्तर नहीं दिये।

वि० त्रि०—*'मूढ़ परम——आनसि'* इति। भुशुण्डिजीने बहुत हठ करके सगुण निरूपण किया और उनके साथ अत्यन्त वाद-विवाद किया, इसलिये मूढ़ कहते हैं। ब्रह्मोपदेश ही परमोपदेश है; उसे मुनिजी दे रहे थे, उसे अवनत मस्तक हो शिरोधार्य करना तो दूर गया, उलटा उनके सिद्धान्तका ही खण्डन करने लगे, उत्तर-प्रत्युत्तर वादी-प्रतिवादीमें होता है, गुरु-शिष्यमें नहीं। *'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो*

सेवक लखि लाज लजाई॥' अतः मुनिजीको क्रोध हुआ।

नोट—३ ***'बायस इव सबही ते डरहीं'*** इति। ***'छली मलीन कतहुँ न प्रतीती'*** यह कौवेका लक्षण है। वचनपर विश्वास नहीं करता, समझता है कि हमारी वस्तु छलसे ठग न लें। किसीने कहा है—**'ईर्षी घृणी त्वसंतुष्टः क्रोधनो नित्य शंकितः। परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः॥'**

सठ स्वपक्ष तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पक्षी चंडाला॥ १५॥

लीन्ह स्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥ १६॥

अर्थ—अरे शठ! तेरे हृदयमें अपना बड़ा भारी पक्ष है। तू शीघ्र चाण्डाल पक्षी हो जा॥ १५॥ मैंने शापको सिरपर चढ़ा (शिरोधार्य कर) लिया। उससे न तो मुझे कुछ भय हुआ और न दीनता ही आयी॥ १६॥

नोट—१ (क) ***'सठ स्वपक्ष तव हृदय बिसाला'*** इति। 'विशाल' इससे कि बहुत हठ कर-करके सगुणपक्ष ही सिद्ध करते रहे और मुनिकी बात न सुनते थे, उलटे उनका खण्डन करते थे, यथा—***'तब मैं निर्गुनमत करि दूरी। सगुन निरूपौं करि हठ भूरी॥'***, ***'उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा।'***, ***'पुनि पुनि सगुन पक्ष मैं रोपा'***, ***'तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा'*** इत्यादि वाक्य विशालपक्षके सूचक हैं। (ख) हृदयमें 'पक्ष' भरा है, अतः (स्वपक्षके सम्बन्धसे) पक्षी होनेका शाप दिया। कोप बहुत है, यथा—***'बारंबार सकोप मुनि करइ निरूपन ग्यान।'*** उसपर भी उत्तर-प्रत्युत्तरसे वह बहुत प्रचण्ड हो गया है, यथा—***'लषन उतर आहुति सरिस भृगुपति कोप कृसानु।'*** अतः घोर शाप दिया कि पक्षियोंमें भी चाण्डाल पक्षी हो। पक्षियोंमें कौवा चाण्डाल पक्षी है, यथा—**'काकः पक्षिषु चाण्डालः'** इति चाणक्ये। पुनः, कौवेका शाप इससे दिया कि ***'बायस इव सबही ते डरहीं'*** अतः वायस ही हो जा।*

२ ***'लीन्ह''''''सीस चढ़ाई'*** का भाव कि इष्टदेवका प्रसाद समझकर उसको आदरपूर्वक स्वीकार कर लिया। देवताका पुष्पादि प्रसाद शिरोधार्य किया ही जाता है। प्रभुका प्रसाद समझा, यह आगे के वचनोंसे स्पष्ट है, यथा—***'उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन।, कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी॥'*** इत्यादि। प्रसाद जाना, अतः चाण्डाल पक्षी होनेका शाप सुनकर भी डर न लगा। यदि शाप समझते तो भय होता, यथा—***'नृप सुनि श्राप बिकल अति त्रासा॥'*** (बा० १७४। ४) भय लगता तो शापसे व्याकुल होकर मुनिसे दीनतापूर्वक विनती करते। यथा—***'फिरेउ राउ मन सोच अपारा'***, ***'त्रसित परेउ अवनी अकुलाई॥'*** (बा० १७४। ७। ८) ***'अति सभीत नारद पहिं आये। गहि पद आरत बचन सुनाये॥ हरगन हम न बिप्र मुनिराया। बड़ अपराध कीन्ह फलु पाया॥ श्राप अनुग्रह करहु कृपाला॥'*** (१। १३९। २-४) शिवश्राप सुनकर त्रास हुआ था, यथा—***'कंपित मोहि बिलोकि अति'*** तब गुरुने दीनतापूर्वक शिवजीकी विनती की थी कि शापानुग्रह कीजिये। पर यहाँ भय, दीनता कुछ न आयी। त्रास न होना यह रामभक्तका सहज स्वभाव है, यथा—***'बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥'*** (४६। ५) भगवान्‌का वानरसेनाको यही उपदेश है कि ***'सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू'***—(लं० ११७); अतः शापका सिर चढ़ाना, भयका न होना और न दीनता प्राप्त होना क्रमसे कहे। ***'न दीनता आई'*** अर्थात् मैंने शापानुग्रहकी विनती भी न की। श्रीशिवजीका वर है ही कि ज्ञान कभी न जायगा अतः काकदेहकी चिन्ता न हुई।

पं०—***'भय न दीनता आई'*** यह समझकर कि सहस्र जन्म शिवशापसे लिये तहाँ एक और यह भी सही। वा दुःख-सुख सब भगवत्‌की आज्ञासे जानकर भय क्या करते और किसके दीन होते। वा जन्मके बाद दृढ़ भक्तिकी प्राप्ति इस तनमें जानकर।

---

* करु०—यहाँ मुनिके शापमें एक आशीर्वाद झलकता है। क्योंकि भुशुण्डिजीने जो सगुणब्रह्मका बारम्बार पक्ष किया वह मुनिने कागका पखना करके कहा कि इसी पक्षरूपी पखनासे उड़कर विहंगमार्गसे रामधामको प्राप्त होगा। परमपदकी प्राप्तिके दो मार्ग हैं, एक विहंगमार्ग, दूसरा पिपीलिकामार्ग। तहाँ कर्मकाण्ड, अष्टाङ्गयोग और ज्ञानकाण्डका मोक्ष पिपीलिकामार्ग जानो और उपासना विहंगमार्ग है।—सारांश यह कि तू अपने मतका पक्षी सदा बना रहेगा। (वै०)

दो०—तुरत भएउँ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ।
सुमिरि राम रघुबंसमनि हरषित चलेउँ उड़ाइ॥
उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥११२॥

अर्थ—तब (मुनिके शाप देते ही) मैं तुरंत काक हो गया। फिर मुनिके चरणोंमें सिर नवाकर और रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीका स्मरणकर मैं हर्षपूर्वक उड़ चला। हे उमा! जो श्रीरामचरणानुरक्त हैं, काम-मद-क्रोधरहित हैं, वे जगत्‌को अपने प्रभुमय देखते हैं। तब वे वैर किससे करें?* ॥ ११२॥

नोट—१ (क) शाप था कि *'सपदि होहि'* अतः उसकी पूर्ति दिखायी कि *'तुरत भएउँ।'* शापवश वही शरीर काकशरीर हो गया, शरीर छोड़कर गर्भवास करके पक्षी न होना पड़ा। क्योंकि *'सपदि'* यह वाक्य मिथ्या हो जाता। (ख) *'पुनि'* =तत्पश्चात् एवं दुबारा। क्योंकि जब आये थे तब सिर नवाया था। अब जाते समय फिर सिर नवाया, यह विदाईका प्रणाम है। *'मुनिपद सिरु नाइ'* उपसंहार है और *'देखि चरन सिरु नायउँ॥'* (११०) उपक्रम है। (ग) *'राम रघुबंसमनि'* रामसे निर्गुणब्रह्म न समझ लिया जाय इससे साथ ही *'राम रघुबंसमनि'* कहा अर्थात् शापसे भयभीत होकर उपासना बदल डाली ऐसा कोई न समझे। उपासना दृढ़ बनी रही। (घ) *'भय न दीनता आई'* अतः *'हरषित चलेउँ उड़ाइ'* उस वचनकी पुष्टि यहाँ हुई।

रा० शं०—१ *'मुनिपद सिरु नाइ'* क्योंकि शिवाज्ञा थी कि *'जानेसु संत अनंत समाना।'* २—*'सुमिरि राम'* क्योंकि स्मरणसे अगम भी सुगम हो जाता है, जैसा—*'सुमिरु सनेह सों तू नाम रामराय को। संबर निसंबरको सहाय असहाय को'* इस पदसे स्पष्ट है।†

नोट—२ हर्षित उड़कर चल दिये, इसका कारण दूसरे दोहेमें कहते हैं। *'हरषित चलेउँ उड़ाइ'* तक भुशुण्डिवाक्य है, आगेका दोहा शिववाक्य है। *'निज प्रभुमय देखहिं जगत'* यथा—*'सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥'* (२। १३१) *'निज प्रभुमय'* के दो भाव हैं—एक यह कि सबको रामरूप ही देखते हैं, चाहे वह जड़ पदार्थ हो चाहे चेतन। उनको यही देख पड़ता है कि ये हमारे प्रभु ही हैं, उनको सर्वत्र प्रभुका रूप छोड़ और कुछ देख नहीं पड़ता। अतः भयकी जगह कोई है ही नहीं। भा० ११। २९ में भगवान्‌ने यही उद्धवजीसे कहा है कि सब मैं ही हूँ। दूसरे यह कि सब प्राणियोंमें हमारे ही प्रभु विराजमान हैं, वे ही सबके उरके प्रेरक हैं। यही बात आगे कहते हैं।

नोट—३ ईशावास्योपनिषद्‌में इसी प्रकार यह श्रुति है—**'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥'** (६) अर्थात् जो आत्मामें समस्त भूतोंको स्थित देखता है और समस्त भूतोंमें आत्माको देखता है वह किसीसे घृणा नहीं करता।

भा० ११। २९। १२—१९ में विस्तारसे यही कहा है—

'मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्। ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥

---

* १—प्रभुसे वैर हो नहीं सकता अतः संसारमें उसको किसीसे वैर नहीं होता। जिसे किसीसे वैर-विरोध हो उसे समझ लेना चाहिये कि वह रामचरणानुरक्त अभी नहीं है। २—भगवान्‌के लिये शाप भी सहे, जो कुछ आपत्ति आवे वह भी प्रसन्नतापूर्वक शिरोधार्य करे पर अपनी उपासना न छोड़े। ये उपदेश यहाँ मिलते हैं। ३—पां०-'उमा जे रामचरनरत.........' यह कहकर ज्ञानपक्ष और उपासनापक्षकी गति दिखाते हैं कि उनको क्रोध हुआ और ये प्रसन्नचित्त हैं।

† पं०—१ मुनिसे श्रीरामयश और तत्त्व सुना था अतः प्रणाम किया। वा यह प्रणाम भी एक प्रकारसे तर्क है कि धन्य हैं आप अभेदवादी कि जिनको इतना कोप हुआ। २—रामस्मरण यह कि मेरी उपासना आपने दृढ़ बनाये रखी। हर्ष भगवत्‌की इच्छा समझकर कि—जैसे वे रखें वैसे रहना उचित है, वा मनुष्यदेहसे पृथ्वीपर चलते थे अब आकाशमें उड़ सकेंगे। वा विप्रतनमें अहंकार था, इसमें 'अहंकार' न रहेगा। ३—उड़ चले कि क्रोधमें और शाप न दें।

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते। सभाजयन्मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके। अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्। स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥
विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्। प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया। परिपश्यन्नुपरमेत्सर्वतो मुक्तसंशयः॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम। मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(अर्थात्) 'सब प्राणियोंमें और अपनेमें भीतर-बाहर मुझको ही देखे। मैं आकाशवत् सर्वत्र आवरणरहित व्याप्त हूँ। इस प्रकार केवल ज्ञानका आश्रय लेकर जो सब प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सत्कार करता है, ब्राह्मण, चाण्डाल, चोर, विप्रभक्त, सूर्य, चिंगारी, अक्रूर तथा क्रूरमें समान दृष्टि रखता है वही पण्डित है। बहुत समयतक सबमें मेरी ही भावना करनेसे स्पर्द्धा, असूया, तिरस्कार, अहंकारादि दोष मिट जाते हैं। अपनी हँसी करनेवाले स्वजनोंको, अपनेमें देहबुद्धिको तथा लज्जा छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेको भी साष्टाङ्ग दण्डवत् करे। (१२—१६) इस प्रकार सर्वत्र आत्मबुद्धि करनेसे सब कुछ ब्रह्ममय देख पड़ता है (१८) मन, वचन, तनकी समस्त वृत्तियोंसे सबमें मेरी ही भावना करे।'

गीतामें भी कहा है कि यह सब सूत्रमें मणियोंके समान मुझमें पिरोया हुआ है—'**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥**' (७। ७) भाव यह कि ये कार्यावस्था और कारणावस्थामें स्थित मेरे शरीररूप समस्त जड़-चेतन वस्तुमात्र उनमें आत्मरूपसे स्थित मुझ परमेश्वरमें सूत्रमें पिरोये हुए मणियोंकी भाँति पिरोये हुए हैं, अर्थात् मेरे आश्रित हैं '**यस्य पृथिवी शरीरम्॥**' (बृ० उ० ३। ७। ३), '**यस्यात्मा शरीरम्॥**' (श० ब्रा० १४। ५। ६। ५। ३०), '**एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा, दिव्यो देव एको नारायणः॥**' (सु० उ० ७) इत्यादि श्रुतियोंसे जगत्का शरीररूपमें और ब्रह्मका आत्मरूपमें स्थित होना प्रसिद्ध है। परमपुरुषका शरीर होनेके नाते सब कुछ उनके आत्मरूप परम पुरुषका ही स्वरूप हैं; अतएव सब रूपोंमें परम पुरुष ही स्थित है। इसलिये समस्त शब्दोंसे उसीका वर्णन है। (श्रीरामानुजभाष्यसे)

'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि॥' (१। ७), ***'सातवँ सम मोहि मय जग देखा॥'*** (३। ३६। ३), ***'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'*** (४। ३), और इसी काण्डमें पूर्व बहुत लिखा जा चुका है। 'वासुदेवः सर्वमिति' भी इसी भावसे कहा गया है।

नोट—४ इसी प्रकार जब रुद्राणीने चित्रकेतुको शाप दिया था कि 'तू भगवान् विष्णुके साधुजनसेवित चरणकमलोंके समीप रहने योग्य नहीं है। अतः तू अधम आसुरी योनिको प्राप्त हो। ऐसा होनेसे तू फिर महापुरुषोंका अपराध न करेगा।' (भा० ६। १७। १५), तब उन्होंने उस शापको सादर स्वीकार कर लिया और शापानुग्रहके लिये विनती न की, किंतु स्तुति करके अंतमें यही कहा कि मैं शापमोचनके लिये आपको नहीं प्रसन्न करता, किंतु हे सती! आप जिन मेरे वाक्योंको बुरा मानती हैं उनको क्षमा करें। यह सब भाव ***'लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई'*** और ***'पुनि मुनिपद सिरु नाइ'*** कविने कह दिये हैं।

जैसे यहाँ ***'लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई'*** कहा है वैसे ही चित्रकेतुने '**प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके॥**' (भा० ६। १७। १७) कहा है। अर्थात् मैं आपका शाप अपनी अञ्जलिमें ग्रहण करता हूँ। साथ ही यह कहा है कि देवगण मनुष्योंके लिये जो कुछ कहते हैं वह उनके पूर्वकर्मका ही फल होता है। जीव कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता है, विवेकहीन हो अपने अथवा दूसरेको कर्ता मानते हैं। मानसके ***'पद सिरु नाइ'*** और ***'हरषित चलेउँ'*** में ये भाव भी ग्रहण किये जा सकते हैं, यद्यपि शिवजीने समाधान दूसरी प्रकार ***'निज प्रभुमय—'*** इस तरह किया है।

जैसे चित्रकेतुके इस आचरणसे शिव, रुद्राणी, देवता, ऋषि, इत्यादिको विस्मय हुआ वैसे ही भुशुण्डिजीके इस आचरणसे पार्वतीजीको विस्मय हुआ, यह शिवजीके आगेके समाधानसे स्पष्ट है—***'उमा जे रामचरन***

रत......।' यहाँ शिवजीने सबका समाधान करते हुए कहा है कि—'तुमने अद्भुतकर्मवाले भगवान् हरिके दासानुदास निस्पृह महात्माओंका माहात्म्य देखा। भगवत्-परायण व्यक्तिगण किसीसे नहीं डरते एवं स्वर्ग, नरक और मुक्तिमें समान दृष्टि रखते हैं। परमेश्वरकी लीलासे ही देहधारियोंको देहकी प्राप्ति एवं उसके लिये ही सुख, दुःख, जन्म, मरण और शाप, अनुग्रह हुआ करते हैं......यह महाभाग चित्रकेतु उन्हींका प्रिय अनुचर एवं शान्त और सर्वत्र समदर्शी है। अतएव ऐसे पुरुषोंके कार्योंमें विस्मय न करना चाहिये।'(भा० ६। १७) और यहाँ भी ऐसा ही भाव *'उमा जे रामचरनरत......करहिं बिरोध'* से प्रकट किया है। जैसे वहाँ चित्रकेतुको असुर-योनिमें भक्ति वैसे ही यहाँ भुशुण्डिजीको काकदेहमें भक्ति।

जैसे चित्रकेतुके सम्बन्धमें कहा है—'**नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥**' वैसे ही यहाँ *'जे रामचरनरत' 'निज प्रभुमय देखहिं जगत'* कहा है। जगत् शब्दमें स्वर्ग, नरक, अपवर्ग, सुख-दुःख, जन्म-मरण और शाप-अनुग्रह तथा चर-अचर सभी जीवोंका ग्रहण हो गया। दोनों जगह भवानीको ही संबोधित करके कहा है। आगे श्लोक ३४ में जो कहा कि '**तस्य चायं महाभागश्चित्रकेतुः प्रियोऽनुगः। सर्वत्र समदृक्छान्तो ह्यहं चैवाच्युतप्रियः॥**' (यह महाभाग चित्रकेतु उन्हींका प्रिय अनुचर एवं शान्त और सर्वत्र समदर्शी है......) उसका '**सर्वत्र समदृक्**' मानसका *'निज प्रभुमय देखहिं जगत'* है। शान्तमें *'बिगत काम मद क्रोध'* और *'केहि सन करहिं बिरोध'* आ गया। इस तरह दोनों प्रसंगोंका मिलान हो जाता है।

भा० (४। ७)में जो भगवान्‌ने कहा है कि '**यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्। पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः॥**' (५३) जिस प्रकार पुरुष अपने सिर और हाथ आदि अङ्गोंमें कभी 'ये अन्य हैं' ऐसी बुद्धि नहीं करता उसी प्रकार मेरा भक्त सभी प्राणियोंमें अन्य बुद्धि नहीं करता। यह भाव भी *'प्रभुमय देखहिं जगत'* में आ जाता है।

सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन॥ १॥
कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परिक्षा मोरी॥ २॥

अर्थ—हे गरुड़! सुनो, (शाप देनेमें) लोमश ऋषिका कुछ भी दोष नहीं, रघुकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी ही सबके हृदयके प्रेरक हैं॥ १॥ दयासागरने मुनिकी बुद्धि भोली करके मेरे प्रेमकी परीक्षा ली॥ २॥

नोट—१ *'सुनु खगेस।'* (क) *'सुनु'* पदसे नये प्रसंगका आरम्भ दिखाया। शाप-प्रसंग हो गया। तदन्तर्गत 'काक-देह' का कारण कहा गया। अब 'काक-देहमें भक्ति कैसे हुई?' यह प्रसंग चला। पुनः, (ख) ऊपर दोहेमें *'उमा जे रामचरनरत......'* यह शिवजीने स्वनिर्मित समाधान कहा अब भुशुण्डिकृत समाधान यहाँ कह रहे हैं, यह जनानेके लिये **'सुनु खगेस'** कहा। पुनः, (ग) भुशुण्डि-गरुड़-संवादके बीचमें शिव-पार्वती-संवाद आ गया था, अतः **'सुनु'** कहकर फिर भुशुण्डिवाक्य कहते हैं।

२ (क) *'उमा जे......'* में शिवजीने बताया कि निरपराध शाप देनेपर भी भुशुण्डिजीने कुछ विरोध न किया। इसका क्या कारण था? और 'ज्ञानी मुनि होकर लोमशजीने शाप कैसे दे दिया?' इसका समाधान स्वयं भुशुण्डिजी आगे करते हैं। (ख) *'नहिं कछु रिषि दूषन......'* इति। भाव कि सुख-दुःख, शाप-अनुग्रह इत्यादिके कर्त्ता जीव नहीं हैं, परमेश्वर ही अपनी मायाके द्वारा इन सबकी सृष्टि करते हैं। मिलान कीजिये चित्रकेतुके वचनोंसे—'**नैवात्मा न परश्चापि कर्त्ता स्यात्सुखदुःखयोः। कर्त्तारं मन्यतेऽप्राज्ञ आत्मानं परमेव च॥ गुणप्रवाह एतस्मिन्कः शापः को न्वनुग्रहः। कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा॥ एकः सृजति भूतानि भगवानात्ममायया। एषां बन्धं च मोक्षं च सुखं दुःखं च निष्कलः॥**' अर्थ—(हे माता सती!) आप या कोई दूसरा उस सुख-दुःखका कर्त्ता नहीं है। अज्ञानी पुरुष ही अपनेको या अन्यको कर्त्ता मानते हैं। यह संसार गुणोंका प्रवाह है; इसमें शाप या अनुग्रह, स्वर्ग या नरक, सुख या दुःख क्या है? एक परमेश्वर ही सुख-बन्धन-मोक्षादिकी सृष्टि करता है। (भा० ६। १७। १९—२१) शिवजीने भी ईश्वरलीलासे ही इनका प्राप्त होना कहा है। यथा— '**देहिनां देहसंयोगाद् द्वन्द्वानीश्वरलीलया। सुखं दुःखं मृतिर्जन्म शापोऽनुग्रह एव च॥**' (श्लो० २९)

वि० त्रि०—विचार करनेसे दूषणाधिक्य मुनिजीमें ही दिखायी पड़ता है। भुशुण्डिजीकी रुचि जब देख

ली कि निर्गुण ब्रह्मकी ओर नहीं जाती तो उन्हें हठपूर्वक रुचि फेरनेका प्रयत्न करना अनुचित था। यथा—*'अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावन देहू॥'* भुशुण्डिजी कहते हैं कि उसमें ऋषिजीका कुछ भी दोष नहीं था। उनके हृदयमें मेरी परीक्षाके लिये रामजीने ऐसी ही प्रेरणा कर दी।

वै०—*'लीन्ही प्रेम परिछा'* इति। *'मति भोरी'* से जनाया कि मुनि अनन्य रामोपासक थे। प्रभुकी प्रेरणासे उन्होंने सगुणका खण्डन किया।

पं०—*'प्रेम परिछा'* कि निर्गुणतत्त्वज्ञान सुनकर मेरी भक्तिको त्याग करता है या नहीं। किंवा मेरी उपासना-निमित्त कष्ट पानेपर मुझमें प्रेम रखता है या नहीं। *'कृपासिंधु'* का भाव कि निर्गुण-सगुणमें जो मेरी भेद-बुद्धि थी उसके मिटानेके लिये मुझे शाप दिलाया था।

रा० शं०—*'नहिं कछु रिषि दूषन'* इससे ऋषिको निर्दोष किया पर साथ ही *'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन'* से रघुनाथजीपर दोष आता है; अतः उसका निराकरण करनेके लिये *'कृपासिंधु—'* कहा। भगवान् अपने भक्तोंका महत्त्व प्रकट करनेके लिये, भक्ति दृढ़ करनेके लिये, संसारको भवसे तारनेके लिये परीक्षा लेते हैं।

रा० प्र०—*'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन'* से जनाया कि 'मुनिने परवश ऐसा किया। परवशतामें दूषण नहीं। *'कृपासिंधु'* क्योंकि परीक्षामें निर्वाह उन्हींकी कृपासे है।

प० प० प्र०—लोमश मुनिको जो क्रोध हुआ था वह उनका नहीं है। यह शिवजीकी लीला है या श्रीरामजीकी। शिवजीने कहा था कि *'अब जनि करहि बिप्र अपमाना।'* उन्होंने विप्रकी प्रार्थनासे उस शूद्रको मुनिदुर्लभ वर दिया है। यहाँ परीक्षा कर रहे हैं कि वह शूद्र (अब विप्र जिसको पूर्व जन्मकी स्मृति है) शिवाज्ञाका पालन कहाँतक करता है। *'मुनि पद सिरु नाइ हरषित चलेउ'*—बस इससे परीक्षा हो गयी। विप्र (अब काग) ने घोर दण्ड देनेपर भी अपमान नहीं किया, नमन ही किया। अतः अब पल्ला उलट गया।

नोट—३ इस प्रसङ्गमें दोहा ११० *'मेरु सिखर बट छाया—'* से लेकर दोहा ११२ तक बराबर *'मुनि'* शब्दका प्रयोग है—*'मुनि लोमस आसीन'*, *'मुनि कृपाल खगराज'*, *'ब्रह्मज्ञानरत मुनि'*, *'मोहि मुनि समझावा'*, *'मुनीसा'*, *'मुनीस'*, *'मुनि पुनि कहि हरिकथा'*, *'मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा'*, *'बार बार सकोप मुनि'*, *'मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ'*, *'तब मुनि बोलेउ बचन सकोपा'* *'पुनि मुनि पद सिरु नाइ।'* यह शब्द बारह बार आया है। इसके पश्चात् मुनिने जब फिर भुशुण्डिजीको बुला लिया उस समयसे बिदाईतक (*'सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई॥'* (११३। ५) से *'करि बिनती मुनि आयसु पाई॥'* (११४। ८) तक) बराबर *'मुनि'* शब्द प्रयुक्त हुआ है—दस बार आया है। बीचमें यहाँ ११३ (१-४) में दो बार *'रिषि'* और दो बार *'मुनि'* आया है। यथा—*'सुन खगेस नहिं कछु रिषि दूषन'*, *'कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी'*, *'मुनि मति पुनि फेरी भगवाना'* और *'रिषि मम महत सीलता देखी।'*

इससे सूचित होता है कि मानसमें ऋषि और मुनि पर्याय माने गये हैं, अथवा श्रीलोमशजी ऋषि और मुनि दोनों हैं। अथवा जब ऋषिके लक्षण देखे गये तब ऋषि कहा, जब मुनिके लक्षण देखे तब मुनि कहा।

मुनि और ऋषिमें यह भेद बताया गया है—जो पहले ऊर्ध्वरेता होकर नियमित भोजन करता है, जिसको किसी भी विषयमें कोई संदेह नहीं है तथा जो शाप और अनुग्रहमें समर्थ और सत्यप्रतिज्ञ है, ऐसा ब्राह्मण *'ऋषि'* माना गया है। यथा—'**ऊर्ध्वरेता भवत्यग्रे नियताशी न संशयी। शापानुग्रहयोः शक्तः सत्यसन्धो भवेदृषिः॥**' (स्कन्दपु० माहे० कुमा० ३। २९६) जो निवृत्तिमार्गमें स्थित सम्पूर्ण तत्त्वोंका ज्ञाता, काम-क्रोधसे रहित, ध्याननिष्ठ, निष्क्रिय, जितेन्द्रिय तथा मिट्टी और सुवर्णको समान माननेवाला है, ऐसे ब्राह्मणको *'मुनि'* कहते हैं यथा—'**निवृत्तः सर्वतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः। ध्यानस्थो निष्क्रियो दान्तस्तुल्यमृत्काञ्चनो मुनिः॥**' (स्कन्दमाहे० कुमा० ३। २९७)

शाप देनेमें समर्थ ऐसे कि ब्राह्मण तुरंत चाण्डाल पक्षी हो गया। अनुग्रह करनेमें समर्थ ऐसे कि भुशुण्डीजीको अनेक दुर्लभ वरदान दे दिये। इत्यादि लक्षण उनमें ऋषिके हैं ही और मुनिके समस्त लक्षण हैं।

☞*'कारन कवन देह यह पाई'* का उत्तर समाप्त हुआ।

रामचरितसर प्राप्तिके प्रश्नका उत्तर

मन बच क्रम मोहि निज जन जाना। मुनि मति पुनि फेरी भगवाना॥ ३॥
रिषि मम महत* सीलता देखी। रामचरन बिस्वास बिसेषी॥ ४॥
अति बिसमय† पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई॥ ५॥

अर्थ—मन, वचन और कर्मसे मुझे अपना दास जान लिया तब भगवान्‌ने फिर मुनिकी बुद्धि फेर दी॥ ३॥ ऋषि मेरी महान् (बहुत बड़ी) सहनशीलता और श्रीरामजीके चरणोंमें बहुत विश्वास देखकर अत्यन्त विस्मित होकर बारम्बार पछताकर मुनिने मुझे आदरपूर्वक बुला लिया॥ ४-५॥

नोट—१ *'मन बच क्रम मोहि निज जन जाना'* इति। मन, वचन और कर्मके उदाहरण—मन—*'सठ स्वपक्ष तव हृदय बिसाला।', 'निर्गुन मत मम हृदय न आवा', 'मैं अपने मन बैठ तब करउँ बिबिध अनुमान॥ १११॥'* से *'एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ॥'*, तक; *'रामभगति जल मम मन मीना।'*

वचन—*'मूढ़ परम सिख देउँ न मानसि। उत्तर प्रति उत्तर बहु आनसि।', 'पुनि पुनि सगुन पक्ष मैं रोपा' 'तब मैं निर्गुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी॥, उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा।'*

कर्म—(महत्-शीलता)—*'लीन्ह साप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥*
तुरत भयउँ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ।'

२ ☞ *'निज जन जाना'* से जनाया कि जिनमें ये गुण हों वही निजदास हैं (ख) *'पुनि फेरी'* से पूर्व सिद्धान्त *'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन'* को पुष्ट किया। अर्थात् उन्होंने भोरी की, उन्होंने फिर जैसी-की-तैसी कर दी, न निर्गुणपक्ष रह गया न क्रोध। (ग) *'महत सीलता'* पूर्व जो कहा है कि *'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई'* (९०। ६), वह अपनेहीमें चरितार्थ दिखाते हैं। ब्राह्मणगुरु परम सुशील थे। यथा—*'एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुर कर कोमल सील सुभाऊ॥'* (११०। २) उनकी सेवा की, यद्यपि कपटसे ही, तो भी उसका फल मिला कि स्वयं सुशील हो गये।

रा० शं०—भुशुण्डीजीने अपने परम सुशील गुरुसे द्रोह किया, उसके लिये आजतक उनको पश्चात्ताप है। उसीका फलस्वरूप लोमशद्वारा यह शाप है। वैसे ही लोमशजीको इनकी सुशीलता देख अपने क्रोधका पछतावा है। *'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा……'* यह भी सिद्ध हो गया।

नोट—*'बिस्वास बिसेषी।'* भाव कि विश्वास तो पूर्वसे ही था, जैसा *'सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान।'* (११०) *'पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा। सगुन उपासन कहहु मुनीसा॥', 'रामभगति जल मम मन मीना।', 'तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा।'*, प्रार्थनासे न माने तब भुशुण्डिजीने उत्तर-प्रत्युत्तर किये—*'तब मैं निर्गुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी॥'* मुनिके कोप करनेपर भी *'पुनि पुनि सगुनपक्ष मैं रोपा'* इत्यादि उद्धरणोंसे स्पष्ट है। चाण्डाल पक्षी हो जानेपर भी वह पक्ष न छोड़ा, न दीन हुए; अतः 'विशेष' कहा।

पं० रा० व० श०—*'अति बिसमय'* इति। भागवतापराध तथा अपना ही कसूर समझकर कि प्रश्न उसका क्या था और मैं कहता क्या था; उसपर भी निरपराधको शाप दिया, डरे और पुनः-पुनः पश्चात्ताप हुआ।

पं०—*'अति बिसमय'* कि मैंने इसकी बुद्धिकी थाह न पायी, यह तो बड़ा गम्भीर और गुणवान् है।

मम परितोष बिबिधि बिधि कीन्हा। हरषित राममंत्र तब‡ दीन्हा॥ ६॥
बालक रूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि पुनि कृपानिधाना॥ ७॥
सुंदर सुखद मोहि अति भावा। सो प्रथमहि मैं तुम्हहि सुनावा॥ ८॥

अर्थ—अनेक प्रकारसे मेरा सन्तोष किया। फिर हर्षित होकर मुझे राममन्त्र दिया॥ ६॥ दयासागर मुनिने मुझे बालकरूप रामका ध्यान बताया॥ ७॥ सुन्दर और सुख देनेवाला यह ध्यान मुझे बहुत अच्छा

* सहनसीलता—(का०)। † बिसमै—(भा० दा०) ‡ मोहि दीन्हा—(का०)।

लगा। वह ध्यान मैंने प्रथम ही आपको सुनाया है। (अर्थात् अब दुहरानेकी आवश्यकता नहीं)॥ ८॥

पं० रा० व० श०—*'मम परितोष……'* इति। न जाने क्या कारण है, हमारे कुछ समझमें नहीं आता कि हमारी बुद्धिमें क्यों यह आ गया कि हम तुम्हें अद्वैत ज्ञानी बनावें। देखो, सर्व जगत्‌के नियन्ता परमेश्वर ही हैं, वही सबके हृदयके प्रेरक हैं। उनकी ही प्रेरणासे ऐसा हुआ। अब तुम कोई चिन्ता न करो, अब मैं तुम्हें परम गोप्य, सर्वोपरि सिद्धान्त सगुण ब्रह्म श्रीरघुनाथजीकी उपासना बताता हूँ। शाप देकर फिर बड़ी अनुग्रह की, अत: कृपानिधान कहा।

पं०—*'मम परितोष……।'* अर्थात् कहा कि बड़ोंके आगे इतना हठ करना योग्य नहीं; इसीसे लोकशिक्षा-हेतु तुमको दण्ड किया। सगुण-निर्गुणमें भेद नहीं, तुम भेद मानते थे; उसके निवारणार्थ यह हुआ। काक-देहकी चिन्ता न करो, होनहार ही ऐसा था, तुम्हें इसी देहमें अत्यन्त महत्त्वकी पदवी मिलनी है।

रा० प्र०—यहाँ गुरु-शिष्यमें कौन जीता? गुरु जीते। शिशोपनिषद्‌में बाल ही रूप ब्रह्मनिरूपण बालक परमहंसरूप है, ऐसा कहा है। गुरुने शिष्यकी रुचि रखते हुए भी अपना ही मत और पक्ष जमाया।

करु०—यहाँ व्यङ्गसे ऐसा जान पड़ता है कि मुनिके हृदयमें भुशुण्डिसे वाद-विवाद करनेसे श्रीरामस्वरूप आ गया, शुद्धाद्वैत मत पलटकर शुद्ध विशिष्टाद्वैती हो गये।

नोट—१ *'हरषित राममंत्र तब दीन्हा'* इति। (क) *'हरषित'* से जनाया कि पूर्व जो मैंने तर्क-वितर्क, उत्तर-प्रत्युत्तर किये थे उसका खेद अब मनमें नहीं रह गया। अब वात्सल्यभाव उदय हो गया, मुझे गोप्य रामोपासनाका अधिकारी जान हर्षपूर्वक राममन्त्र देकर शिष्य बनाया। (ख) राममन्त्रसे षडक्षर तारक ब्रह्मसंज्ञक राममन्त्र अभिप्रेत है; क्योंकि भगवान् व्यास और भगवान् शङ्कर आदिने इसीको 'परं जाप्य' कहा है। [मन्त्र तथा बीज एवं उनकी व्याख्या श्रीरामपूर्वतापिन्युपनिषद्‌के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ खण्डमें विस्तारसे है। बाबा श्रीहरिदासाचार्यजीका भाष्य देखिये। राममन्त्र तो अगणित हैं पर रामोपासक षडक्षर तारक ब्रह्म-संज्ञक मन्त्र देते हैं। यह वैदिक मन्त्र है।] (पं० रा० व० श०) (ग) *'तब दीन्हा'* से इस राममन्त्रको दुष्प्राप्य जनाया। (रा० प्र०)

२ *'बालक रूप राम कर ध्याना।……'* इति। (क) मन्त्र देकर उसका अर्थ तथा किस प्रकार जप करना चाहिये, यह बताकर जिसका मन्त्र है उसीका ध्यान बताना चाहिये। ध्यानमें उपासना और भाव (सम्बन्ध) भी आ जाते हैं। श्रीभुशुण्डि (विप्र) जीने जो पूछा था—*'सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान।'* (११०) यह सब मन्त्र और ध्यानमें आ गया। (ख) *'बालक रूप राम'*—अन्य अवस्थाओंके चरित्रोंमें धर्माचरण है, धर्मके अनुसरणकी शिक्षा है। बालकरूपमें ही माताको अपना अद्भुत अखण्ड रूप दिखाया था, बालकरूपमें ही चिरंजीवी मुनि उनके मुखमें प्रविष्ट हुए थे और मायाका दर्शन उसीमें कराया गया था, इस रूपमें बहुत रङ्गके चरित होते हैं, योगियों तथा महायोगीश्वर श्रीशङ्करजीका इष्ट है, इत्यादि कारणोंसे मुनिने *'बालक रूप राम'* का ध्यान बताया। यह ध्यान पूर्ण माधुर्यमय है, इसमें ऐश्वर्यका लेश नहीं।

सनत्कुमारसंहितान्तर्गत श्रीरामस्तवराजमें दास्यभाव शान्तरसका ध्यान यह है—'**अयोध्यानगरे रम्ये रत्नमण्डपमध्यगे। स्मरेत्कल्पतरोर्मूले रत्नसिंहासनं शुभम्॥ १०॥ तन्मध्येऽष्टदलं पद्मं नानारत्नैश्च वेष्टितम्। स्मरेन्मध्ये दाशरथिं सहस्रादित्यतेजसम्॥ ११॥ पितुरङ्कगतं राममिन्द्रनीलमणिप्रभम्। कोमलाङ्गं विशालाक्षं विद्युद्वर्णाम्बरावृतम्॥ १२॥ भानुकोटिप्रतीकाशं किरीटेन विराजितम्।**'

रा० शं०—जबसे मुनिने निर्गुणपक्षका निरूपण उठाया तबसे *'कृपानिधान'* विशेषण न दिया था जब सगुण ध्यान बताया और उन्हींका मन्त्र दिया तब *'कृपानिधान'* कहा। [सगुणब्रह्म अवराधना पूछनेपर और यहाँ उनकी कृपासे प्राप्ति होनेपर *'कृपानिधि'* विशेषण दिया। 'कृपा करके' कहिये इसके लिये वहाँ *'कृपानिधि'* विशेषण दिया था; यथा—*'तब मैं कहा कृपानिधि तुम्ह सर्बज्ञ सुजान। सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान।'* (११०) और यहाँ 'कृपा करके बताया' इससे यहाँ *'कृपानिधान'* कहा]।

नोट—३ *'सुंदर सुखद'* पहले दिखा आये हैं।' (७६। ३) *'नृप मंदिर सुंदर सब भाँती'* से *'रूपरासि नृप अजिर बिहारी"""।'* (७७। ८) तक यह *'सुंदर सुखद'* ध्यान है। सुखद=बुद्ध्यादिको विश्रामदाता।

मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाखा॥ ९॥
सादर मोहि यह कथा सुनाई। पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई॥१०॥
रामचरितसर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा॥११॥
तोहि निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी॥१२॥

अर्थ—मुनिने मुझे कुछ समयतक वहाँ रखा तब रामचरितमानसका वर्णन किया॥ ९॥ आदरपूर्वक यह कथा सुनाकर फिर मुझसे ये सुन्दर वचन बोले॥ १०॥ हे तात! सुन्दर गुप्त रामचरितसर मैंने शिवजीकी कृपासे पाया॥ ११॥ तुम्हें श्रीरामजीका खास भक्त जाना इससे हे तात! मैंने सब बखानकर तुमसे कहा॥ १२॥

नोट—१ *'मुनि मोहि कछुक काल"""'* इति। कुछ काल अपने पास रखा, क्योंकि बिना कुछ कालतक रहे पूरा रामचरितमानस कोई सुन-समझ नहीं सकता। और यदि चरितमें संशय आदि होते हैं तब तो उसके निवारणार्थ बहुत कालतक रहकर कथा-सत्सङ्ग करना पड़ता है। यथा—*'तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा॥'* (६१। ४) भुशुण्डिजीको मोह-संशय तो है नहीं, इससे *'कछुक काल'* ही लगा। २—*'सादर कथा सुनाई'*—सादर अर्थात् अनुरागपूर्वक, मुझपर वात्सल्य रखते हुए कहा। वात्सल्य है इसीसे *'सब'* विस्तारसे कहा। यथा—*'ताते मैं सब कहेउँ बखानी'*, नहीं तो सब कथा बखानकर न कहते।

☞ गरुड़जीके *'रामचरित सर सुंदर स्वामी। पायेहु कहाँ कहहु नभगामी'*—इस प्रश्नका उत्तर यहाँ दिया। *'रामचरितसर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा॥'*, ऐसा मुनिने मुझसे कहा। मुनिको शिवजीसे प्राप्त हुआ और मुनिसे मुझे प्राप्त हुआ। गौड़जी तथा कुछ टीकाकारोंका मत है कि *'रामचरितसर'* से यहाँ सररूपकसहित समस्त रामचरितमानस ही अभिप्रेत है। (६४। ७) देखिये। यहाँ शङ्का होती है कि 'बालकाण्डमें तो कहा था कि *'सो सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी चीन्हा॥'* और यहाँ कहते हैं कि लोमशजीसे हमें मिला। यह परस्पर विरुद्ध भासित होता है।' इसका समाधान यह है कि दोनों वाक्योंका समन्वय इस प्रकारसे हो जाता है कि शिवजीने लोमशजीके द्वारा भुशुण्डिजीको दिया। इसी प्रकार शिवजीने गोस्वामीजीको दिया—श्रीनरहर्यानन्दजीद्वारा।*

पं० प० प्र०—बालकाण्डके *'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगति अधिकारी चीन्हा॥'* (३०। ४) का ही उपसंहाररूपमें यहाँ विकास किया गया है। *'अधिकारी चीन्हा'* अर्थात् परीक्षा करके पहिचान लिया। परीक्षाकी विधि यहाँ बतायी। शिवजीने ही लोमशजीकी बुद्धिमें प्रवेशकर परीक्षा ली और उन्हींके मुखसे स्वयं रामचरितमानसका प्रवचन किया। भुशुण्डिजीने रामचरितमानस केवल एक बार यहीं सुना। दो बार सुनते तो गरुड़जीसे वैसा कह देनेमें संकोच न करते।

श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि 'लीला-चरित गुप्त नहीं कहा जाता है; वह तो प्रकट है, उसके कहनेकी मनाही नहीं है।' पर दोहा १२८ में शिवजीके *'मति अनुरूप कथा मैं भाषी। जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी॥ तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई॥ यह न कहिय सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि॥'* इत्यादि। १२८। १—५) इस वचनसे इसका समानाधिकरण कैसे होगा

* १-बालकाण्डमें शिवजीसे प्राप्ति और यहाँ लोमशसे प्राप्ति कही। इससे जान पड़ता है कि लोमशजीसे सुनकर फिर शिवजीसे भी सुना, या कल्पान्तरभेद हो (रा० प्र०)। २—वहिर्लापिकासे यह समझ पड़ता है कि महादेवजीने लोमशरूप होकर अपने आशीर्वादकी परीक्षा ली। जब अति दृढ़ जाना तब श्रीरामचन्द्रने उसी रूपसे उपदेश किया, आशीर्वाद दिया और श्रीरामचरितमानस सुनाया (रा० प्र०) ३—मनमें प्रेरणा करके दिलाया इससे शिवजीका ही देना ठहरा (खर्रा)। ४—'संभुप्रसाद"""' में भाव कि शम्भु लोमशरूप हैं। इसीसे शम्भुको अध्यारोपण करके शम्भुद कहा। किंतु ये लोमशजी ही हैं; किसी कालमें शिवप्रसादसे पाया वही अब इन्होंने भुशुण्डीको दिया; यही शिवजीका देना है (खर्रा)।

यह उन्होंने नहीं लिखा है। इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि श्रीरामचरित गोप्य रहस्य है। अधिकारीको ही सुनाना चाहिये। अधिकारीके लक्षण (१२८। ६—८) में बताये हैं तथा पूर्व भी यत्र-यत्र लिखे गये हैं।

रामभगति जिन्ह के उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं॥ १३॥
मुनि मोहि बिबिधि भाँति समुझावा। मइँ सप्रेम मुनिपद सिरु नावा॥ १४॥
निज कर कमल परसि मम सीसा। हरषित आसिष दीन्हि मुनीसा॥ १५॥
रामभगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥ १६॥

अर्थ—हे तात! जिनके हृदयमें श्रीरामभक्ति नहीं है उनसे कभी भी (यह रामचरितसर) न कहना॥ १३॥ मुनिने मुझे अनेक प्रकार समझाया (तब) मैंने प्रेमपूर्वक मुनिके चरणोंमें माथा नवाया॥ १४॥ अपने करकमलसे मेरा मस्तक स्पर्शकर अर्थात् सिरपर हाथ फेर हर्षित होकर मुनीश्वर लोमशजीने मुझे आशीर्वाद दिया॥ १५॥ अब मेरी कृपासे अविचल परिपूर्ण भक्ति सदैव तेरे हृदयमें बसेगी॥ १६॥

नोट—१ *'कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं'* इति। *'कबहुँ न'* का भाव यह 'सर' तो रामभक्त तथा इसके अधिकारियोंको छोड़ दूसरेसे किसी हालतमें न कहना। २—*'बिबिधि भाँति।'* यहाँ एक *'भाँति'* कहकर फिर *'बिबिधि भाँति'* पद दे दिया क्योंकि आगे इसे फिर ग्रन्थके अन्तमें कहना है। वह सब इस पदसे जना दिये। [पुनः, *'बिबिध भाँति'* जैसे कि एक तो अनधिकारीके सामने कहना उत्तम पदार्थका फेंकना है, दूसरे मतवादियोंसे विवाद करनेसे खेद होगा; इससे गुप्त रखना ही भला है (वै०)। पुनः, रा० प्र० के मतानुसार विविध भाँतिसे कृपा-छोहयुक्त मित्रसम्मित आदि वाणीसे समझना अभिप्रेत है।] ३—*'मैं सप्रेम मुनिपद सिरु नावा'* यह रामचरित सगुणध्यान इत्यादिकी प्राप्तिकी कृतज्ञता सूचित की। गुरु आदिको प्रणाम करनेमें प्रेम-पुलकादि होने ही चाहिये नहीं तो प्रणाम व्यर्थ हो जाता है, यह कई बार लिखा जा चुका है।

'महाप्रलयमें नाश नहीं, आश्रममें आते ही मोहनाशके कारणका' उत्तर।

दो०—सदा रामप्रिय होहु* तुम्ह सुभगुन भवन अमान।
कामरूप इच्छा मरन ज्ञान बिराग निधान॥
जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरत श्रीभगवंत।
ब्यापिहि तहँ न अबिद्या जोजन एक प्रजंत॥ ११३॥

अर्थ—तुम सदा श्रीरामजीको प्रिय और श्रीरामजी तुमको प्रिय होंगे, तुम सदा शुभगुणधाम, मानरहित और कामरूप होगे, मृत्यु तुम्हारी इच्छापर रहेगी (अर्थात् जब तुम शरीर छोड़ना चाहोगे तभी शरीर छूटेगा अन्यथा तुम्हारी मृत्यु न होगी। तुम ज्ञान-वैराग्य-निधान होगे और जिस आश्रममें तुम श्रीभगवान्‌का स्मरण करते हुए निवास करोगे वहाँ एक योजनतक अविद्या माया न व्यापेगी॥ ११३॥

नोट—१ *'सदा रामप्रिय होहु तुम्ह'*—भुशुण्डिजीको श्रीरामजी प्रिय थे ही। उन्हींके लिये तो शाप स्वीकार करना पड़ा। उनको यही लालसा थी कि *'रामचरनबारिज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं।'* अब वे श्रीरामजीके भी प्रिय हो गये। यथा—*'रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा॥'* (९४। २)

खर्रा—*'कामरूप'* कहकर रूपान्तर होनेकी शक्ति भी दी। इच्छा-मरणसे प्रलयमें भी नाशसे रहित किया। गुणभवनसे गुणोंका निवास और निधान-(अर्थात् खानि-) से दूसरोंको भी निकालकर देनेकी भी शक्ति दी। (रा० प्र०) शुभगुण-भवन होनेसे अभिमानका भय होता है अतः यह कहकर फिर *'अमान'* कहा कि तुमको यह विकार न होगा।

नोट—२ *'जेहि आश्रम तुम्ह बसब'* अर्थात् जहाँ भी तुम्हारा निवास होगा। चाहे जहाँ तुम रहो।

* होब—(का०)।

'सुमिरत श्रीभगवंत' कहकर स्मरण करना आवश्यक जनाया। श्रीभगवंतसे जनाया कि ऐश्वर्य सदा मनमें धारण किये हुए स्मरण करना। [पुनः, श्रीभगवंत—भाव कि भगवान् तो बहुतोंकी संज्ञा है; पर श्रीरघुनाथजी केवल भगवान् ही नहीं वरन् श्रीभगवान् हैं, सब भगवानोंकी शोभा इनमें है। ये सबमें श्रेष्ठ हैं जैसे कि चालीस-पचास महन्तोंमें एक श्रीमहन्त होता है वैसे ही सब भगवानोंमें ये श्रीभगवंत हैं। अथवा, 'श्रीभगवंत' से श्रीसीतासंयुक्त भगवान् रामचन्द्रजीको जनाया। (पं० रा० व० श०)] ☞ यह आशीर्वाद आश्रमके विषयमें है और यह गरुड़जीके *'प्रभु तव आश्रम आये मोर मोह भ्रम भाग।' 'कारन कवन'* इस प्रश्नका उत्तर है। आगे भुशुण्डिजीके लिये आशीर्वाद है—*'काल कर्म गुन दोष सुभाऊ'* इत्यादि।

रा० प्र०—यहाँ लोमशजीके वरदान और उसपर भी ब्रह्मवाणीका प्रमाण है कि अविद्या माया न व्यापेगी और पूर्व ८९ (३) में कहा है कि *'तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥'* इत्यादि। भाव यह है कि यहाँ परोक्ष है और वहाँ प्रत्यक्ष, अथवा 'लोमशद्वारा कार्यका निरोध रहा और रघुनाथजीद्वारा कारणका निरोध हुआ।'—[यहाँ अविद्या माया न व्यापनेका वरदान है और श्रीरामजी विद्यामायासे भी अभय कर देते हैं।] यहाँ आकाशवाणी है, आगे प्रत्यक्ष न होकर वही वर दिया। ११४। (५—७) देखिये।

पं०—*'जोजन एक प्रजंत।'* चारों वृक्षोंके तले बैठकर जो तुम ध्यानादिक चार कर्म प्रतिदिन करोगे उसके प्रभावसे चार-चार कोसतक माया निकट न आवेगी।

काल कर्म गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ॥ १॥
रामरहस्य ललित बिधि नाना। गुप्त प्रगट इतिहास पुराना॥ २॥
बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ। नित नव नेह रामपद होऊ॥ ३॥
जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥ ४॥

अर्थ—काल, कर्म, गुण, दोष और स्वभाव (जनित) कुछ भी दुःख तुमको कभी न व्यापेंगे॥ १॥ अनेक प्रकारके सुन्दर रामरहस्य जो इतिहास और पुराणोंमें गुप्त वा प्रकट हैं, वह सब भी तुम बिना परिश्रमके जानोगे और तुम्हारा नित्य नवीन अनुराग श्रीरामजीके चरणोंमें होगा अर्थात् उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा॥ २-३॥ तुम जो इच्छा मनमें करोगे हरिकृपासे वह कुछ भी दुर्लभ न होगी अर्थात् सब मनोरथ पूर्ण होते रहेंगे॥ ४॥

☞ *'तुम्हहिं न ब्यापत काल अति कराल कारन कवन'* का यहाँ उत्तर है। *'काल कर्म……' 'काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥'* (२१) तथा *'हरिमाया कृत दोष गुन……॥'* (१०४) और *'मायाकृत गुन अरु दोष अनेक॥'* (४१) देखिये। 'रामरहस्य' पूर्व लिखा जा चुका है। रा० प्र० ने यहाँ मानसभरके रामरहस्य एकत्र दिये हैं। *'बिनु श्रम'* अर्थात् पढ़नेकी जरूरत नहीं, स्वतः प्राप्त हो जायगा।

रा० शं०—अविरल रामभक्ति बसनेमें *'प्रसाद अब मोरे'* कहा और इच्छापूर्तिके लिये *'हरिप्रसाद'* कहा। *'हरि'* का आश्रय लिया क्योंकि जानते हैं कि बिना उनके निर्वाह कठिन है। वे देख चुके हैं कि भस्मासुरको जो वरदान दिया गया था उसका निर्वाह भगवान्‌हीने किया। इसीसे तुरंत आकाशवाणी हुई।

सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा॥ ५॥
एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी। यह मम भगत करम मन बानी॥ ६॥
सुनि नभगिरा हरष मोहि भएऊ। प्रेम मगन सब संसय गएऊ॥ ७॥

अर्थ—हे धीरबुद्धि! सुनिये। मुनिका आशीर्वाद सुनकर आकाशमें गम्भीर ब्रह्मवाणी हुई॥ ५॥ 'हे ज्ञानी मुनि! तुम्हारा वचन ऐसा ही हो अर्थात् जो तुमने आशीर्वाद दिया है वैसा ही होगा, यह कर्म, मन और वचनसे मेरा भक्त है॥ ६॥ आकाशवाणी सुनकर मुझे हर्ष हुआ, मैं प्रेममें मग्न हो गया, सब संदेह जाता रहा॥ ७॥

नोट—१ *'सुनि मुनि आसिष……'* इति। (क) *'सुनि'* क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हैं, सर्वत्र हैं, यथा—*'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं' 'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना'* (१। १८५)। ब्रह्मगिरा अर्थात् आकाशवाणी

जो हुई वह ब्रह्मकी थी। (ख) *'गँभीरा'* इति। गम्भीरसे जनाया कि ऐसी गहरी हुई कि मैं भी कानसे सुन सकूँ। *'गँभीरा'* में शोक-संदेह-हरण और सुखदका भी भाव है। यथा *'गगनगिरा गंभीर भइ हरनि शोक संदेह॥'* (१। १८६)''''''*'गगन ब्रह्मबानी सुनि काना।'* पंजाबीजी लिखते हैं कि 'यहाँ गम्भीरता यह है कि मुनिको ज्ञानी कहा और मुझे भक्त। तात्पर्य कि ज्ञानी और भक्त दोनों समान प्रिय हैं, किंतु भक्त ज्ञानीसे भी अधिक प्रिय हैं।' इस तरह गम्भीरसे गूढ़ आशय भरी हुई भी जनाया।

२—*'एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी।......'* इति। मुनिकी वाणी सत्य होती है। यथा—*'मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू।'* (४। २८। ९) उसपर भी ब्रह्मवाणीने उसका समर्थन 'एवमस्तु' कहकर किया, अतः वह सब परम सत्य हुई।

नोट—३ (क) ☞ किस कारण काकदेह हुई इसका उत्तर लोमश-शापपर समाप्त हुआ। तत्पश्चात् 'रामचरितसर कहाँ पाया? आश्रममें आते ही मोह क्यों दूर हो गया? कराल काल क्यों नहीं व्यापता?' इन सबका मिश्रित उत्तर दोहा ११३ (३) से प्रारम्भ होकर यहाँपर समाप्त होता है। अर्थात् मुनिके प्रसादसे चरित मिला और अन्य सब बातें मुनिके आशीर्वाद तथा भगवान्‌के आशीर्वाद (एवमस्तु) से हुईं। (ख)—*'हरष मोहि भएऊ'* का कारण कि भगवान्‌ने मुझे अपना भक्त स्वीकार किया और मुनिके सब आशीर्वाद अभीसे निस्संदेह सफल कर दिये।

☞ यहाँतक तीनके आशीर्वाद भक्तिके सम्बन्धमें हुए—

१ शिवजी—*पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे। रामभगति उपजिहि उर तोरे॥*

२ लोमशजी—*रामभगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥*

३ ब्रह्मगिरा—*यह मम भगत करम मन बानी।*

प्रथमका फल यह हुआ कि रघुनायक लीला करते, गुण श्रवण करते—*'सुनत फिरौं हरिगुन अनुबादा'* कीर्तन करते—*'रघुपति जस गावत फिरउँ।'*—यह नवधा भक्ति हुई। दूसरेका फल कि *'अबिरल भक्ति'* सदा 'बसेगी' अर्थात् मन-वचन-कर्म तीनोंसे भक्त होंगे। इसीकी पुष्टि तीसरेसे हुई। अविरलभक्ति होनेसे जब-जब अवतार होता है, तब-तब *'बरष पाँच तहँ रहौं लुभाई।'* अन्तमें प्रभुने जब वरदान दिया तब कोई माया कभी न व्यापी। दर्शनकी लालसा मुनिके आशीर्वादसे पूरी हो गयी। इसी अभिलाषासे इनके पास आये थे—*'सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया॥'* (१११। १०) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'मुनिके आशीर्वादसे पराभक्ति हुई, पर जीवबुद्धि बनी रही; इसीसे प्रभुकी शरण हुए और प्रभुने भक्तिका वर दिया तब आत्मरूपमें अचल अनुराग हुआ। अब भक्तिकी परिपूर्णता हुई।'

पं०—*'सब संसय'* क्या हैं? यह कि मैंने मुनिकी बहुत अवज्ञा की थी, साधु-अवज्ञा कल्याणका नाशक है—*'साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥'* कहीं इसी विचारसे मेरे संतोषनिमित्त तो मुनिने ऐसा नहीं कहा। ब्रह्मगिरासे सत्यताकी प्रतीति हुई।

करि बिनती मुनि आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिरु नाई॥ ८॥
हरष सहित एहि आश्रम आएउँ। प्रभु प्रसाद दुर्लभ बर पाएउँ॥ ९॥
इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥ १०॥
करौं सदा रघुपति गुनगाना। सादर सुनहिं बिहंग सुजाना॥ ११॥

अर्थ—मुनिकी विनती करके और उनकी आज्ञा पाकर उनके चरणकमलोंमें बारम्बार सिर नवाकर हर्षसहित मैं इस आश्रममें आया। प्रभु श्रीरामजीकी कृपासे मैंने कठिन दुष्प्राप्य वर पाया॥ ८-९॥ हे पक्षिराजजी! सुनिये। मुझे यहाँ वास करते हुए २७ कल्प बीत गये॥ १०॥ मैं (यहाँ) सदा आदरपूर्वक श्रीरघुनाथजीका गुणगान करता हूँ और चतुर पक्षी उसे सादर सुनते हैं॥ १०॥

नोट—१ (क) *'करि बिनती'* यह कि ऐसी ही कृपा बनाये रखियेगा। (रा० प्र०) फिर दर्शन करता

रहूँगा, दूर रहनेपर स्नेह, छोह न छोड़ियेगा, *'बालक जानि करब नित नेहू'* इत्यादि। (ख) *'मेरु सिखर बट छाया मुनि लोमस आसीन। देखि चरन सिर नाएउँ॥'* (११०) उपक्रम है और *'करि बिनती मुनि आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिरु नाई। हरष सहित एहि आश्रम आएउँ॥'* (११४। ८-९) उपसंहार है। (ग) *'आयसु पाई'*—कहीं जाय तो आज्ञा लेकर वहाँसे चले, यह शिष्टाचार है और यहाँ तो मुनिने पूर्व चल देनेपर स्वयं सादर बुलाया था, यथा—*'अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई॥'* अतः आयसु माँगकर चलना यह मुनिका आदर करना है—*'निज निज गृह गए आयसु पाई॥'* (४७। ८) देखो। *'पुनि पुनि'* अत्यन्त कृतज्ञता तथा प्रत्युपकारका असामर्थ्य जनाता है। पुनः, *'पुनि पुनि सिरु नाई'* क्योंकि अभिलाषासे कहीं अधिक अनुग्रह हुआ।

२—*'हरष सहित एहि आश्रम……'* इति। (क) *'हरष सहित'* अर्थात् कृतार्थ होकर। (ख) *'एहि आश्रम'* से जान पड़ता है कि यह आश्रम इन्होंने पूर्व ही देख रखा था, इनको यह परम रमणीक और भजन करने योग्य जान पड़ा था। अतः लोमशजीके पाससे सीधे यहाँ आये। (ग) *'प्रभु प्रसाद दुर्लभ बर पाएउँ'*—भाव कि ऐसा वर किसी प्रकार भी पुरुषार्थ करने, अनेक साधनोंमें पच-पच मरनेसे प्राप्त नहीं हो सकता; एकमात्र प्रभुके परमप्रसादसे ही मिल सकता है।

नोट—३ इसके बाद मुनिके आशीर्वादका चरितार्थ दिखाते हैं—

	चरितार्थ
रामभगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥ सदा रामप्रिय होहु……	१ *'करउँ सदा रघुपति गुनगाना……'* से *'पुनि उर राखि राम सिसुरूपा……'* तक
'जेहि आश्रम तुम्ह बसब……' से *'कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ'* तक	२ *इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥*
जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥	३ *'निज प्रभु दरसन पायेउँ……'* *'प्रभु प्रसाद दुर्लभ बर पाएउँ'*

४—जो मुनिने कहा था कि *'जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरत श्रीभगवंत'* उसका चरितार्थ *'करौं सदा रघुपति गुन गाना'* से जनाया।

पं० रा० व० श०—*'बीते कलप सात अरु बीसा'* इति। आजकल जो संकल्प पढ़ा जाता है उसमें वर्तमान कलियुग को २८ वें कल्पका कलियुग कहते हैं, यथा—**'अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे।'** इससे ज्ञात होता है कि सम्भवतः इसी कल्पमें गरुड़जी भुशुण्डिजीके पास गये थे। महाप्रलयमें भी नाश न होनेका कारण बताया कि भगवान् लोमशके वरदानसे ऐसा होता है। प्रलयके समय अविद्याकृत सब पदार्थोंका नाश होता है, यहाँ एक योजनपर्य्यन्त अविद्या नहीं है, अतः इनका नाश नहीं होता*।

वि० त्रि०—*'इहाँ बसत……सात अरु बीसा'* इति। भाव यह कि रामचरितसरकी प्राप्ति भुशुण्डिजीको लोमशऋषिसे हुई, अर्थात् इसके पूर्वके रामावतारकी कथा मुनिजीने भुशुण्डिजीको सुनायी, उसके बाद भुशुण्डिजी नीलगिरिपर आये। वहाँ सत्ताईस कल्प बीते। उसके बाद गरुड़जी आये। उनको उन्होंने वह कथा सुनायी। उसी कथाको शिवजीने पार्वतीसे कहा। उसी संवादको याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाजजीसे कहा। उसी संवादको गोस्वामीजी कह रहे हैं। फलतः गोस्वामीजी उन रामावतारोंकी कथाएँ कह रहे हैं जिन्हें हुए कम-से-कम सत्ताईस कल्प हुए और वाल्मीकिजीने इस कल्पके रामावतारकी कथा कही है। अतः वाल्मीकीय रामायण और रामचरितमानसके कथा-भागमें अन्तर न पड़ना ही आश्चर्य है।

रा० प्र०—*'करौं सदा रघुपति गुन गाना'* से गुणगानकी अन्य सब कर्मोंसे प्रधानता जनायी। इसमें परोपकार भी है। 'सुजान' से जनाया कि ये सब पक्षके ज्ञानी, योगी और परमहंस आदि हैं।

---

* करु०—प्रलय पाँच प्रकारके हैं। नित्य, युगान्त, नैमित्तिक, आत्यन्तिक और महाप्रलय। इन्हींको पाँच प्रकारके कल्प कहते हैं। यहाँ २७ कल्प नैमित्तिक कल्प हैं जो ब्रह्माके एक-एक दिन पूरा होनेपर होते रहते हैं। महाकल्प वा महाप्रलय वह है जो ब्रह्माकी १०० वर्षकी आयु पूरी होनेपर होता है।

जब जब अवधपुरी रघुबीरा। धरहिं भगतहित मनुज सरीरा॥ १२॥
तब तब जाइ रामपुर रहऊँ। सिसु लीला बिलोकि सुख लहऊँ॥ १३॥
पुनि उर राखि राम सिसु रूपा। निज आश्रम आवौं खगभूपा॥ १४॥

अर्थ—जब-जब रघुवीर श्रीरामचन्द्रजी अवधपुरीमें भक्तोंके कल्याणके लिये मनुजशरीर धारण करते हैं*॥ १२॥ तब-तब मैं श्रीरामजीकी पुरीमें जाकर रहता और शिशुलीला देखकर आनन्द प्राप्त करता हूँ॥ १३॥ फिर, हे पक्षिराज! बालरूप श्रीरामको हृदयमें धरकर मैं अपने आश्रममें आता हूँ॥ १४॥

नोट—*'उर राखि राम सिसु रूपा—'* से जनाया कि शिशु-चरितके बाद चला आता हूँ। ये पाँच वर्ष बराबर लगातार रहता हूँ।

कथा सकल मैं तुम्हहिं सुनाई। काग देह जेहि कारन पाई॥ १५॥
कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी। राम भगति महिमा अति भारी॥ १६॥

अर्थ—जिस कारण मैंने काकशरीर पाया वह सब कथा मैंने आपको सुनायी॥ १५॥ हे तात! मैंने आपके सब प्रश्नोंके उत्तर कहे। रामभक्तिकी महिमा अत्यन्त भारी है॥ १६॥

नोट—१ काकदेह पानेके कारणकी कथा प्रधान है, इसीके अन्तर्गत अन्य सब प्रश्नोंके उत्तर आ जाते हैं। अतः प्रथम ***'काग देह जेहि कारन पाई'*** कहकर तब यह कहा कि ***'कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी।'*** अर्थात् उसीमें सब आ गये। प्रश्नोंके उत्तर यथास्थान प्रकरण देकर लिखे जा चुके हैं। २—***'सब निज कथा कहउँ मैं गाई।'*** (९५। ४) उपक्रम है और ***'कहेउँ तात सब—'*** उपसंहार। लगभग २० दोहोंमें यह प्रसङ्ग कहा गया है। आगे श्रीरामभक्तिकी महिमा कहते हुए शुष्क ज्ञानका निरास करते हैं।

☞ गरुड़जीने ज्ञानको विशेष मान रखा है, यह बात उनके प्रश्नके शब्दोंसे प्रकट है। वे प्रश्नके प्रारम्भमें भुशुण्डिजीको पहले ज्ञाननिधान कहकर तब भक्त कहते हैं; यथा—***'ज्ञान बिरति बिज्ञान निवासा। रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा॥'*** तथा अन्तमें काल न व्यापनेका कारण ***'ज्ञान प्रभाउ कि जोगबल'*** यही समझते हैं। अतएव भुशुण्डिजीने भी आदि और अन्तमें ज्ञानादिका निरास कर भक्तिको प्रधान और सर्वसुखका कारण प्रतिपादन किया है—आदिमें ***'बिरति बिबेक जोग बिग्याना। सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावै छेमा॥'*** (९५। ५-६) यह कहा और अन्तमें भी उसी भक्तिकी महिमा कहकर प्रसङ्गको समाप्त करते हैं। इसी तरह आगे भी ज्ञान और भक्तिके विषयमें प्रश्न करते हुए गरुड़जीने ज्ञानको प्रथम कहा है—***'ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता'*** और उत्तरमें भुशुण्डिजी उसको उलट देते हैं—***'भगतिहि ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा।'***

(भक्ति-महिमा)

दो०—ताते यह तन मोहि प्रिय भएउ रामपद नेह।
निज प्रभुदरसन पाएउँ गए सकल संदेह॥
भगतिपक्ष हठ करि रहेउँ दीन्हि महारिषि साप।
मुनि दुर्लभ बर पाएउँ देखहु भजन प्रताप॥ ११४॥

अर्थ—मुझे यह शरीर इससे प्रिय है कि इसमें मुझे श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें स्नेह हुआ, मैंने अपने प्रभुका दर्शन पाया और मेरे सब सन्देह दूर हो गये। हठ करके मैं भक्तिपक्षमें दृढ़ रहा जिससे महर्षिने मुझे शाप

---

* १—रा० प्र०—'रघुबीर..........' अर्थात् सनातन द्विभुज-भूपरूप मनुजशरीर धरते हैं। अर्थात् भावमें मनुष्योंके बीच भूमिमें प्रकट होते हैं। रामपुर=श्रीअयोध्याजी; 'पहुँचे दूत रामपुर पावन'। २—'रघुबीर धरहिं मनुज सरीरा' से स्पष्ट करते हैं कि जब साकेतसे अवतार होता है तब; क्योंकि रघुवीररूपसे उसी लोकमें निवास रहता है।—विशेष ७५—२ देखिये। 'भगतहित मनुजसरीर' के भाव पूर्व आ चुके हैं।

दिया। (अन्तमें) मुनियोंको भी जो दुर्लभ है वह वरदान मैंने पाया—यह भजनका प्रताप देखिये॥ ११४॥

खर्रा—'*ताते*—', यथा—'*जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान।*' (दो० १४२) यहाँ काक-तन प्रिय होनेके तीन कारण कहते हैं—१ रामपदमें स्नेह हुआ, २—निज-प्रभुका दर्शन पाया, और ३—सब सन्देह गया। ये तीनों (बातें) इसी देहमें प्राप्त हुईं।

पं० रा० व० श०—'*भगतिपक्ष हठ करि रहेउँ—भजन प्रताप*' इति। भाव कि जो भक्तिमें दृढ़ रहते हैं उनको ही ऐसा लाभ होता है कि ऐसे महर्षिसे हठ करनेपर, वाद-विवाद करनेपर भी हानिके बदले परम लाभ हुआ। शाप उलटकर आशीर्वाद हो गया। यह भक्तिका माहात्म्य है इसमें गिरनेकी शङ्का कदापि नहीं।

नोट—श्रीमद्भागवतमें भी भगवान्‌की स्तुति करते हुए श्रीनारदादि मुनियों तथा ब्रह्मा-शिवादि देवताओंने भी भक्तिकी महिमा और ज्ञानकी न्यूनता कही है। यथा—'**येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः। आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥ तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥**' (१०। २। ३२-३३) अर्थात् आपके भक्तोंसे भिन्न अन्यान्य लोग जो अपनेको मुक्त मानकर अभिमानवश आपकी भक्ति नहीं करते उनकी बुद्धि भलीभाँति शुद्ध नहीं होती। अतएव वे आपके श्रीचरणोंकी अवहेलना करनेके कारण वे यदि बड़ी तपस्या और साधनाका कष्ट उठाकर किसी प्रकार ऊँचे-से-ऊँचा पद भी पा जायँ तो भी वहाँसे गिर जाते हैं। किन्तु हे प्रभो! जो आपके निज भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी भी उन ज्ञानाभिमानियोंकी भाँति अपने पथसे नहीं गिरते। वे तो बड़े-बड़े विघ्नोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकता, क्योंकि आप स्वयं उनके रक्षक हैं।

इससे भारी विघ्न और क्या हो सकता है कि विप्र-शरीरसे चाण्डाल और वह भी चाण्डाल पक्षीकी देहमें उतार दिये गये। फिर भी उनको '*भय न दीनता आई॥*' फल तो प्रत्यक्ष आपने देखा। 'माया, काल, कर्म, गुण, स्वभाव' इत्यादि सभीसे सदाके लिये निर्भय कर दिये गये।

रा० प्र०—भजनका प्रभाव यह कि बाधक भी साधक हो गया, '*भगतनके साधक हैं तेई॥*' मुनिने शाप भी दिया पर वर जो मिला वह मुनियोंको भी दुर्लभ है। (लोमशजीको भी वह सुख प्राप्त नहीं है जो मुझे है।)

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥ १॥

ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥ २॥

अर्थ—जो ऐसी भक्तिको (कि जिसके प्रतापसे शाप भी उलट गया और दुर्लभ आशीर्वाद मिला, यह प्रभाव जिसका प्रकट है) जान-बूझकर छोड़ देते हैं और केवल ज्ञानके लिये परिश्रम करते हैं, वे जड़ घरमेंकी कामदगौको त्यागकर दूधके लिये मदार खोजते फिरते हैं॥ १-२॥

वि० त्रि०—'*असि भगति*' अर्थात् जो शापको भी मुनिदुर्लभ वरमें परिणत करनेवाली, सब सुखोंकी खानि और ज्ञान-वैराग्यकी जननी है, ऐसी भक्तिको। भाव यह कि जबतक भगवद्भक्ति न हो, श्रीरामपदमें प्रेम न हो, तबतक कोई कल्याण नहीं हो सकता और प्रेम हो जानेपर कोई कल्याण रुक भी नहीं सकता, बिना प्रार्थनाके सब कल्याण अपने-आप उपस्थित होते हैं और अकल्याण भी कल्याणरूपमें परिणत होते हैं।

'*जानि परिहरहीं*'—सर्वकल्याणका त्याग और भक्तिका त्याग एक वस्तु है। कोई भी प्रज्ञावान् जान-बूझकर कल्याणका परित्याग नहीं कर सकता। जान-बूझकर जिसने कल्याणका परित्याग किया, उसका दोष बिना जाने परित्याग करनेवालेसे कहीं बढ़कर है। बिना जाने कल्याणका त्याग करनेवाला जानते ही उसका ग्रहण कर लेगा और जान-बूझकर त्याग करनेवालेके पुनः ग्रहणकी सम्भावना भी नहीं है, अतः जान-बूझकर भक्तिके परित्याग करनेवालेका कभी भी कल्याण नहीं हो सकता।

नोट—१ '*जानि*' का भाव कि जो नहीं जानते वे क्षम्य हैं। पर जो जानते हुए भी ऐसी भक्तिको

छोड़ते हैं वे *'जड़'* हैं। जड़ोंमें चेतनता नहीं होती, न बुद्धि आदि। *'जड़'* कहकर उन्हें कलिमलग्रसित विमूढ़ जनाया।

नोट—२ *'केवल'* का भाव कि भक्तिसंयुक्त ज्ञान हो तो हर्ज नहीं, केवल शुष्क ज्ञान जिसमें भक्तिका लेश नहीं, उसके ही विषयमें यह दृष्टान्त है। ज्ञान रामभक्ति-संयुक्त हो तब तो वह ज्ञान शोभित ही है—***'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू॥'***

वि० त्रि०—*'केवल ज्ञान'* इति। भाव यह है कि बिना उपासनाके ऋतम्भराप्रज्ञा ही नहीं होती। वह सत्य अर्थका प्रकाश करती है, इसीलिये इस बुद्धिका नाम ऋतम्भरा है। पहिले उपासनासे ईश्वरमें चित्त एकाग्र होता है, तब उस समय केवल ईश्वर-शब्द, ईश्वर-अर्थ और ईश्वर-ज्ञान मात्र चित्तमें रह जाता है। फिर धीरे-धीरे ध्यान करनेवाला और ध्यान भी बेपता हो जाता है, केवल ईश्वर अर्थमात्र शेष रहता है, तब सच्चा ज्ञान ईश्वरका होता है। इस अवस्थावाली बुद्धिको ऋतम्भरा कहते हैं सो बिना प्रेमके ईश्वरमें चित्त एकाग्र ही नहीं हो सकता और बिना एकाग्र हुए ऋतम्भराप्रज्ञा न होगी और बिना ऋतम्भराके ईश्वरका सच्चा ज्ञान हो नहीं सकता; इसलिये कहते हैं कि केवल ज्ञान श्रम है।

सगुण ब्रह्ममें चारों प्रकारकी समाधि होती है—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार। भगवान्‌का स्थूलरूप विराट् है, अतः उसमें सवितर्क और निर्वितर्क समाधि होती है। और, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर सूक्ष्मरूप है, क्योंकि सूक्ष्मताका पर्यवसान अलिङ्ग-(प्रकृति-) तक है। अतः हिरण्यगर्भ और ईश्वरमें सविचार और निर्विचार समाधि होती हैं। निर्विचारमें निर्वितर्ककी भाँति अर्थमात्रका निर्भास रह जाता है। सवितर्कका स्थूल विषय है और सविचारका सूक्ष्म। यही दोनोंमें भेद है। निर्विचार समाधिके निर्मल प्रवाहसे ही अध्यात्मप्रसाद होता है, वहाँ ऋतम्भराप्रज्ञा होती है, उसीसे ईश्वरका साक्षात्कार हो सकता है। भक्तिसे ये सब बातें अपने-आप होती हैं। प्रेममें ही यह सामर्थ्य है कि वह प्रेमीको प्रेमास्पदके सन्निकट बिना जाने भी लिये चला जाता है।

'श्रम करहीं'—बिना भक्तिके ज्ञान चाहनेवाले कितना बड़ा परिश्रम करते हैं यह 'ज्ञानदीपक'—प्रसंगमें देखियेगा। उसपर भी विघ्नबाहुल्यसे उनका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। इसीलिये फलप्राप्ति न कहकर *'श्रम करहीं'* कहा।

प० रा० व० श०—श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धमें श्रीब्रह्माजी स्तुति करते हुए कहते हैं कि—**'श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूल-तुषावघातिनाम्॥'** (१०। १४। ४) अर्थात् समस्त कल्याणरूप आपकी भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानके लिये जो क्लेश करते हैं उनको क्लेश ही हाथ लगता है। जैसे कि एक गँवारने एक किसानको देखा कि उसने धानोंको कूटकर उनमेंसे चावल प्राप्तकर उन्हें पकाकर भोजन कर लिया। यह देख उसके जीमें आया कि हम पेटके लिये मजूरी आदि अनेक कष्ट क्यों उठावें, हम भी धान खेतमें पड़ा ही है इसे कूटकर खा लिया करें, खेतमें धानकी भूसी पड़ी ही थी वह उठा लाया और कूटता-कूटता थक गया, हाथमें फफोले पड़ गये। उसमें चावल कहाँ निकले, पर वह कूटता ही गया। इतनेमें बवंडर आया, सब भूसी उड़ गयी, उस गँवारके हाथ केवल फफोले ही लगे।

नोट—३ गोस्वामीजीका दृष्टान्त उससे कहीं बढ़कर है।—***'कामधेनु गृह त्यागी॥ खोजत आक फिरहिं……॥'*** घरमें कामधेनु है, उससे जब और जितना दूध चाहें प्राप्त हो सकता है, पर ये मूर्ख हैं कि उसको तो छोड़ दें और दूधके लिये मदार-पेड़ ढूँढ़ते फिरें। कथा यों है कि एक मूर्खने एक मनुष्यको देखा कि वह मदारके पेड़से दूध ले रहा था। यह न समझा कि वह दवाके लिये दूध ले रहा है। बस उसने सोचा कि गौके पालनेमें तो बड़ा बखेड़ा है; घास-भूसा, खली इत्यादि लाना, खिलाना इत्यादि कौन करे, यह उपाय तो बड़ा सहज है, गये और पेड़से दूध ले आये। बस उसने घरकी कामधेनुको तो निकाल दिया और आकसे दूध लेने चला। इतना मदार कहाँ कि खानेभरको दूध मिले। अतः 'खोजता

फिर रहा है।' दूसरी मूर्खता यह है कि उसने यह न जाना कि दूध आँखमें लगा कि अंधा ही हो गया। आँख भी गँवा बैठा।

नोट—४ यहाँ भक्ति कामधेनु है, ज्ञान आक है, सुख दूध है; यथा—*'जे सुख चाहहिं आन उपाई'॥*

वि० त्रि०—*'कामधेनु गृह त्यागी'*—पहले भक्तिके लिये *'जानि परिहरहीं'* कह आये हैं। अतएव जो **भक्तिको** जानता है, भक्ति उसके घरमें है। उसे चाहिये कि उसीकी सेवा करे और लाभ उठावे। उसे कहीं कुछ ढूँढ़ना नहीं है। इतनेपर भी जिसने भक्तिकी उपेक्षा की, उसने मानो घरमें स्थित कामधेनुका त्याग किया। कामधेनु यथेप्सित अमृतमय दूध जभी चाहो तभी देती है और उसके अतिरिक्त भी जितनी कामनाएँ हों उन्हें पूर्ण करती है, इसी भाँति भक्ति कामधेनु है। मनचाहा परम कल्याणकर ज्ञान तो देती ही है और भी जो कुछ मनोवाञ्छित है उसे पूर्ण करती है। उस भक्तिद्वारा वास्तव ज्ञान न चाहकर निरुपास्ति ज्ञानकी ओर जो दौड़ता है, उसीके लिये कहा जाता है कि इसने घरमें बसी हुई कामधेनुका परित्याग किया।

श्रीकरुणासिंधुजीने इससे मिलता हुआ यह श्लोक महारामायणका दिया है—**'ये रामभक्तिममलां सुविहाय रम्यां ज्ञाने रताः प्रतिदिनं परिक्लिष्टमार्गे। आरान्महेन्द्रसुरभीं परिहृत्य मूर्खा अर्कं भजन्ति सुभगे सुखदुग्धहेतुम्।'** अर्थात् हे सुभगे! जो लोग निर्मल, रमणीय रामभक्तिको सर्वथा त्यागकर प्रतिदिन अत्यन्त क्लिष्ट ज्ञानमार्गमें लगे रहते हैं, वे मूर्ख सुरभीको छोड़कर सुखरूपी दूधके लिये आकका सेवन करते हैं।

वि० त्रि०—*'खोजत आक फिरहिं पय लागी'* इति। मदारका रस दूध-सा होता है पर स्वाद और गुणमें दूधसे एकदम विपरीत होता है। इसी भाँति निरुपास्ति ज्ञान भी रूप-रंगमें सोपास्ति ज्ञान-सा ही होता है, परंतु किसी प्रकारकी समापत्ति (समाधि) न होनेसे ऋतम्भराप्रज्ञा ही नहीं होती। अतः उसमें सोपास्ति ज्ञानका कोई गुण नहीं होता, प्रत्युत उसमें बड़ा भारी दोष आ जाता है। तत्पदवाच्य परमेश्वरकी ओर मन न जानेसे वह तत्पदके शोधनमें भी सर्वथा असमर्थ है और संसारमें ममता रहनेसे **'त्वम्'** पदवाच्य जीवका भी शोधन नहीं कर पाता। अतः लक्ष्यार्थकी उसे प्राप्ति ही नहीं हुई, ऐक्य वह किसका करेगा? वाच्यार्थका ऐक्य हो नहीं सकता, अतः मुखसे **'ब्रह्मास्मि'** उच्चारण करते रहनेपर भी और सारी प्रक्रिया कण्ठस्थ होनेपर भी उसे कल्पशतमें भी ज्ञान न होगा। उसकी दृष्टि ही नष्ट हो गयी। अतः निरुपास्तिज्ञान मदारके दूधकी भाँति हानिकर है। निरुपास्तिज्ञानवालेके लिये अन्तर्मुख होना बड़ा कठिन है, अतः उसके प्रयत्नको 'घरसे बाहर खोजते फिरना' कहा। [श्रीत्रिपाठीजीके मतानुसार पयकी उपमा वास्तवज्ञानसे अर्थात् श्रीराम ब्रह्मके ज्ञानसे है]

सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ३॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥ ४॥

अर्थ—हे पक्षिराज! सुनिये! जो लोग भगवान्‌की भक्तिको छोड़कर अन्य उपायसे सुख चाहते हैं वे शठ हैं। वे मूर्ख महासमुद्रको अपनी जड़ करनीसे बिना नावके तैरकर ही पार होना चाहते हैं*॥ ३-४॥

वि० त्रि०—१ (क) *'हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं'* इति। पूर्व बताया कि ज्ञानेच्छुकके लिये भक्ति ही उपाय है, अब बताते हैं कि सुखप्राप्तिका भी यही एकमात्र उपाय है। मिलान कीजिये—*'रघुपति भगति बारिछालित चित बिनु प्रयास ही सूझै। तुलसिदास यह चिदबिलास जग बूझत बूझत बूझै॥'*, *'सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो। हरि पद-बिमुख लह्यो न काहू सुख सठ! यह समुझ सबेरो॥ बिछुरे ससि-रबि मननैननितें पावत दुख बहुतेरो।——'* (विनय०)। (ख) *'जे सुख चाहहिं'* इति। सुख तो सभी चाहते हैं पर सबको सुखका चाहनेवाला नहीं कह सकते। जो जान-बूझकर भी दुःखदायक वस्तुको गलेमें बाँधे फिरता है, उससे छूटनेका प्रयत्न नहीं करता उसे सुख चाहनेवाला कैसे कहें। यथा—*'जदपि बिषय सँग*

* वै०—'ये ब्रह्मास्मीति नित्यं वदन्ति हृदि विना रामचन्द्राङ्घ्रिपद्मम्। ते बुध्यास्त्यक्तपोतास्तृणपरिनिचये सिन्धुमुग्रं तरन्ति॥'— (महारामायणे)। पुनः, यथा—रुद्रयामले—'ये नराधमा लोकेषु रामभक्तिपराङ्मुखाः। जपं तपं दयां शौचं शास्त्राणाम-वगाहनम्। सर्वं वृथा विना येन शृणुध्वं पार्वति प्रिये।' पुनः, यथा सत्योपाख्याने—'विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते।'

सह्यो दुसह दुख, बिषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममताबस, जानतहूँ नहिं जान्यो॥' (विनय० ८८) जो सचमुच बिपत्तिजालसे छूटकर सुख चाहता है वही वस्तुतः सुख चाहनेवाला है। (ग) *'आन उपाई'*—सुखके साधनमें जीवमात्र दिनरात लगे हैं पर भजन छोड़ किसी साधनमें सुख नहीं। यथा—*'नाहिंन आवत आन भरोसो। यहि कलिकाल सकल साधनतरु है श्रम-फलनि फरो सो॥ तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो। पायेहि पै जानिबो करम-फल भरि भरि बेद परोसो॥ आगम-बिधि जप-जाग करत नर सरत न काज खरो सो। सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग बियोग धरो सो॥ काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ग्यान बिराग हरो सो। बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो॥ बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो। गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो॥ तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो। रामनाम-बोहित भव-सागर चाहै तरन तरो सो॥'* (विनय०)।

नोट—१ (क) भाव कि हरिभक्ति छोड़ अन्य किसी उपायसे सुख नहीं मिल सकता। भवसिन्धु पार करनेके लिये हरिभक्ति ही पार करनेवाली तरणी है, बिना इसके पैरकर पार पानेकी इच्छा मूर्खता है। (ख) भवसागर (जलादिवाले सप्त) समुद्रोंसे कहीं अगम है अतः उसे महासिन्धु कहा। यह सिन्धु भवके सामने अति लघु है, यथा—*'नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं। यह लघु जलधि तरत कति बारा॥'* (लं०) (ग) यहाँ भव महासिन्धु है, हरिभक्ति तरणी है, योगज्ञानादि अनेक उपाय करना पैरना है, अन्य साधनोंसे भवपार होनेकी इच्छा पैरकर पार पहुँचनेकी इच्छा है, दोनोंकी करनीमें मूर्खता है। सुख होना समुद्र पार होना है।

२—*'महासिंधु बिनु तरनी......'* इति। भवसागरका रूपक आर्ष ग्रन्थोंसे पूर्व दिया गया है। विनय० ५९ में भवसरिताका रूपक इस प्रकार है—*'घोर, अवगाह भव आपगा पापजलपूर दुष्प्रेक्ष्य दुस्तर अपारा। मकर षड्वर्ग गो नक्र चक्राकुलं कूला सुभ असुभ दुख तीव्र धारा॥'* भगवान् और उनकी भक्तिको भवसिंधु तरनेका जहाज कहा है, यथा—*'अजहूँ बिचारि बिकार तजि भजु राम जन सुखदायकं। भवसिंधु दुस्तर जलरथं भजु चक्रधर सुरनायकं॥'* (वि० १३६) भक्तिके बिना भवसिन्धुमें पड़े रहना पड़ेगा, यह पूर्व वेदोंने स्वयं कहा है। यथा—*'भवसिंधु अगाध परे नर ते। पदपंकज प्रेम न जे करते॥'* (१४ छंद ५)

वि० त्रि०—(क) अन्य साधनोंका भरोसा करना अपनी आत्माको धोखा देना है, अतः ऐसा करनेवालेको *'सठ'* कहा। यथा—*'कपट सार सूची सहस बाँधि बचन परबास। करि दुराव चह चातुरी सो सठ तुलसीदास॥'* (ख) *'महासिंधु'* इति। देहाभिमान महासमुद्र है। यथा—*'कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर बिपुल अवगाह दुस्तर अपारं। नक्र रागादि संकुल मनोरथ सकल संग संकल्प बीची बिकारं॥'* (विनय०) बिना इसके पार किये सुख मिल नहीं सकता और देहाभिमान-सागरके पार जानेका एकमात्र साधन भक्ति ही है। (ग) 'जड़ करनी'=विचारविहीन करणी। यदि इसे महासिन्धुका विशेषण मान लें तो भाव होगा कि यदि समुद्र चेतनकरणी होता तो अनुनय-विनयसे भी किसी प्रकार प्राण-रक्षाकी आशा की जा सकती थी, पर वह जड़करणी है, अतः उससे किसी प्रकारकी सहायताकी आशा नहीं की जा सकती। (घ) *'पैरि पार चाहहिं'*—भुजबलसे पैरकर जानेमें अनेक आपत्तियाँ हैं, एक तो मनुष्य-शरीरको इतना सामर्थ्य नहीं, दूसरे पर्वतोपम तरंगोंके थपेड़ोंसे विकल होकर उसके आगे बढ़ना असम्भव, यह भी सही तो जल-जन्तुओंका शिकार हो जायगा। इसी प्रकार महासिंधुके तरनेमें कैसा ही पुरुषार्थी हो, संकल्प-तरंगोंसे विकल हो जायगा, इनसे यदि बचा तो रागद्वेषादिका शिकार बन जायगा।

नोट—३ पांडेजी *'पैरि पार चाहहिं जड़ करनी'* का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'पैरकर पार जाना (पहुँचना) चाहते हैं और करनी उनकी जड़ है अर्थात् वे हाथ-पाँव हिलाते नहीं।'

सुनि भसुंडि के बचन भवानी। बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी॥ ५॥
तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं। संसय सोक मोह भ्रम नाहीं॥ ६॥
सुनेउँ पुनीत राम गुन ग्रामा। तुम्हरी कृपा लहेउँ बिश्रामा॥ ७॥

अर्थ—हे भवानी! भुशुण्डिजीके वचन सुनकर गरुड़जी प्रसन्न होकर कोमल वाणी बोले॥ ५॥ हे प्रभो! आपकी प्रसन्नतासे मेरे हृदयमें संशय, शोक, मोह और भ्रम नहीं रह गये॥ ६॥ मैंने आपकी कृपासे पवित्र श्रीरामगुणग्राम सुने और आपकी कृपासे विश्राम पाया (अर्थात् मुझे शान्ति मिली)॥ ७॥

वि० त्रि०—१ *'सुनि भसुंडि के बचन—'* इति। (क) यह कहकर गरुड़के चतुर्थ प्रश्नकी समाप्ति दिखायी। प्रश्न था—*'प्रभु तव आश्रम आए मोर मोह भ्रम भाग। कारन कवन सो नाथ सब कहहु सहित अनुराग॥'* (९४) उत्तर हुआ कि भजनके प्रतापसे लोमश महर्षिके शापका वरदानरूपमें परिवर्तन ही इसका कारण हुआ। उत्तरके अन्तमें भुशुण्डिजीने भजन-प्रतापपर बहुत जोर दिया है। अतः गरुड़जीको शङ्का उठ खड़ी हुई अतः वे पुनः बोले। (ख) *'मृदु बानी'*—कोमल वाणी बोलना सन्तस्वभाव है, यथा—*'कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।'*, गरुड़जी संत हैं। पूर्व भी कहा है—*'कह मृदु बचन खगेस।'*

२—*'तव प्रसाद प्रभु—'* इति। (क) *'तव प्रसाद'* का भाव कि संशय आदि बड़े-बड़े साधनोंसे नहीं छूट पाते सो आपकी प्रसन्नतामात्रसे न रह गये। आपका प्रसाद अमोघ है। (ख) *'प्रभु'* कहा क्योंकि इनको गुरु माना है, यथा—*'गुर बिनु भवनिधि तरै न कोई'*; अथवा शोक-मोह-विनाशमें समर्थ देखकर प्रभु सम्बोधन किया।

नोट—१ (क) *'गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा। बोलेउ उमा परम अनुरागा॥'* (९५। १) उपक्रम है और *'सुनि भसुंडि के बचन भवानी।'* उपसंहार है। यहाँतक २० दोहों और तीन अर्धालियोंमें गरुड़जीके चारों प्रश्नोंके उत्तरमें भुशुण्डिवाक्य हैं। (ख) गरुड़की वाणी सुनकर कागजी हर्षित हुए थे, वैसे ही कागजीकी वाणी सुनकर गरुड़जीको हर्ष हुआ। *'गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा'* वहाँ और *'बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी'* यहाँ। (ग) *'तव प्रसाद'*—आगे नोट ४ देखिये।

२—*'संसय सोक मोह भ्रम नाहीं।'* इति। गरुड़जीको संशय, मोह और भ्रम तथा इनसे उत्पन्न दुःख था, यथा—*'भयेउ हृदय मम संसय भारी।'* (६९। १), *'मोहि भएउ अति मोह॥'* (६८) *'सोइ भ्रम अति हित करि मैं माना।'* (६९। २), *'दुखद लहरि कुतर्क', 'खेद खिन्न मम तर्क बढ़ाई॥'* (५९। २) ☞ यहाँ उत्तरोत्तर अधिक लाभ दिखाया है—

प्रथम बार—*'गएउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपतिचरित। भयेउ रामपद नेह तव प्रसाद बायस तिलक॥'* (६८) *'तव प्रसाद सब संसय गएऊ।'*

दूसरी बार—*'तव प्रसाद मम मोह नसाना। राम रहस्य अनूपम जाना॥ प्रभु तव आश्रम आये मोर मोह भ्रम भाग॥'* (९४)

तीसरी बार—*'तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं। संसय सोक मोह भ्रम नाहीं॥ सुनेउँ पुनीत राम गुन ग्रामा॥'*

३—भुशुण्डि-गरुड़-प्रसंगकी आवृत्तियाँ—(क) प्रथम बार 'रघुपतिचरित' सुनना कहा, दूसरी बार अनुपम रामरहस्य जानना कहा और तीसरी बार 'पुनीत रामगुणग्राम' सुनना कहा। (ख) *'रामचरित सर कहेसि बखानी'*। ६४ (७) से *'पुरबरनत नृपनीति अनेका'* ६८ (६) तक, अर्थात् ४ दोहोंमें रामकथा है, यथा—*'सुनि सब राम कथा खगनाहा।'* (६८। ८) उसीको रामचरित कहा है। दूसरा प्रकरण *'तुम्ह निज मोह कहा खगसाईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं॥'* (७०। ५) से *भावबस्य भगवान सुखनिधान करुनाभवन॥'* (९२) तक २२ दोहे ४ अर्धालियोंमें हैं—यह 'अनुपम रामरहस्य' है। इसमें प्रभुका यथार्थस्वरूप, उनके विषयके मोहका स्वरूप, रामजीका सहज स्वभाव, उनकी भुशुण्डिके साथ क्रीड़ा, उसी बालकेलिमें ऐश्वर्यमहिमा और प्रताप तथा प्रभुका निज सिद्धान्त, भुशुण्डिका निज अनुभव और प्रभुके नामरूपादिकी अनन्तताका वर्णन है—यह सब गुप्तचरित हैं, यथा—*'पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास॥'* (६९) *'राम रहस्य मनोहर गावउँ।'* (७४। १) *'यह सब गुप्त चरित मैं गावा।'* (८८। ४) अतः इस सबको *'रामरहस्य अनूपम'* कहा। तीसरी बार गरुड़जीने ४ प्रश्न किये। उनके उत्तर जो *'जप तप मख सम दम ब्रत दाना।'* (९५। ५) से *'ते सठ महासिंधु बिनु तरनी।—'*(११५। ४) तक बीस दोहोंमें कहे हैं, उन्हें गरुड़जीने 'पुनीत रामगुणग्राम' विशेषण दिया है।

(इसमें आद्यन्त भक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया है, बीचमें कलिके धर्म और उसका पुनीत प्रताप कहते हुए 'विमल रामगुणगणगान' और 'रघुपतिचरणमें अति प्रीति' से कालधर्मका न व्यापना दिखाया। फिर अपने प्रसंगसे रामभजनका प्रताप दिखाया कि शाप होकर फिर दुर्लभ वरकी प्राप्ति हुई। अर्थात् इस प्रसंगभरमें रामभजनका प्रताप ही वर्णित है। कालके अपुनीत धर्म भी इससे नहीं व्यापते। अत: इस प्रसंगभरको 'पुनीत रामगुणग्राम' कहा।) (ग) चरितसे संदेहनाश, रहस्यसे मोह और भ्रमका नाश तथा रामप्रतापका हृदयमें आना, और पुनीत रामगुणग्रामसे संशय, शोक, मोह और भ्रम सबका नाश कहा।

४—*'तव प्रसाद'* की आवृत्ति सबमें है। पहली बार *'तव प्रसाद मम संसय गएऊ',* दूसरी बार *'तव प्रसाद मम मोह नसाना'* और अबकी भी *'तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं……।'*

☞ अब रघुनाथजीके विषयमें कोई संदेह नहीं रह गये। श्रीरामबन्धनसे चार बातें जो उनके हृदयमें आ प्राप्त हुई थीं वे सब चली गयीं। यह तो हुआ पर इसका फल अभी मिलना बाकी है—'रघुपतिपदप्रेम'।

५—संशय, शोक, मोह और भ्रम। प्राय: ये सब पर्यायवाची हैं पर चारों एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। अत: उनमें सूक्ष्म भेद होना निश्चित है। इनके भेद पूर्व कई बार लिखे जा चुके हैं। बाल० मं० सो० ५, १। ३१। ४ देखिये।

वै०—**संसय**=पदार्थका अनिश्चय। **सोक**=दु:ख। **मोह**=मायाद्वारा जीवका अंधा हो जाना। **भ्रम**=झूठेको सच्चा मान लेना।

करु०—मुनीश्वरोंसे सुना था कि श्रीरामचन्द्र परब्रह्म हैं, फिर नारदजीसे रणमें उनका बन्धन सुना इससे संशय हुआ। मुनीश्वरोंका कहा हृदयसे जाता रहा, उसकी कल्पनासे शोक हुआ। बन्धन निश्चय किया यह मोह है और परब्रह्ममें प्राकृत-भावरोपण भ्रम है।

वि० त्रि०—२ (क) *'संसय सोक……'* इति। उभयकोटि-अवलम्बी ज्ञानको संशय कहते हैं, यथा—*'सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रताप कछु नाहीं॥'* इष्टके नाशसे जो दु:ख होता है उसे शोक कहते हैं। अज्ञानको मोह और विपरीत ज्ञानको भ्रम कहते हैं। (ख) *'सुनेउँ……तुम्हरी कृपा'* इति। जैसे गरुड़जीने उत्कण्ठावश रामकथा सुनानेके लिये बार-बार प्रार्थना की थी वैसे ही बार-बार कृतज्ञता प्रकट करते हैं। यथा—*'अब प्रभु कथा सुनावहु मोही। बार बार बिनवौं प्रभु तोही॥', 'सुनेउँ सकल रघुपति चरित', 'सुनेउँ पुनीत राम गुन ग्रामा।'* (ग) श्रीरामचरित देखनेसे मोह और सुननेसे शान्ति होती है, यह बात उमा और गरुड़द्वारा सिद्ध हुई। भुशुण्डिजीने श्रोताका संकोच मिटानेके लिये अपने मोहका भी वर्णन किया, इत्यादि। पर गरुड़जी कहते हैं—*'सुनेउँ पुनीत राम गुन ग्रामा',* वस्तुत: भक्तोंके चरित्रमें भगवान्‌के गुणग्रामका ही वर्णन रहता है, यही बात यहाँ *'सुनेउँ राम गुन ग्रामा'* कहकर जना दी।

३ *'गुन ग्रामा'*—यहाँ 'गुणग्राम' कहकर बहुवचनका प्रयोग किया। गुणग्राम गुणोंके समूहको कहते हैं। स्तुतिमें गुणसमूहका कीर्तन होता है। रामचरितमें उल्लेखयोग्य गुणग्रामोंका संकीर्तन छब्बीस स्थानोंमें है और छब्बीस विशेषण (जो बालकाण्डके बत्तीसवें दोहेमें वर्णित हैं—*'जग मंगल गुन ग्राम राम के'* इत्यादि) छब्बीसों गुणग्रामोंमें क्रमश: भलीभाँति लागू होते हैं। यथा—ब्रह्मस्तुतिके साथ *'जग मंगल गुन ग्राम राम के'* कहना भलीभाँति बैठ जाता है। जगमङ्गलके लिये ही स्तुति हुई और उसका परिणाम भी जगमङ्गलमय ही हुआ। इसी भाँति भगवान्‌के श्रीमुखसे उपदेश पाकर पुरवासी कृतार्थ हुए। तब उन लोगोंने स्तुति की। यह पचीसवीं स्तुति है। इसका सम्बन्ध पचीसवें विशेषण *'पावन गंग तरंगमाल'* से है। पावन होना ही कृतार्थ होना है।

४ (क) *'तुम्हरी कृपा'*—यह यहाँ देहली-दीपक-न्यायसे प्रयुक्त हुआ है। भाव कि संशय-शोकादिका मिटना, रामगुणग्राम-श्रवण और विश्राम-प्राप्ति तीनों बातें आपकी कृपासे हुईं। (ख) *'लहेउँ बिश्रामा'*—भाव कि संशयवालेको विश्राम नहीं मिलता, उसकी दशा सर्पदंशित मनुष्यकी भाँति हो जाती है। सर्पदंशितकी भाँति संशयीको दु:खद कुतर्ककी लहरें उठती हैं, उसे न इस लोकमें सुख है न परलोकमें। यथा—*'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहर कुतर्क बहु ब्राता॥ तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जिआएउ जन*

सुखदायक॥' पहले तो *'उपजा हृदय प्रचंड बिषादा'* और अब हर्षित होकर मृदुवाणी बोलते हैं; अतः कहते हैं कि *'लहेउ बिश्रामा'।*

'ज्ञानहिं भगतिहि अंतर केता'—पाँचवाँ प्रश्न और उसका उत्तर

एक बात प्रभु पूँछौं तोही। कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही॥ ८॥
कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना॥ ९॥
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउँ गुसाईं। नहिं आदरेहु भगति की नाईं॥ १०॥
ज्ञानहिं भगतिहि अंतर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता॥ ११॥

अर्थ—हे प्रभो! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ। हे दयासागर! (वह) मुझे समझाकर कहिये॥ ८॥ सन्त, मुनि, वेद और पुराण कहते हैं कि ज्ञानके समान दुर्लभ कुछ भी नहीं॥ ९॥ हे गोस्वामिन्! वही (ज्ञान) मुनिने आपसे कहा पर आपने भक्तिके समान उसका आदर नहीं किया॥ १०॥ हे दयाके स्थान, प्रभो! ज्ञान और भक्तिमें कितना अन्तर (=बीच, भेद) है? यह सब मुझसे कहिये॥ ११॥

नोट—१ *'एक बात।'* भाव कि पूर्व चार प्रश्न किये—(*'कारन कवन देह यह पाई',* 'रामचरित सर कहाँ पाया', 'महाप्रलयमें भी आपका नाश नहीं होता, यह किस कारणसे' और 'आपके आश्रममें आते ही मोहभ्रम भाग गये, इसका क्या कारण है?') उनका उत्तर सुनकर एक शंका और उपस्थित हो गयी है और यह शंका भी 'एक ही' है, भारी है, अतः इसे पूछता हूँ। तथा यह एक संशय और है; इसे भी पूछता हूँ [*'प्रभु'* का भाव कि आप गुरु हैं, समर्थ हैं। गुरुसे बात छिपानेसे निर्मल विवेक नहीं हो सकेगा। यथा—*'होइ न बिमल बिबेक उर गुरु सन किए दुराव।'* गुरु कृपानिधि होते हैं। बार-बार समाधान करनेपर भी शिष्यके हृदयमें संदेह उठनेसे गुरु कृपा करके पुनः-पुनः समाधान करनेमें उद्विग्न नहीं होते—*'बिगरी सुधारै कृपानिधिकी कृपा नई।'* (वि० त्रि०)] बारंबार प्रश्न करते हैं; अतः *'कृपानिधि'* आदि विशेषण देते हैं कि इनका उत्तर देकर आप मुझे अनुगृहीत करेंगे, मुझपर आपकी यह बड़ी दया होगी। *'कहहु बुझाइ'* का भाव कि संक्षेपसे तो इस शंकाका भी उत्तर *'जे असि भगति जानि परिहरहीं।'''''पैरि पार चाहहिं जड़ करनी'* में दे दिया है, फिर भी मुझे भ्रम है; अतः मुझे समझाकर कहिये। *'मोही'* का भाव कि अन्य श्रोता बहुत दिनोंसे कथा सुनते आ रहे हैं, अतः उन्हें सब विषय अभ्रान्त हैं, वे संक्षेपमें समझ सकते हैं। मैं नया श्रोता हूँ, अतः समझानेकी आवश्यकता है।

२—*'कहहिं संत मुनि''''''* इति। (क) संत ही वेद-पुराणोंसे उपयुक्त सार लेकर सर्वहितके लिये उसका प्रचार करते हैं। यथा—*'बेद पुरान उदधि घन साधू।'* और राग-द्वेषरहित तपस्वी, मनुष्य-समाजसे पृथक् वनमें रहनेवाले मुनि हैं। यथा—*'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥'* अतः संत और मुनिके आप्त होनेमें संदेह नहीं है और आप्तोंका वाक्य प्रमाणरूपसे गृहीत होता है, सो वे लोग ऐसा कहते हैं। वेद स्वतः प्रमाण हैं और पुराण भी वेदार्थके उपबृंहण (पुष्ट) करनेसे पञ्चम वेद कहलाते हैं, ये भी परतः प्रमाण हैं। इन दोनोंके वाक्य आप्तवाक्य हैं। पुराण और वेदोंमें ही अज्ञातार्थ ज्ञापकत्व है। सो ये भी यही कहते हैं। भाव कि इस बातमें सबकी एकवाक्यता है। (ख) *'नहिं कछु दुर्लभ'*—भाव कि जगत्‌में दुर्लभ वस्तुका ही मूल्य है और उसका जगत्‌में आदर है। ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती, यथा—*'ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना',* अतः सबसे अधिक मूल्य मोक्षका है, क्योंकि वह अति दुर्लभ है; यथा—*'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद', 'ज्ञान पंथ कृपान कै धारा'* (वि० त्रि०)।

३—*'सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउँ',* यथा—*'लागे करन ब्रह्म उपदेसा''''''।'* इससे निर्गुण मत, ब्रह्म-उपदेश इत्यादि और ज्ञानको पर्याय जनाया। 'सोइ'=दुर्लभ ज्ञान। मुनि=महर्षि लोमश। *'तुम्ह सन'* अर्थात् तुम परम अधिकारी थे। ज्ञान प्रदानमें ये तीनों (ज्ञान, गुरु और अधिकारी) बातें आवश्यक हैं। जहाँ ये तीनों उत्तम एकत्रित हों वहाँ अनादरके लिये कोई कारण नहीं है। (वि० त्रि०)

मा० म०, रा० प्र०—*'नहिं आदरेहु——'* का भाव कि संत, मुनि, वेद और पुराणोंके मतसे आपका मत विरोधी-सा जान पड़ता है। क्या सन्तोंने भूलसे ज्ञानकी श्रेष्ठता प्रतिपादन की है? यह बात तो मेरे मनमें नहीं आती; अत: बताइये कि क्या कुछ इनमें भेद है? यदि है तो सब भेद कहिये।—[*'नहिं आदरेहु'* कहा; क्योंकि उसे सुनते भी न थे और उसमें उत्तर-प्रत्युत्तर भी करते रहे, यह अनादरका स्वरूप है। भुशुण्डिजीने स्वयं कहा है कि *'मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ'*। *'भगति की नाईं'* का भाव कि जब राममन्त्र और बालक रूपका ध्यान बताया तब उसे मन लगाकर सुना।]

नोट—४ *'सकल कहहु'*—यहाँ साधारणतया तो एक ही बातका प्रश्न है कि 'ज्ञान और भक्तिमें कितना अन्तर है?' तब *'सकल'* पद देनेका क्या तात्पर्य है? भुशुण्डिजीके उत्तरसे इसका समाधान हो जाता है। वह इस तरह कि—*'नहिं आदरेहु भगति की नाईं'* यह कहो, *'अंतर केता'* यह कहो, तथा *'केता'* कितना है, कितनी प्रकारका है, वह सब कहो। सकल अर्थात् दोनों शंकाओंका उत्तर कहो और सकल अन्तर कहो। दोनों बातें उत्तरमें हैं। तीन प्रकार (लिङ्गभेदद्वारा, साधनकी सुगमता कठिनताद्वारा और दीपक-मणिके रूपकद्वारा), से अन्तर दिखाया गया है और आदर न करनेका हेतु भी अलगसे कहा गया है—*'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने।'*

वि० त्रि०—(क०) *'अंतर केता——'* इति। भाव कि जाननेको ज्ञान और प्रेमको भक्ति कहते हैं। यहाँ जो ज्ञेय है वही परम प्रेमास्पद है। इसी आनन्दसिंधु सुखराशि रामको जाननेको ज्ञान कहते हैं। आनन्दानुभूति और प्रेम दो पृथक् वस्तु नहीं जान पड़तीं। जहाँ आनन्द है वहीं प्रेम है, जहाँ प्रेम है वहीं आनन्द हैं। देखनेमें तो ज्ञान और भक्तिमें पूरा-पूरा समानाधिकरण मालूम पड़ता है। मुझे अन्तर कुछ मालूम नहीं पड़ता। (ख) *'सकल कहहु'*—भाव कि आपके बर्तावसे साधन और सिद्धि दोनोंमें अन्तर मालूम पड़ता है। साधनमें अन्तर है, इसलिये आपने मुनिके उपदेशको न सुना और सिद्धिमें अन्तर है, इससे निर्गुण मतको दूरकर सगुणका निरूपण किया। अत: साधन या सिद्धि जहाँ-जहाँ अन्तर हो सो सब कहिये। (ग) *'कृपानिकेता'*—विनिमयमें कुछ न चाहकर अमूल्य उपदेश देनेका कष्ट सिवा कृपानिकेतके और कोई स्वीकार नहीं कर सकता, अत: कृपाका घर कहा।

सुनि उरगारि बचन सुख माना। सादर बोलेउ काग सुजाना॥ १२॥
भगतिहि ग्यानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥ १३॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सोउ सुनु बिहंग बर॥ १४॥

अर्थ—सर्पोंके शत्रु गरुड़जीके वचन सुनकर सुजान काकभुशुण्डिजीने सुख माना और आदरसहित बोले॥ १२॥ भक्तिमें और ज्ञानमें कुछ भेद नहीं है। दोनों संसारजनित दु:खको हरण करते हैं। (अर्थात् भव-हरण-सामर्थ्य दोनोंमें है। इस विचारसे इस विषयमें दोनोंमें भेद नहीं है)॥ १३॥ हे नाथ! मुनीश्वर लोग कुछ अन्तर बताते हैं। हे पक्षिश्रेष्ठ! उसको भी सावधान होकर सुनिये॥ १४॥

नोट—१ (क) संशय सर्प है, जैसा कि गरुड़जीने कहा है, यथा—*'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता।'* संशयको निर्मूल करनेके लिये यह प्रश्न है, अत: यहाँ *'उरगारि'* और आगे *'पन्नगारि'* सम्बोधन है। (पं० रा० व० श०) (ख) *'सुनि सुख माना'*—मर्मके समझनेवाले श्रोताको पाकर वक्ता सुखी होता है। गरुड़जीके वचन सुननेसे यह मालूम हुआ कि वे उनके उपदेशको यथावत् धारण कर रहे हैं। जहाँ कहीं तनिक-सी भी बात बैठनेमें रुकती है, तुरन्त प्रश्न कर बैठते हैं। हमारे अविनयपर प्रश्न हो रहा है, यह समझकर रुष्ट न हुए, प्रत्युत परहितैक व्रत भुशुण्डिजीने संशयोच्छेदनका पुन: अवसर पाकर सुख माना। यह कृपानिकेतता दिखायी।' *'सादर बोलेउ'*—गरुड़जीकी तीव्र जिज्ञासा तथा अपने प्रति पूर्ण आस्था देखकर आदरसहित बोले। यहाँ गरुड़जीका आदर रघुनाथजीके प्रिय दास होनेके नाते हो रहा है। उनके हृदयको रामप्रेमसे सरस देखा कि ये इस प्रकार प्रश्न करके भक्तिका सविस्तर वर्णन सुनना चाहते हैं। *'काग सुजाना'*—गरुड़जीकी वाणी, मति, गति और भक्तिको पहचानकर उनका आदर किया, अत: 'सुजान' कहा (वि० त्रि०)।

२ '*भगतिहि ग्यानहिं नहिं कछु भेदा।*' इति। संसार छूट जाना दोनोंसे होता है, भवदुःख मिटनेमें दोनोंमें कुछ अन्तर नहीं। इसपर शंका होती है कि 'तब आदर क्यों न किया?' इसीकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि जो मुनीश्वर हैं जिन्होंने शास्त्रसिद्धान्त ठीक मनन कर पाया है, वे कुछ अन्तर बताते हैं। (पं० रा० व० श०)

रा० शं० श०—'*नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर*' इति। गरुड़जीने ज्ञानके विषयमें संतों, मुनियोंका प्रमाण दिया—'*कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना॥*'; अतः इन्होंने उसका भी समर्थन किया।

रा० प्र०—ज्ञान और भक्तिमें भेद नहीं, क्योंकि जैसे ज्ञानमें '*देख ब्रह्म समान सब माहीं*', वैसे ही भक्तिमें '*सो अनन्य जाके असि मति न टरै हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥*' तथा—'*निज प्रभुमय देखहिं जगत—।*' भेद इतनामात्र है कि भक्तिमें 'मैं सेवक, मैं जीव' यह भाव है, भक्त पृथक् रहता है।

पं०—भाव यह कि हमारा पक्ष तो यह है कि दोनोंके फलमें कुछ भेद नहीं है।

मा० म०—ज्ञानद्वारा त्रिपादविभूति प्राप्त होती है और भक्तिद्वारा साकेत प्राप्त होता है, यह भेद है। परंतु जन्म-मरणको ज्ञान और भक्ति दोनों हरण करते हैं, इस कारण अभेद हैं। ब्रह्म चतुष्पाद है, यथा श्रुतिः—'**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।**' एक पादमें सारी सृष्टि स्थित है और तीन अमृतस्वरूप (निराकार) हैं; वह ज्ञानद्वारा प्राप्त होता है, जिसे कैवल्य-मुक्ति कहते हैं अर्थात् तुरीयावस्थामें जीव प्राप्त होकर 'ब्रह्मसंज्ञक' होता है। परतम श्रीरामचन्द्र त्रिपादसे भी परे हैं।

करु०—मुनीश्वर क्या भेद कहते हैं सो आगे ज्ञानदीपक-प्रसङ्गभरमें कहेंगे। वह तीन हैं—(१) सबाध्य-अबाध्य। ज्ञान सबाध्य है, भक्ति अबाध्य है। (२) काठिन्य-सरल। ज्ञानमार्ग कठिन, भक्तिमार्ग सरल। (३) निरस-सरस।—ज्ञानकी मुक्ति निरस है, भक्तिकी सरस है।

वै०—अर्थात् 'साधन-स्वरूपता' स्वभाव-सहचरादिमें अन्तर है। ज्ञानके सहचर एकान्त, वनवास, असङ्ग, असंग्रहादि दुःखद हैं, भक्ति-सहचर नामरूप-लीला-धामादि सुखद हैं।

वि० त्रि०—(क) '*भगतिहि—*' इति। भाव कि यथार्थ ज्ञान और संवादी भ्रम ही क्रमशः ज्ञान और भक्ति कहा जाता है। ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होना तत्त्वज्ञान है और उसकी उपासना संवादी भ्रम है। दोनोंमें भेद नहीं है। मणि-प्रभामें मणिबुद्धि होना यद्यपि भ्रम है तथापि उसकी प्राप्तिको दौड़ते हुए पुरुषको मणिप्राप्ति होती है। अतः मणिप्राप्तिरूपी फलके समान होनेसे अभेद कहा। (ख) '*भव संभव खेदा*'—संसाररूप वनमें दुःख-ही-दुःख हैं, अतः '*खेदा*' बहुवचन कहा। विनयके '*संसार कांतार अति घोर गंभीर—*' पद ५९ में इसके दुःखोंका सुन्दर चित्र है। (ग) '*कछु अंतर*'—भाव कि वह अन्तर सूक्ष्म है, सबको नहीं मालूम पड़ता, मननशीलोंको ही कुछ अन्तर दिखलायी पड़ा है।

पां०—'*सावधान सुनु*' कहनेका कारण कि अभी गरुड़की दृष्टि कुछ ज्ञानकी ओर ही बनी हुई है। '**सावधान**'=मन, बुद्धि, चित्त लगाकर।—(क्योंकि ज्ञान और भक्तिका भेद सूक्ष्म और गहन विषय है। किंचित् भी अनवधानता होनेसे समझमें न आयेगा।

नोट—३ पूर्व कह आये कि भक्ति घरमें बँधी हुई कामधेनु-पयवत् है और ज्ञान आक-दूधवत् है, यथा—'*जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥ ते सठ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥*' और यहाँ दोनोंमें अभेद कहते हैं। यदि कहो कि वहाँ भक्तिरहित शुष्क ज्ञानको आकपय कहा और यहाँ भक्तिसहित ज्ञान अर्थात् अभेदभक्तिवाला निर्गुण ज्ञान है तो यह भी नहीं कह सकते—यह आगेके ज्ञानप्रकरणमात्रसे स्पष्ट है। क्योंकि यदि यह भक्तियुक्त होती तब आगे यह भी न कहते कि '*अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी॥*' और न यह कहते कि '*राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥*' भक्तिके साथ ज्ञान हो तब तो सोनेमें सुहागा है क्योंकि '*ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा।*' तब यह कैसे कहते हैं कि भेद नहीं है? यहाँ 'भेद नहीं है' यह कहकर फिर '*उभय हरहिं भवसंभव खेदा*' कहकर जनाया कि भवहरणशक्तिमें दोनोंमें अभेद है। जिसमें भेद है वह आगे कहते हैं।

नं० प०—'(समाधान) केवल ज्ञानका अर्थ है शुष्क ज्ञान कि जिसमें भक्ति नहीं है; अर्थात् जीव ही ब्रह्म

है (जिसमें ऐसा माना जाता है)। इसलिये उसे मदारके दूधके समान कहा। और, *'ज्ञानहिं भगतिहि नहिं कछु भेदा'* यह ज्ञान भक्तिके सहित है, अर्थात् जिसको अभेद-भक्ति कहते हैं और निर्गुण ज्ञान कहते हैं, जिससे चारों मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं और सगुण भक्तिको भेद-भक्ति कहते हैं। (प्रमाण) *'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा॥ ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ॥'* अतः निर्गुण ज्ञानको भक्तिसे अभेद कहा और केवल ज्ञानको मदारके दूधके सदृश कहा है, ज्ञान-भक्तिका अन्तर कहा है।

ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥ १५॥

पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती॥ १६॥

अर्थ—हे हरिवाहनजी! सुनिये। ज्ञान, वैराग्य, योग और विज्ञान—ये सब पुरुषवर्ग (पुँल्लिङ्ग) हैं॥ १५॥ पुरुषका प्रताप सब प्रकार प्रबल होता है और अबला (स्त्री) स्वाभाविक ही निर्बल और जड़ जाति (जड़-प्रकृति) होती है* ॥ १६॥

वै०—*'पुरुष'।* भाव कि इनको करनेवाला अपनेको पुरुष मानता है। अर्थात् अपने पुरुषार्थका बल रखता है।—*'सहज',* क्योंकि उसका नाम ही *'अबला'* है। (रा० प्र०)

वि० त्रि०—१ (क) ज्ञान दो प्रकारका है—परोक्ष (ब्रह्मको सबमें समान देखना) और अपरोक्ष। वैराग्य भी दो प्रकारका है—वशीकार (देखे और सुने हुए भोगोंसे तृष्णारहित होना) और परवैराग्य (पुरुषके साक्षात्कारसे गुणोंमें तृष्णारहित होना)। चित्तवृत्तिका निरोध योग है। यहाँ विज्ञानसे अपरोक्ष ज्ञान समझा जायगा, यथा—*'दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी।'* [ज्ञान, विज्ञान आदिके सम्बन्धमें पूर्व कई बार लिखा जा चुका है। ८४ (१) में देखिये। (मा० सं०)] (ख) *'ए सब पुरुष'*—भाव कि चेतन पुरुष और जड़ प्रकृतिके योगसे ही सृष्टि बनी है, अर्थात् चेतन और जड़की ग्रन्थि अथवा अभिमान ही जगत्का मूल है। इस ग्रन्थिके छूटे बिना जगत्का निस्तार नहीं, अतः ज्ञान, विराग, योग, विज्ञान—ये सब इस ग्रन्थिको तोड़कर मोक्ष देनेवाले हैं। अतः बड़े स्वात्मावलम्बी पुरुषार्थी हैं, पुरुषपदवाच्यके योग्य हैं। ये मायाके प्रतिद्वन्द्वी हैं, अतः इनकी चेतनमें ही गिनती है।

वै०—भाव कि वह सब आचरणसे स्वभावसे ही अबल रहती है, पुरुषोंके सम्मुख नहीं होती, उनसे डरती है, उनके अधीन रहती है—यद्यपि ऐसा है तो भी वह स्वभावसे जड़ होती है, सब डाँट-फटकार सह लेती है, पर जिस बातका हठ पकड़ती है वही करती है, हानि-लाभादि कुछ विचार नहीं करती; इसीसे पुरुष इससे जीत नहीं पाता।

वीर—*'अबला'* और *'अबल'* में पद अर्थ दोनोंकी आवृत्ति 'पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार है'।

वि० त्रि०—२ (क) *'पुरुष प्रताप प्रबल······'* इति। प्रताप स्वावलम्बी पुरुषार्थीके हिस्सेकी वस्तु है। प्रतापसे दुष्कर कार्य भी सुकर हो जाता है, यथा—*'श्रीरघुबीरप्रताप ते सिंधु तरे पाषान।'* ज्ञान-विरागादि भी प्रताप है। उनके रहनेसे ही मोह भाग जाता है। यथा—*'सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके॥'* *'प्रबल'* अर्थात् चित्-जड़की ग्रन्थितक छोड़नेमें समर्थ है; यथा—*'गाँठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतनकी, छोर्‌यो अनायास साधु सोधक अपानको।'* (गी०) (ख) *'अबला जड़ जाती'*—जैसे चेतनको पुरुष कहते हैं वैसे ही जड़जातिको अबला कहते हैं। जड़ प्रकृति या माया है। जैसे ज्ञानादि ग्रन्थिको छुड़ानेवाले हैं वैसे ही मोहादि ग्रन्थिको दृढ़ करनेवाले हैं। अतः इनकी भी गिनती जड़जातिमें है। यथा—*'काम क्रोध मद लोभ सब प्रबल मोह की धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥'* सहज निर्बलता द्योतन करनेके लिये ही बहुत-से पर्यायोंके रहते हुए भी *'अबला'* पद दिया। (ग) *'सहज अबल'*—भाव कि प्रकृति या मायाको बल नहीं है—*'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।'* यह वृत्तिरूपी ज्ञानसे नष्ट हो जाती है, अतः सहज निर्बल कहा।

* अर्थान्तर—जड़-जाति अबला स्वभावसे ही निर्बल है। (वि० त्रि०)

खर्रा—गोस्वामीजीने ज्ञानादिको पुरुष कहा पर ये नपुंसकलिङ्ग हैं। पर यहाँ शब्दके नपुंसकत्वादिपर तात्पर्य नहीं है, वास्तविक रूप सबका पुरुष ही है।

रा० प्र०—नपुंसक उभयलिङ्ग है, इस तरह यह विरोध दूर किया।

दो०—पुरुष त्यागि सक नारिहि जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी बिषया* बस बिमुख जो पद रघुबीर॥
सो०—सोउ† मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि।
बिबस होइ‡ हरिजान नारि बिष्नु@ माया प्रगट॥ ११५॥

अर्थ—जो वैराग्यवान् और धीरबुद्धि हो, वह पुरुष स्त्रीको त्याग सकता है न कि कामी जो विषयोंके वश और रघुवीरपद विमुख है। पर हे हरिवाहनजी! (जो विरक्त मतिधीर है) वह ज्ञाननिधान मुनि भी मृगनयनीके चन्द्रसमान मुखको देखकर उसके विशेष वश (वा, बेबस) हो जाता है, क्योंकि विष्णुकी मायाका प्रकटस्वरूप स्त्री है [वा विष्णुकी माया स्त्रीरूपसे प्रकट है।—(पां०)] #

नोट—'*पुरुष——न तु कामी बिषया बस——*' के भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं—

पां०—'यद्यपि ऐसे पुरुषोंको, जिनकी वैराग्यमें मति धीर हो गयी है, स्त्री-त्यागकी शक्ति है, क्योंकि वह कामी नहीं है और न विषयके विशेष वश है पर रघुवीर-विमुख होनेसे ज्ञाननिधान होते हुए भी विकल हो जाते हैं सो नारीकी माया विश्वमें प्रकट है।'—[रेखांकित 'क्योंकि' और 'पर' अर्थपर विचार करें]

करु०—ज्ञान, विराग, योग, विज्ञान—इन चारको पुरुष कहा, अब इन चारोंके एक-एक विशेषण कहते हैं। पुरुष नारिको त्याग सकते हैं। १—जो विरक्त अर्थात् वैराग्यवान् हो वह मायारूपी नारिको त्याग सकता है। २—जो मतिधीर अर्थात् योगी हो वह त्याग सकता है। ३—'*न तु कामी*' अर्थात् जिन ज्ञानियोंको कामना न हो और ४—'*बिषया बिबस*' अर्थात् जो विषयसे अविवश, विषयके वश नहीं हैं, ऐसे विज्ञानी—मायारूपी नारीको त्याग सकते हैं। तहाँ ज्ञान, विराग, योग और विज्ञान—ये चारों अपने सामर्थ्यसे मायाको

---

* जो बिषय बस। † सो। ‡ बिकल होहि। @ 'बिस्व—(का०, रा० गु० द्वि०), बिष्नु—(भा० दा०, पं०)। 'बिस्व' पाठमें अर्थ यह किये गये हैं—१ 'विश्वको रचनेवाली माया स्त्रीरूपसे प्रकट है।' २—'विश्वमें माया स्त्रीरूपसे प्रकट है। ३—स्त्री प्रकट विश्वमाया है। भर्तृहरिजी शृङ्गारशतकमें लिखते हैं कि—'एताः स्खलद्वलयसंहति-मेखलोत्थझङ्कारनूपुररवाहतराजहंस्यः। कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृशैः कटाक्षैः॥'

करु०—'बिस्व नारि माया प्रगट।' विश्वमें माया नारिरूप ही प्रकट है, जहाँ दृष्टि जाती है वहीं उड़ै है (उड़कर पहुँचती, देख पड़ती है)। मन, कर्म, वचनसे मायामें तनिक भी चित्त जाना यही मृगलोचनी (का देखना) कहा है, यह ज्ञानियोंके चित्तहीको हर लेती है। और, ऋद्धि-सिद्धि इत्यादि मायामें चित्त जाना 'बिधु बदनी' का मुख देखना है। इससे भी चित्त हरण हो जाता है। अतः वे ज्ञान-विज्ञानसे च्युत हो जाते हैं, क्योंकि वे रामविमुख हैं।

वीर—(क) यहाँ अबला जो स्वाभाविक मूर्ख जाति और निर्बल है वह प्रबल प्रतापी पुरुषोंको सहज ही काबूमें किये है। अपूर्ण हेतुसे कार्य पूर्ण होना 'द्वितीय विभावना अलंकार' है। (ख)—'नारि बिस्व माया प्रगट' में स्त्री उपमेय और माया उपमान है। उपमानका गुण उपमेयमें स्थापन करना 'द्वितीय निदर्शना' अलंकार है। 'सोउ मुनि………' में अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

वि० त्रि०—सब माया स्त्रीमें प्रकट है और जगत्‌में गुप्तरूपसे है। जगत्‌की सृष्टि किसीने देखी नहीं, नाश कोई देख नहीं सकता, पालन करनेवाली शक्तिका दर्शन दुर्लभ है, बहुत बड़े विचारशीलोंको उसका आभासमात्र मिलता है। स्त्रीमें ये सब बातें प्रकट हैं, यहींसे सब मायाका दर्शन होता है। जैसे स्त्रीसे जीवोंकी उत्पत्ति-पालन और नाश होता है वैसे ही मायाके संसारकी उत्पत्ति आदि, भेद इतना ही है कि स्त्रीका सम्बन्ध व्यष्टिसे है और मायाका समष्टिसे। अविचारसे ही स्त्री रमणीय है, विचारसे घृणित वस्तु, रक्त-मांस-मज्जा, स्नायु, अस्थि, चर्मादिका पिण्ड है और दिखायी इतनी सुन्दर पड़ती है। इसी भाँति माया भी दुःखरूपा है और देखनेमें ऐसी आकर्षक है कि संसार इसीमें फँसकर मर रहा है।

त्यागे हुए हैं, अपने बलसे मोक्ष चाहते हैं पर हैं श्रीरामपदविमुख! ये चारों मुनि हैं, ज्ञान-निधान हैं; पर मृगनयनी चन्द्रमुखी मायाको देखकर विकल हो जाते हैं, क्योंकि यह विश्व नारिरूप ही प्रकट है, इससे (बचकर) जायँ कहाँ? (बाबा रामदासजी)।

रा० प्र०—'जो मतिधीर पुरुष नारिको त्याग सकते हैं वे सच्चे विरक्त हैं। नहीं तो कामी जो विषयवश और रघुवीरपद-विमुख हैं, वह विज्ञाननिधान होते हुए भी मृगनयनीका मुखचन्द्र देख विकल हो जाते हैं। हे गरुड़! रामकी माया विश्वमें नारीरूपसे प्रकट है; वह अलख है, हम सबको तो प्रकट नचाती है और आप गोशे (कोने) में छिपी बैठी है।'

सि० ति०—यहाँ *'तु'* पादपूर्तिके लिये है; यथा—**'तु हि च स्म ह वै—पादपूरणे'** (रूपमाला-अव्ययार्थ-भाग); अतः *'न'* मात्रका अर्थ लेना चाहिये—'नहीं'।

उपर्युक्त अर्थोंपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें *'न तु'* और *'सो'* के अर्थ ठीक नहीं आये हैं। दूसरे उनमें इन बातोंपर विचार नहीं किया गया है कि—१ यहाँ शुष्क ज्ञानका प्रकरण है। उन ज्ञानियोंकी चर्चा है, जो रघुवीर-विमुख हैं न कि भक्त-ज्ञानियोंकी। २—विज्ञानीको कामी और विषयवश कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कामी तो विमुख हो या न हो, वह तो विकल होगा ही। मतिधीरके विशेषण 'कामी विषयवश' नहीं हैं—ऐसा न माननेसे *'न तु'* पद ही व्यर्थ हो जाता है। ३—जो विमुख हैं, जिन्हें पुरुषार्थका बलभरोसा है, जो अपनेको ब्रह्म मानते हैं—उन्हींका यह प्रकरण है। *'मतिधीर'* ज्ञानीके लिये अनेक स्थलोंमें (गरुड़जीके भी सम्बन्धमें) आया है। ४—कामी विषयवश भी यदि रघुवीरकी शरण हों तो उनको माया नहीं व्यापती, क्योंकि तब प्रभु स्वयं उनकी रक्षा करते हैं, यह उनका विरद है। यथा—*'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥'*, **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'**(गीता ७। १४) *'बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटौं महि जहँ लहि तव राजू॥'* (१। २७०) *'न त मारे जैहहिं सब राजा।'* (१। २७१) *'न त येहि काटि कुठार कठोरे।'* (१। २७५) में *'न त'* पाठ है जिसका अर्थ है 'नहीं तो'। *'न तु'* का प्रयोग ठीक वैसा ही है जैसा म्लेच्छ-भाषामें 'न कि' का। यदि *'न तु'* से केवल 'नहीं' का बोध कराना था तो 'नहिं' पाठ देते। पर यहाँ 'तु' जोर (Stress) देनेके लिये ही आया है। मा० पी० का अर्थ गीताप्रेसके विद्वानोंने भी ग्रहण किया है।

वि० त्रि०—१ (क) यहाँ *'मतिधीर'* से स्थिरप्रज्ञ अभिप्रेत है अर्थात् ज्ञानयोग-विज्ञानसे युक्त विरक्त पुरुष। भाव कि पुरुष और नारीमें भोक्तृ-भोग्य-सम्बन्ध है, अतः परस्परमें आकर्षण है, एक-दूसरेको छोड़ नहीं सकते, पर ज्ञानादिमें चित्-जड़ग्रन्थि छोड़नेका सामर्थ्य है, अतः एतद्गुणविशिष्ट पुरुष चित्-जड़को पृथक्-पृथक् देखता है, अहंकारकी ग्रन्थि उसके लिये खुली हुई-सी है, अस्मिता तनु अवस्थाको प्राप्त हो गयी है, अतः उसे भोक्तृ-भोग्य-दृष्टि ही नहीं है। (ख) *'नारिहिं'*—स्त्रीके समान कोई भी विषय बन्धनकारक नहीं है। उसके त्यागसे अन्य सब विषय त्यक्तके समान हैं। जब स्थितप्रज्ञ उसको त्याग कर सकता है तब दूसरे विषयोंकी गणना ही क्या है? (ग) यह बता देना आवश्यक है कि यहाँ वस्तुतः स्त्री और पुरुष जड़ और चेतन हैं। ज्ञानादि चेतनके धर्म हैं, इसीसे उन्हें पुरुष कहा और कामादि जड़के धर्म हैं, इसीसे उन्हें स्त्री कहा।

नोट—*'बिषया बस'* का *'विषय+अबस'* अर्थ इस भ्रमसे किया गया है कि *'बिषया'* कोई शब्द नहीं है; पर यह बात नहीं है। विषया=विषय, यथा—*'बिषया हरि लीन्ह न रहि बिरती'*—(१०१ छन्द), *'बिषया बन पाँवर भूलि परे'* (शिवकृत स्तुति १४ छन्द) *'बिषया'* विषयका बहुवचन है।

वि० टी०—स्थूल देहधारी स्त्रियाँ यद्यपि अबला कहाती हैं तथापि वे अपने रूपसौन्दर्यादिसे बड़े-बड़े मुनियोंतकको भी अपने वशमें कर लेती हैं तभी तो भर्तृहरिजीने कहा है कि **'(याभिः) शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः'** अर्थात् जिन्होंने इन्द्रादिकोंको भी परास्त कर डाला है, उन्हें अबला कैसे कहें? इसी प्रकार सूक्ष्मरूपवाली स्त्रियाँ यथा ऋद्धि-सिद्धि आदि ये भी प्रायः ज्ञान प्राप्त किये हुए मनुष्यको भी लोभमें फँसाकर परमात्मासे विमुख कर देती हैं। जैसा आगे कहा गया है।

नोट—'*रघुबीर*' इति। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजीने 'प्रकृतिके सारे तूफानोंमें, सम्पूर्ण युद्धोंमें वेदान्तमय जीवन बनाये रखनेका दृष्टान्त दिखाया है। जगत्के और उस पारके निर्मल वैकुण्ठधामके अद्वैतवादको जटिलतामय युद्धके वक्षःस्थलपर स्थापित करनेका सामर्थ्य रखनेवाले होनेसे ही 'श्रीराम' वीर हैं। जो ब्रह्मचर्य प्रकृतिके भयसे अपनेको बचानेमें ही व्यस्त है, श्रीराम वैसे ब्रह्मचारी नहीं हैं।……जीवनकी सम्पूर्ण दिशाएँ शक्तिसे भरपूर होकर भी उच्छृङ्खल न हो सकें, श्रीरामजीके जीवनमें विश्वने इसी बातको प्रत्यक्ष देखा है।'—स्वामी श्रीपुरुषोत्तमानन्दजी अवधूतके इन वाक्योंसे यहाँ भाव यह निकलता है कि ऐसे जो वीर हैं, जो उनके सम्मुख होगा उसकी मायासे रक्षा करनेमें वे सदा समर्थ हैं। विमुख होनेसे ही जीव मायावश हो जाता है।

वि० त्रि०—२ '*बिमुख जो—*'—बिना भक्तिके अभ्यन्तरका मल जा नहीं सकता और उस मलके रह जानेसे समयपर भोक्तृ-भोग्यभावके उदय होनेकी पूरी सम्भावना रहती है। भक्ति बनी रहनेसे मल बराबर धुलता रहेगा और दृक्शक्ति निर्मल बनी रहती है, यथा—'*रघुपति भगति बारिछालित चित बिनु प्रयासही सूझै।*'

वि० त्रि०—३ (क) '*मृगनयनी—*' इति। सुन्दरतामें ऐसी अपूर्व अमृत-सञ्जीवनी शक्ति है कि वह मरे हुए मनको भी जगा देती है अर्थात् तनूकृत क्लेश भी उदारावस्थाको प्राप्त हो जाता है। यथा—'*जागेउ मनोभव मुयेहु मन बन सुभगता न परै कही। सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही—।*' (ख) विवश हो जाते हैं, जो नाच वह नचाती है वही नाचते हैं।

वै०—'*नारि बिस्व माया प्रगट।*' विश्वमें नारीरूप माया प्रकट है। अर्थात् मैं सूक्ष्मरूप मायाका प्रभाव नहीं कहता हूँ, वरन् जो संसारभरमें युवतीरूप स्थूल तनसे माया प्रकट है उसका प्रभाव कहता हूँ कि उसीसे पुरुष नहीं बच सकते तब ऋद्धि-सिद्धि आदि सूक्ष्मरूपके सामने कौन अट सकता है?—[यह भाव दोनों पाठोंमें ले सकते हैं]

प० प० प्र०—इन दो दोहोंमें मिलाकर एक सिद्धान्त कहते हैं। विरक्त-मतिधीर आदि गुण-सम्पन्न मुनि भी सुन्दर तरुणीको देखकर मायावश हो जाता है। इसका कारण '*नारि—माया प्रगट*' है। भाव कि यद्यपि अखिल विश्वका रूप और नाम मायामय है तथापि अन्य विषयोंमें मायाकी शक्ति इतनी प्रकट नहीं है जितनी स्त्री-विषयमें प्रकट है। मायाका अत्यन्त प्रकट रूप नारी ही है। यथा—'*तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि।*' देखिये, जन्मसे ही तो मायारूपी नारी साथ लगती है। मायारूपी नारी माता हो तो अहंत्व-ममत्वका पाठ पढ़ाती है। इस प्रकार जन्मसे ही स्त्री जीवको मायाके पाशोंमें बद्ध करने लगती है। अन्य विषय जड़ होनेके कारण पुरुषके लिये स्वयं मोहक नहीं हैं। विषयोंका व्यसन भी बहुधा माताकी शिक्षा तथा अनुकरण आदिसे लग जाता है। अन्य विषय पुरुषको मोहित करनेके लिये स्वयं उनके पास नहीं आते हैं। माया स्त्रीरूपमें समीप जाकर पुरुषको अपने हाव-भावसे मोहबद्ध करनेका प्रयत्न करती है।

दूसरे विषयोंका त्याग करनेपर वे दूर रह सकते हैं, पर स्त्रीका त्याग करनेपर भी नारी-जातिके रूपमें माया कामरहित पुरुषोंके पास आकर मुनियोंके मनमें भी विमोह पैदा करनेमें समर्थ होती है। नारदजी तथा विश्वामित्र आदि मुनि जितकाम, विषयविरक्त होनेपर भी स्त्रीरूपी मायापाशमें फँसे। नारदजीको मोहित करनेके लिये भगवन्मायाको स्त्रीरूप ही बनना पड़ा।

☞ स्त्रीके लिये पुरुष ही मायाका प्रबल प्रकट रूप है, यह शूर्पणखा-प्रसंगमें स्पष्ट हुआ है। परमार्थ-मोक्ष-साधनमें स्त्रियोंकी संख्या अपवादात्मक होनेसे परमार्थ-विषयक ग्रन्थोंमें स्त्रियोंकी दारुणता ही विशेषरूपसे वर्णित है।

इहाँ न पच्छपात कछु राखौं। बेद पुरान संत मत भाखौं॥ १॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति* अनूपा॥ २॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारिबर्ग जानै सब कोऊ॥ ३॥

अर्थ—मैं यहाँ कुछ पक्षपात रखकर नहीं कहता हूँ (वरन्) वेदों, पुराणों और सन्तोंका जो सिद्धान्तमत

* नीति—(का०)।

है वह कहता हूँ॥ १॥ हे पन्नगारि! यह अनुपम (अनूठी, अनोखी) रीति है कि स्त्रीके रूपपर स्त्री मोहित नहीं होती॥ २॥ और आप सुनें कि माया और भक्ति ये दोनों ही स्त्रीवर्ग अर्थात् स्त्रीलिङ्ग हैं, यह सभी कोई जानते हैं॥ ३॥

नोट—१ *'इहाँ न पक्षपात कछु——'* इति। यह स्वभाव प्राय: लोगोंका होता है कि जो जिस मतका होता है उसमें उसका पक्षपात होता है। अत: इस सन्देहके निवारणार्थ यहाँ प्रथम ही कहते हैं कि यहाँ ऐसा नहीं है। मैं पक्षपातसे ऐसा नहीं कह रहा हूँ। कारण यह है कि जब कोई जिज्ञासु कोई निर्णय चाहे तब जो सत्य है वही कहना चाहिये और यदि कोई विवाद करने आवे और अपना पक्ष सिद्ध करे तब हठ करके अपना पक्ष सिद्ध करना होता है (पं० रा० व० श०)। पुन: भाव कि लोमशजीसे पक्षपात किया था पर यहाँ पक्षपात नहीं है (रा० शं० श०)। लोमश-प्रसंगमें स्वयं कहा है कि *'पुनि पुनि सगुनपच्छ मैं रोपा', 'भगति पच्छ हठि करि रहेउँ।'*(११४) इहाँ अर्थात् सन्निकट, इस प्रसङ्गमें। भाव कि वहाँ तो महर्षिजीसे उत्तर-प्रत्युत्तर छिड़ गया था, उत्तर-प्रत्युत्तरमें पक्षपात न करनेसे पक्ष गिर जाता है। यहाँ वह बात नहीं है; अत: आदरपूर्वक उत्तर दिया जा रहा है, पक्षपातके समय दूसरेकी बात सादर नहीं सुनी जाती। यथा—*'एहि बिधि अमित जुगुति मन गुनऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ॥'* (वि० त्रि०)। (ख) *'बेद पुरान संत मत——।'* इति। भाव कि वेद स्वत: प्रमाण हैं। पुराण और सन्तमत परत: प्रमाण हैं, अत: इनके वचन यदि वेदाविरुद्ध हो तभी ग्राह्य हैं। वेद-पुराणके वचन भी यदि शिष्टगृहीत नहीं हैं तो वे भी अग्राह्य हैं, जैसे मेघसे न ग्रहण किया हुआ समुद्र-जल अग्राह्य होता है। जो इन तीनोंका सम्मत है वही अभ्रान्तरूपसे ग्राह्य हो सकता है।

पं० रा० व० श०—*'मोह न नारि——'* इति। मोहका अर्थ यहाँ कामातुर होता है। अर्थात् स्त्री कैसी ही सुन्दर स्त्रीको देखे तो उसको कामोद्दीपन नहीं होता। पुरुष स्त्रीको देखकर मोहित अर्थात् कामवश हो जाता है। इसीसे ज्ञानादि पुरुषवाचक माया-स्त्रीको देख मोहमें फँस जाते हैं और भक्ति स्वयं स्त्री है, वह मायापर मोहित नहीं होती। पूर्व जो बालकाण्डमें कहा है कि *'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥'* वहाँ 'मोहेका अर्थ है' 'मुग्ध हो गये।' वहाँ कामवश होना अर्थ नहीं है।

नोट—२ ☞*'मोह न नारि नारिके रूपा'* कहकर यह भी जनाया कि भक्त मायाके साथ रहकर भी उसमें आसक्त नहीं हो सकता और ज्ञानी मायाके साथ रहकर अवश्य उसके फंदेमें एक-न-एक दिन पड़कर जकड़ जाता है। भक्तको भय नहीं है, ज्ञानीको सदा भय है; इसीसे ज्ञानीको मायाके त्यागकी शिक्षा दी जाती है और भक्तिके समीप तो माया स्वयं डरती है, जैसा आगे कहते हैं। भक्त भगवान्‌की शरण रहकर मायासे तर जाता है, जैसा कि भगवान्‌ने कहा है—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'** (गीता ७। १४)

वि० त्रि०—स्त्री-पुरुषमें ही परस्पर भोक्तृ-भोग्य-भाव है, अत: पुंशक्ति और स्त्री-शक्तिमें आकर्षण है। सुंदरतासे वह आकर्षणशक्ति बहुत बढ़ जाती है; अत: स्त्रीके रूपपर पुरुष और पुरुषके रूपपर स्त्री मोहित होती है। स्त्री-स्त्रीमें न तो भोक्तृ-भोग्य-भाव है और न आकर्षण है, कारण बिना कार्य होता नहीं। अत: स्त्री स्त्रीके रूपपर नहीं मोहित हो सकती। मोहित होनेके लिये भोग्यबुद्धि भी आवश्यक है।

प्रश्न होता है कि *'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥'* यह कैसे हुआ? उत्तरके लिये दूर नहीं जाना है। श्रीराम और श्रीसीताजी यदि नर-नारी रहे तो रामायण ही व्यर्थ है। रामायण तो राम और सीताके स्वरूपका बोध करानेके लिये है। कहना नहीं होगा भोक्तृ-भोग्य-भाव अविद्याकी सीमाके भीतरकी बात है। सब नर-नारी, जीवमात्र, अविद्यासे मोहित हैं, सब विषयसुखके पीछे पड़े हैं, अविद्या जड़ होनेसे भोग्या है और जीवमात्र (नर और नारी) भोक्तृवर्ग हैं। चेतन होनेसे उनमें भोक्तृत्व है। जब जीवमात्र अविद्यासे मोहित हैं तब सर्वश्रेयस्करी मोक्षदात्री महाविद्या सीताके रूपपर जिसके द्वारा ब्रह्म रामको क्षोभ होता है, मोहित होना कौन आश्चर्य है? यथा—*'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥'* (१। २३१। ३) नीतिकी गति धर्मार्थ कामतक है, श्रीराम-जानकीजीकी बात नीतिसे परे है, नीतिके पराधीन नहीं है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—तात्पर्य यह है कि भक्ति इन्द्रियोंसे की जाती है। इन्द्रियाँ भगवान्‌का अनुभव करती हुई प्राकृत विषयोंकी अपेक्षा कहीं अधिक सुख पाती हैं, तो वे मायिक विषयोंकी ओर क्यों ताकेंगी? भक्तोंका विषय अपनी कामनासे नहीं होता, भगवान्‌के लिये ही उनकी सब कामनाएँ होती हैं, यथा—'**कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया।**'(भा० ९। ४। २०) यह अम्बरीषजीके विषयमें कहा गया है। (गीता २। ७०) में भी यही भाव है। तथा—'*रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं॥*'(२। ८४)

पर ज्ञान आदि साधनोंमें इन्द्रियोंकी सहज वृत्तियोंको रोकना होता है, फिर उन्हें दूसरा कोई वैसा आधार नहीं रहता, इससे वे विषयोंपर बलात् दौड़ती हैं।

नं० प०—'यहाँ ज्ञानादिको पुरुष कहा और भक्तिको स्त्री, किन्तु ज्ञान व भक्तिके करनेवालेको स्त्री व पुरुष नहीं कहा गया है।'

पं०—भाव कि पुरुषोंको नारी मोहती है और युवतियोंको नहीं। इसी तरह वैराग्य आदिपर मायाका विक्षेप पड़ सकता है, अनन्य भक्तिपर नहीं। मैं पक्षपातसे नहीं कहता, श्रुति-स्मृतिका सीधा-सीधा मत कहता हूँ। भक्तिको माया नहीं मोहती, क्योंकि दोनों स्त्रीलिङ्ग हैं।

वै०—'*यह नीति अनूपा*' का भाव कि इस बातमें लोकोत्तर विशेष पुष्टता है, क्योंकि (जब) नारीप्रति नारीको कामोद्दीपन होता ही नहीं तब कौन कारणसे मोहित होवे? यह निश्चय ही इसकी अनूपता है।

पं० रा० व० श०—'*अनूपा*' का भाव कि इसे आबाल-वृद्ध सभी जानते हैं।

वि० त्रि०—'*यह नीति अनूपा*' इति। भाव यह कि हमारे यहाँ नीतिका बड़ा आदर है। नीतिके ज्ञानके लिये धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्रका अध्ययन होता है। अवस्थाविशेषमें धर्मार्थ-काममें विरोध पड़ता है, वहाँ उनका तारतम्य समझकर नीति निर्धारण करना ही विद्याका फल है; अतः अवस्थापरिवर्तनसे नीति-नीतिसे परिवर्तन हुआ करता है। ऐसी कोई नीति नहीं है जो सब अवस्थाओंमें लागू हो। केवल '*मोह न नारि नारि के रूपा*' यही नीति ऐसी है कि माया भक्तिसे लेकर लौकिक नारी-नारीतक समानरूपेण उपयोगी है। इतना ही नहीं, आकर्षण और विकर्षणका सिद्धान्त इस नीतिपर कायम है। इस नीतिमें बाध नहीं है। इसीलिये अनूप कहा।

वि० टी०—शास्त्रोंमें मायाके लिये छः व्याख्याएँ की गयी हैं—(चन्द्रकान्तग्रन्थसे)।

१—जो वस्तु तीनों कालमें है ही नहीं उसे 'है' ऐसा मानना—माया है।

२—जो जीवके आत्मस्वरूपको अपने आवरणसे आच्छादित करती है।

३—जो वस्तु यथार्थज्ञान होनेपर समूल निवृत्त हो जाती है।

४—कार्य-कारण (जगत् और परमात्मा) के वेदका कारण।

५—माया वास्तवमें कुछ नहीं है, परन्तु वेदमें आत्माको जगत्‌का कारण तथा सर्वजगत्-रूप कहा है। इससे जगत् कारण सिद्ध होनेके लिये अर्थात् जगत्‌के उत्पन्न होनेमें परमात्मा आदि कोई भी कारणभूत है, ऐसा निश्चय होनेके लिये मायाकी केवल कल्पनामात्र की गयी है।

६—अपने अधिष्ठानमें जो आत्मा है उसके साक्षात् द्वारा जब अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है तब सर्वत्र परब्रह्म भासमान होता है, उसीका यह दूसरा नाम है।

नोट—३ गीतामें भगवान् अपनी गुणमयी मायाको 'दैवी' कहते हैं—'***दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया***——।' (७। १४) श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी लिखते हैं—भाव यह है कि 'लीलाके लिये प्रवृत्त मुझ परमदेवके द्वारा निर्मित है, इसीलिये यह सभीसे दुस्तर है'।——असुरों, राक्षसों और अस्त्रादिकी भाँति विचित्र कार्य करनेवाली होनेके कारण इसका नाम माया है।——अतएव 'माया' शब्द मिथ्या वस्तुका वाचक नहीं है। बाजीगर आदिको भी किसी मन्त्र या औषधके द्वारा मिथ्या वस्तुके विषयमें सत्यता-बुद्धि उत्पन्न कर देनेवाला होनेके कारण ही 'मायावी' कहते हैं। वस्तुतः वहाँ मन्त्र और औषध आदि ही माया है। सब प्रयोगोंमें अनुगत एक ही वस्तुको (माया) शब्दका अर्थ माना जा सकता है। अतः मिथ्या वस्तुओंमें जो माया शब्दका प्रयोग

है, वह मायाजनित बुद्धिका विषय होनेके कारण औपचारिक है। जैसे कि 'मचानें चिल्ला रही हैं' यह प्रयोग है। यह गुणमयी सत्य वस्तु भगवान्‌की माया ही **'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'** (श्वेता० ४। १०) (प्रकृतिको तो माया और महेश्वरको मायावी समझ) इत्यादि श्रुतियोंमें कही गयी है।

'भगवान्‌के स्वरूपको छिपा देना और अपने स्वरूपमें भोग्यबुद्धि करा देना, इस मायाका कार्य है।'

वि० त्रि०—***'माया भगति……'*** इति। (क) भ्रम दो प्रकारका है, एक विसंवादी, दूसरा संवादी। रात्रिके समय घरके भीतर जलते हुए दीपकका प्रकाश किसी छोटे छिद्रद्वारा बाहर जा पड़ा। उसे देखकर किसीको मणिका भ्रम हुआ, अतः उसके लिये प्रयत्न करनेवालेको मणिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसे भ्रमको विसंवादी भ्रम कहते हैं। मणिकी प्रभाको देखकर उसे मणि मान प्रयत्न करनेवालेको मणिकी प्राप्ति होती है। प्रभाको मणि माननेवाला भी भ्रममें ही है पर उसका भ्रम संवादी है। माया विसंवादी भ्रम है और भक्ति संवादी है। अतस्मिन् तद्‌बुद्धि दोनोंमें है। तत्पदका बिना शोधन किये मिश्र ब्रह्मकी उपासना करनेवालेको परमानन्दकी प्राप्ति होती है। (ख) ***'नारिबर्ग जानै सब कोऊ'***—संस्कृतमें भी माया और भक्तिका स्त्रीलिङ्गमें ही प्रयोग है; इसलिये कहा कि सब कोई जानता है।

पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। माया खलु नरतकी बिचारी॥ ४॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥ ५॥

शब्दार्थ—'**खलु**'=निश्चय ही। यथा—***'खलु खद्योत दिनकरहि जैसा।'*** (६। ६। ६) ***'तव प्रभाव बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल।'*** (५। ३३) नरतकी (नर्तकी)=नृत्य करनेवाली, नटिनी।'

अर्थ—पुनः (फिर, दूसरे, उसपर भी) रघुवीर श्रीरामजीको भक्ति प्यारी है और माया विचारी निश्चय ही नाचनेवाली नटिनी है॥ ४॥ श्रीरघुनाथजी भक्तिके अनुकूल (अर्थात् उसपर प्रसन्न) रहते हैं (जो वह चाहती है वही करते हैं), इसीसे उससे माया अत्यन्त डरती है॥ ५॥

पं०—यदि कहो कि कहीं-कहीं स्त्रियोंको भी स्त्री छल लेती है तो उसपर सुनो—***'पुनि……।'*** भाव कि जो स्त्रियाँ दोषवती होनेसे पतिसे त्यागी हुई हों उन्हींपर औरोंका बल पड़ सकता है। पर भक्तिरूपा स्त्री अव्यभिचारिणी है, परम धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र उसके पति हैं। उनकी भक्तिपर कृपा देखकर माया डरती है। इसीको आगे विस्तारसे कहते हैं।

पं० रा० व० श०—भक्ति पटरानीवत् है, प्रभुके बगलमें बैठनेवाली है। माया नटिनी दासी है; उसका काम है राजा श्रीरघुनाथजीको नृत्य आदि दिखाना। नृत्यादिके कारण राजा उसका कुछ आदर कर दे, पर उसका यह सामर्थ्य कब हो सकता है कि वह राजाकी पटरानीपर ही अपना दखल करे, रोब जमावे। रानीके प्रतिकूल काम करते डरती है, क्योंकि अभी तो कुछ आदर है फिर वह भी न रह जायेगा। '**भक्तिप्रियो माधवः**', ऐसा महर्षिने कहा है। महर्षिने ज्ञानको प्रिय नहीं कहा।

वि० त्रि०—***'रघुबीरहि भगति पियारी'***—रघुवीरसे सगुण ब्रह्मका ग्रहण किया। भक्ति सती स्त्रीकी भाँति राम ब्रह्मपर अनुरक्ता है, अतः उन्हें प्यारी है। यथा—***'ऐसी हरि करत दास पर प्रीति। निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीति॥ जिन्ह बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करम की डोरी। सोइ अविच्छिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥ जाकी माया बस बिरंचि सिव नाचत पार न पायो। करतल ताल बजाइ ग्वाल जुबतिन्ह सोइ नाच नचायो॥ बिश्वंभर श्रीपति त्रिभुवनपति बेद बिदित यह लीख॥ बलि सों कछु न चली प्रभुता बरु ह्वै द्विज माँगी भीख। जाको नाम लिये छूटत भव जन्म मरन दुख भार। अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जन्मेउ दस बार॥ जोग बिराग ध्यान जप तप करि जेहि खोजत मुनि ज्ञानी। बानर भालु चपल पसु पावँर नाथ तहाँ रति मानी॥ लोकपाल जम काल पवन रबि ससि सब आज्ञाकारी। तुलसिदास प्रभु उग्रसेन के द्वार बेंत कर धारी॥'***

वि० टी०—***'माया खलु नरतकी बिचारी।'*** भाव यह है कि भक्ति पूर्ण-प्रेम-युक्त है और मायाका प्रेम अल्पकालके लिये रुचिकर है। ***'डरपति अति माया'*** यह मायाका डरना भक्तोंके भक्तिचिह्नोंसे विषयी

जीवोंके छड़कनेमें प्रत्यक्ष है। भक्तिकी सानुकूलता और मायाकी नटखटीको कबीरजी थोड़ेहीमें बहुत समझा गये हैं—*'आगे सीढ़ी साँकरी पाछे चकनाचूर। परदा तर की सुंदरी रही धका दै दूर॥'*

नोट—१ *'माया खलु नरतकी बिचारी।'* (क) नर्तकी है, यथा—*'सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥'* (७२। २) सारा ब्रह्माण्ड रचना, ज्ञानियों एवं ईश्वरोंतकको मोहित कर लेना इत्यादि जितना जगप्रपंच है यही सब उसका खेल-तमाशा-नाच है। यह अपना नाच वह प्रभुको दिखाती है, यथा—*'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥'* प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये नित्य नये प्रकारका नृत्य करती है और जबतक प्रभु प्रसन्न भी होते हैं, यथा—*'निज मायाबल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला॥'* (१। १३२। ८) (ख) *'बिचारी'*—दासी है, बेबस है, कुछ कर नहीं सकती, इत्यादि भाव दर्शित करनेके लिये *'बिचारी'* विशेषण दिया। भाव कि वह तो वेश्यातुल्य है। (ग)—यहाँ तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है।

२—मायाकी प्रभुता और नर्तकीका पूरा रूपक रा० प्र० ने यहाँ दिखाया है—*'नचावत माया सनकारि नाचत सब नरनारि। तोर मोर कै तारी बाजै गति ही की अनुहारि॥ उपजै राग रूप दरसावै लोभ मसलिया बारि॥ काम क्रोध मद दंभ कपट ए ठाढ़े साज सँवारि। पगनि कामना पैजनि झनकत दुरमति पटी ओहारि॥ नव नव भाव देखावत छिन छिन दूनौ हाथ पसारि। बड़ मसाल कै धूआँ गौजलि आँखि भइलि अँधियारि॥ बहुत रूप धरि नाच नचावत गएउँ जीवसे हारि। देव देव अपनी करुना से देहु मोहि अब तारि॥'*

वि० त्रि०—जी लिखते हैं कि माया अनेक भाव बतलाकर पर पुरुषोंको ठगा करती है। उसकी स्थिति ही परपुरुषोंको ठगनेपर अवलम्बित है। अतः 'नर्तकी' मात्र है।

नोट—३ *'भगतिहि सानुकूल—'* इति। (क) 'भक्ति' पर सानुकूलता ठौर-ठौरपर कही गयी है। वह इतनी प्रिय है कि प्रभु किसीको भी बिना माँगे अपनी ओरसे उसे नहीं देते और सब कुछ दे देते हैं। सानुकूल हैं, इसीसे सदा उसकी रुचि रखते हैं, यथा—*'राम सदा सेवक रुचि राखी।'* (२। २१९। ७) *'भगति अबसहि बसकरी।'* (३। २६ छंद) प्रियादासजीने भक्तिरसबोधिनी टीका भक्तमालमें भक्ति महारानीका शृङ्गार यों कहा है—

'श्रद्धाई फुलेल औ उबटनो श्रवन कथा मैल अभिमान अंग अंगनि छुड़ाइये।
मनन सुनीर अन्हवाय अंगुछाय दया नवनि बसन पन सोंधो लै लगाइये॥
आभरण नाम हरि साधु सेवा कर्णफूल मानसी सुनथ संग अंजन बनाइये।
भक्ति महारानीको शृङ्गार चारु बीरी चाह रहे जो निहारि लाल प्यारी गाइये॥

(ख) *'अति डरपति'* का कारण है कि *'जो अपराध भगत कर करई। रामरोष पावक सो जरई॥'* (२। २१८। ६) *'अति'* डरना कहनेमें 'अत्यन्तता' 'गोस्वामीजी शब्दसे भी दिखा रहे हैं, *'डरति'* से बड़ा शब्द *'डरपति'* दिया है। पुनः, डरनेका कारण यह है कि मायाका कार्य भक्तिके प्रतिकूल है, यथा—*'देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही॥'*(१। २०२। ४) *'अति डरपति'* का भाव कि श्रीरामजीको डरती मात्र है और भक्तिको अति डरती है। भक्ति रघुराजकी प्रिय पटरानी है। राजाकी प्रियाका अनहित कौन कर सकता है। उसकी सुदृष्टि-कुदृष्टिसे रंक राव और राव रंक होते हैं। फिर श्रीरघुराज स्वयं उसके सानुकूल हैं, तब किसीका क्या सामर्थ्य कि उसका अनिष्ट कर सके। अतः माया डरती हुई दूर खड़ी रहती है।

वै०—*'बिसेषि पियारी'* अर्थात् स्वकीया पतिव्रता है। *'माया बिचारी'* अर्थात् अनादर रहनेवाली है, क्योंकि नटी है। भाव कि नर्त अर्थात् कौतुकमात्र इससे प्रयोजन है।

रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥ ६॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई॥ ७॥
अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥ ८॥

अर्थ—उपमारहित तथा उपाधिरहित रामभक्ति जिसके हृदयमें सदा निर्विघ्न बसती है, उसे देखकर माया सकुचाती है, किंचित् भी अपनी प्रभुता नहीं कर सकती॥ ६-७॥ ऐसा विचारकर जो मुनि विज्ञानी हैं, वे समस्त सुखोंकी खानि भक्तिकी याचना करते (माँगते) हैं॥ ८॥

पं० रा० व० श०—*'निरुपम निरुपाधी'* का भाव कि कोई साधन इसकी उपमाको नहीं पहुँचते। सब साधन जिनमें (पिता-पुत्र, सेवक-स्वामि आदि) स्वाभाविक सम्बन्ध प्रभुसे न हो वे उपाधि-(उपद्रव-) मय हैं। ऋषि लोग कहते हैं कि जीव परमात्माके अधीन हैं, वह परमात्मा नहीं बन सकते, परमात्मा बनते हैं यह उपाधि है। वह परमात्मा सबको वशमें रखनेवाला और सबका पति है, यह सम्बन्ध निरुपाधि है। निर्गुण भक्ति औपाधिक है।

वै०—*'निरुपाधि'* अर्थात् भक्ति करनेमें धर्मकी चिन्ता नहीं कि कोई धर्मसंकट डाल सके। उपाधि=धर्मचिन्ता, यथा—**'उपाधिर्धर्मचिन्ता'** इत्यमरः। सब धर्म छोड़कर भक्ति करना कहा है—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**, अतः निरुपाधि कहा। अबाधी अर्थात् इसमें कोई बाधा नहीं कर सकता, विघ्नरहित है। (इससे ज्ञात हुआ कि वे *'अबाधी'* को विशेषण मानते हैं। पंजाबीजीके मतानुसार *'अबाधी'*=अविनाशी।)

नोट—१ *'निरुपाधी'* इति। यह शब्द मानसमें अनेक स्थलोंमें आया है। यथा—*'हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के।'* (१। १५। ४) *'जग हित निरुपधि साधु लोग से।'* (१। ३२। १३) *'निजानंद निरुपाधि अनूपा।'* (१। १४४। ५) *'सिंघासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि।'* (२। ३२३) 'उपाधि' शब्द भी आया है; यथा—*'नाम रूप दुइ ईस उपाधी।'* (१। २१। २) *'जो तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी।'* (७। ११८। १०) *'जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी॥'* (२। १८३। ३)—इनमेंसे १। १५, १। ३२ में तो 'छल-कपटरहित निःस्वार्थ सच्चा वा विशुद्ध' अर्थ है। (१। २१। २) में 'उपाधी' के अनेक अर्थ दिये गये हैं। शेष उदाहरणोंमें 'उपाधी' का अर्थ विघ्न वा उपद्रव स्पष्ट है।

यहाँ *'निरुपाधी'* को विशेषण माननेसे उसका अर्थ निश्छल, निष्कपट, शुद्ध होगा। और 'रामभक्ति निरुपम-निरुपाधि है' ऐसा अर्थ करनेसे उसका अर्थ 'निर्विघ्न, विघ्न वा उपद्रवरहित' होगा। बैजनाथजीने जो अर्थ दिया है वह भी इस अर्थमें लग सकता है। रा० प्र० कार 'मायारहित' अर्थ करते हैं। श० सा० में यह भी अर्थ मिलता है।

वि० त्रि०—*'रामभगति निरुपम—'* इति। (क) मनुष्योंके श्रेयके लिये चार योग कहे गये हैं—कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्म और ज्ञानका निर्वाह भक्तिकी सहायतासे ही हो सकता है। भक्तिकी उपमा इन तीनोंसे नहीं हो सकती, क्योंकि कर्मयोग और अष्टाङ्गयोगसे तो उसकी उपमा हो ही नहीं सकती; यथा—*'जोग न जप तप मख उपवासा।'* रह गया ज्ञान, सो उससे भी 'संसारसे उत्पन्न दुःखहरणरूप फलमें ही समानता है, वस्तुसाम्य नहीं है। क्योंकि इसके स्वरूप, साधन, फल और अधिकारीमें विलक्षणता है। चित्तके द्रवीभूत होनेपर मनका रामाकार होना, यही सविकल्पक वृत्ति भक्ति है, और कठोर चित्त जब अद्वितीय आत्मामात्रको विषय करता है तब उस निर्विकल्पक वृत्तिको ज्ञान कहते हैं। रामगुणग्रामसे भरी रामकथाका श्रवण भक्तिका साधन है और *'सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा'* (तत्त्वमसि) आदि महावाक्य ज्ञानका साधन है। रामप्रेमका प्रकर्ष भक्तिका फल है और अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानका फल है। भक्तिमें प्राणिमात्रका अधिकार है और ज्ञानमें साधन-चतुष्टय-सम्बन्ध संन्यासीका ही अधिकार है। अतः भक्तिकी उपमा किसीसे नहीं दे सकते, वह निरुपम है। (ख) फलरूपा भक्तिमें कामना ही उपाधि है। कामनाकी पूर्तिके लिये प्रेम करना वस्तुतः प्रेम नहीं है। (ग) *'सदा बसै'* अर्थात् जो भक्तिसे क्षणमात्रका वियोग सहन न कर सके। यथा—*'रामभगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥'* अबाधीका भाव कि ब्रह्म साक्षात्कारानन्तर जगत्‌का बाध हो जाता है, पर भक्तिका बाध न हो। यथा—*'पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं।'* (घ) *'तेहि बिलोकि'*—भाव कि भक्तिके आते ही मनुष्यके स्वरूपमें अन्तर पड़ जाता है, विषय-रससे रूखापन और रामसे सरसता उसके चेहरेसे टपकने लगती है। अतः देखना कहा। (ङ) *'निज प्रभुताई'*—जीवमात्रको नचाना ही मायाकी प्रभुता है। यथा—*'नाचत ही निसि दिवस मर्‌यो। तबही तें न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धर्‌यो॥—'* (वि० ९१)। (च) विज्ञानी अर्थात् ब्रह्मलीन। ब्रह्मलीन विज्ञानीका दर्जा धर्मशील, विरक्त, ज्ञानी और जीवन्मुक्त सभीसे बड़ा है। *'जाचहिं'* से जनाया कि भक्ति कृपासाध्य है क्रियासाध्य नहीं।

रा० शं०—श्रीरामजी निरुपम-निरुपाधि हैं, अतः उनकी भक्ति भी निरुपम-निरुपाधि हुई। पूर्व कहा

कि माया डरती है और अब बताते हैं कि कितना डरती है—'*तेहि बिलोकि*' अर्थात् उसका निवास-स्थान ही देखकर सकुचा जाती है।

करु०—'*तेहि बिलोकि माया सकुचाई।*——' भक्तिपर स्वामीका प्रियत्व और सानुकूलता देख स्वामीके भयसे भक्तिके निकट नहीं जा सकती। अनुपम है अतः उसे देखकर लज्जित हो जाती है और निरुपाधि है यह समझकर चुप साधकर बैठ जाती है, कुछ प्रभुता नहीं कर पाती। ज्ञानी आदि अपने बलसे मायाको तरना चाहते हैं इसीसे माया बाधा करती है। अतएव ज्ञानमार्ग मोक्षको सबाध्य है और भक्तिमार्ग अबाध्य है, मोक्षदाता दोनों हैं। अतः विज्ञानी मुनि सबाध्य-अबाध्य-भेदसे भक्ति माँगते हैं।

रा० प्र०—भक्ति पति-प्यारी है इसी कारण सापत्नि भावना करती डरती है।

वै०—'*करि न सकै कछु निज प्रभुताई।*' भाव कि माया कुछ प्रभुता नहीं कर सकती, भक्ति अपनी खुशीसे चाहे विषयलीन रहे, माया उसे भवफंदमें नहीं डालती है।

नोट—२ '*अस बिचारि*' इति। '*अस*' अर्थात् जैसा ऊपर '*मोह न नारि नारि के रूपा।*' (११६। २) से '*तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई॥*' (८) तक कह आये, इस प्रकार।

पं०—'*अस बिचारि जे मुनि*——' इति। भाव कि तुमने पूछा था कि ज्ञान छोड़कर तुमने भक्ति क्यों माँगी, सो केवल मैंने ही नहीं माँगी और भी जो ज्ञानवान् मुनीश्वर हैं सो भक्तिपर भगवंतकी सहायता जानकर भक्ति ही माँगते हैं।

रा० प्र०—'*मुनि बिज्ञानी जाचहिं*——' इति। भक्तिको निरुपाधि अर्थात् सपरिवार मायारहित कहा गया। अतः विज्ञानी मुनियोंका भक्ति माँगना कहनेसे पराभक्तिकी याचना व्यञ्जित होती है।

नोट—३ '*सकल सुख खानी*' इति। यथा—'*भगति तात अनुपम सुखमूला।*' (३। १६। ४), '*सब सुख खानि भगति तैं माँगी।*' (८५। ३)

दो०—यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानै कोइ।
जो जानै रघुपति कृपा* सपनेहु मोह न होइ॥
औरौ ज्ञान भगति कर भेद सुनहु† सुप्रबीन।
जो सुनि होइ रामपद प्रीति सदा अबिछीन॥ ११६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीका यह गुप्त चरित कोई भी जल्दी नहीं जान पाता। जो जानते हैं वे श्रीरघुनाथजीकी कृपासे। जो श्रीरघुनाथजीकी कृपासे जान जाता है उसे स्वप्नमें भी मोह नहीं होता। हे परम चतुर श्रीगरुड़जी! ज्ञान और भक्तिका और भी भेद सुनिये, जिसे सुननेसे श्रीरामजीके चरणोंमें सदा कभी भी क्षीण (कम वा नाश) न होनेवाली अविरल प्रीति होती है॥ ११६॥

पं० रा० व० श०—१ '*यह रहस्य*'। एकान्तमें कहनेवाली बातोंको '*रहस्य*' कहते हैं। भगवान्‌ने परम प्रसन्न होनेपर भुशुण्डिजीसे यह कहा था कि '*मोहि भगति प्रिय संतत*', '*भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय अस मम बानी॥*' 'यह' अर्थात् जो ऊपर कह आये—'*भगतिहि सानुकूल रघुराया*' से '*जाचहिं भगति सकल सुखखानी*' तक। माया और भक्ति स्त्री हैं, भक्ति श्रीरामजीको प्रिय है, माया उससे स्वयं ही संकोच करती है—यह सब रहस्य है। ['*यह रहस्य*' इति। ज्ञान और भक्ति रघुनाथजीके रहस्य हैं। श्रीरघुनाथजीके अन्तर्यामी ब्रह्मरूपमें ज्ञान रहस्य है और किशोरमूर्ति परब्रह्ममें भक्ति-रहस्य है। (करु०) पुनः, '*यह रहस्य रघुनाथ कर*' का भाव कि पूर्व मैंने चरितविषयक परम रहस्य कहा था। यथा—'*यह सब गुप्त चरित मैं गावा। हरि माया जिमि मोहि नचावा॥*' यह रहस्य चरितका नहीं है, स्वयं रघुनाथविषयक है। केवल रघुनाथका प्यार भक्तिपर होनेसे ही भक्ति सर्वश्रेयस्करी है। (वि० त्रि०)]

* जाने ते रघुपति कृपा—(का०, मा० म०)। † परबीन—(शेषदत)।

२—*'जो जानै रघुपति कृपा'* इति। भाव कि वह कृपाहीसे जाना जा सकता है, यथा—*'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'* (२। १२७। ३) नहीं 'तो ब्रह्मादि सभी जाननेमें असमर्थ हैं, यथा—*'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मर्म तुम्हारा।'* (२। १२७। १-२)

३—*'औरौ'।* भाव कि दो भेद कह आये कि ज्ञानादि पुरुष हैं, माया और भक्ति दोनों स्त्री हैं। पुरुषको माया स्त्री मोहित कर लेती है और भक्तिको नहीं, क्योंकि *'मोह न नारि नारि के रूपा।'* दूसरे, भक्तिपर श्रीरघुनाथजी सानुकूल हैं और माया तो नर्तकी है, अतः माया कुछ प्रभुता नहीं कर सकती; किन्तु अत्यन्त डरा करती है। अब तीसरा भेद कहते हैं। भेद कहनेके पूर्व उस भेदको जान लेनेको अथवा उसके श्रवणमात्रका फल कहते हैं कि अविच्छिन्न रामपदप्रेम होता है।

नोट—१ *'औरौ'* इति। वर्गभेद, भक्ति पटरानी, माया नर्तकी-भेद, ज्ञानीका मायाको त्यागकर पुनः फँसना इत्यादि भेद कहे, अब और भेद कहते हैं। इनमें ज्ञानसाधनकी कठिनता और दैवयोगसे साधन बननेपर भी अनेक विघ्नोंका भय दिखाते हैं।

२ *'जो सुनि होइ रामपद प्रीति……।'* भाव कि भेद सुननेसे भक्तिमें प्रीति होगी, प्रीति होनेसे भक्ति दृढ़ हो जायगी, यथा—*'प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।'* कथाका माहात्म्य जान लेनेसे उसके सुननेमें मन लगता है, इसीसे कथाके पहले उसका माहात्म्य कहा जाता है। अब दूसरा प्रसङ्ग कहते हैं, अतः पुनः *'सुनहु'* कहकर सावधान करते हैं।

'सदा अबिछीन' का भाव यह भी है कि इसके सुननेपर फिर आपको मोह न होगा, श्रीरामपद-प्रेम निश्चल हो जायगा। इस कथनमें यह ध्वनि है कि आपका मोह, संशय, शोक और भ्रम तो अवश्य अब दूर हो गया है, पर अभी अविच्छिन्न रामपद-प्रेम नहीं हुआ, अभी आप शुष्क ज्ञानको ही श्रेष्ठ समझ रहे हैं, पर अब जो भेद कहूँगा उससे आपका निश्चय प्रेम श्रीरामपदमें हो जायगा। [पुनः भाव कि श्रीरामपदमें सदा आपकी प्रीति तो है ही पर रणक्रीड़ा देखकर जो संदेह हुआ उससे प्रीति कुछ क्षीण हो गयी, वह इस भेदके सुननेसे परम पुष्ट हो जायगी। (रा० बा० दा०)] पुनः भाव कि पहले भेद-कथनकी फलश्रुति है कि *'सपनेहु मोह न होइ'*, अब दूसरे भेद-कथनकी फलश्रुति कहते हैं कि अविच्छिन्न भक्ति हो। अर्थात् इसके हृदयमें धारण करनेसे रामकृपा अवश्य होती है। (वि० त्रि०)

शेषदत्तजी—भेद तो ऊपर कह चुके अब इस भेदमें और उसमें क्या अन्तर है? उत्तर—पूर्व जो कहा उसका यह सिद्धान्त है कि ज्ञानने मायाको त्यागा पर फिर आप ही बँध गया। और अब जो कहते हैं उसका सिद्धान्त यह है कि ज्ञान तो भूलकर भी मायाकी ओर दृष्टि न करेगा पर माया प्रबलतापूर्वक उसको सातवें प्रस्थानपर ठगेगी यह भेद सुनकर प्रवीण अर्थात् सावधान होंगे। पहलेमें यह स्वयं बँधा, दूसरेमें मायाकी प्रबलतासे बँधा, यह अन्तर है।

रा० प्र०—*'सपनेहुँ मोह न होइ'* क्योंकि *'काहू को पद दास न चाहत।'* (भाव कि तब जाग्रत्की कहना ही क्या?)

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनै न जाइ बखानी॥ १॥

अर्थ—हे तात! यह अकथ कहानी सुनिये। यह समझते ही बनती है, बखानी नहीं जा सकती (एवं न समझते बने न बखानी जा सके)*॥ १॥

* इसका अर्थ करु०, रा० प्र०, वीरकवि, वि० टी०, पं०, आदिने यह किया है कि 'समझते ही बनती है, बखानी नहीं जा सकती' और कुछ लोग 'न' को दीप-देहली मानते हैं। शेषदत्तजीने ऐसा ही करके यह शङ्का उठाकर कि 'जब समझते नहीं बनती और न कहते, तब कहोगे कैसे और समझेंगे कैसे?' उसका समाधान यह किया है कि 'श्रीरामकृपाके आश्रय जो कहते हैं उन्हें सदैव सुगम है और जो अपनी विद्यात्रय-अनुभवद्वारा कहना-सुनना चाहते हैं उनको तो 'अकथ' और 'असामुझ' है। कहनेका तात्पर्य यह कि आपपर और मुझपर प्रभुकी कृपा है, अतएव मैं विधिपूर्वक कहता हूँ आप सुनें।' कहनेका तात्पर्य यह है कि 'गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी' हैं और भुशुण्डिजीको तो लोमशजी तथा साक्षात् प्रभुका वरदान है। जो समझमें नहीं आ सकती उसे वर्णन कैसे करोगे? इसका उत्तर यह है कि यथामति कहेंगे।

नोट—१ *'सुनहु तात यह अकथ कहानी'* इति। (क) श्रीगरुड़जीने प्रश्न किया था कि *'ज्ञानहि भगतिहि अन्तर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता॥'* (११५। ११), उसका उत्तर देते समय श्रीभुशुण्डिजीने ***'सावधान सोउ सुनु'*** कहकर तब कहा कि ज्ञान आदि पुरुषवर्ग हैं इत्यादि। माया और भक्ति दोनों नारीवर्ग हैं, यह कथन करते समय भी कहा कि *'माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ।'* उसी तरह ज्ञान और भक्तिका और भी भेद कहते समय *'सुनहु सुप्रबीन', 'सुनहु तात'* कहकर सुननेके लिये विशेष सावधान कर रहे हैं। *'समुझत बनै न जाइ बखानी'* इसीसे सुप्रवीण कहकर प्रथम सुननेको कहा और फिर 'तात' सम्बोधनद्वारा श्रीगरुड़जीपर अपना वात्सल्य दिखाया। अब वे शिष्य हैं, अतः प्यारका सम्बोधन दे रहे हैं। (ख) *'यह अकथ'* का भाव कि यह रहस्य है, श्रुतिमें इसके कथनका निषेध है (रा० प्र०), अनधिकारीसे कहने योग्य नहीं होनेसे *'अकथ'* कहा। (शेषदत्तजी) अधिकारीके लक्षण पूर्व १११ (२) में लिखे गये हैं।

नोट—२ *'समुझत बनै'* का भाव कि यह अत्यन्त सूक्ष्म गूढ़ विषय है, बुद्धिसे समझते ही बनती है। *'न जाइ बखानी'* से जनाया कि वाणीद्वारा यथार्थ वर्णन करना असम्भव है। शेषदत्तजी लिखते हैं कि 'इससे अतिशय निरस जनाया। इन तीन विशेषणोंसे विषयकी गहनता और श्रोता-वक्ताकी प्राप्ति दुर्लभ जनायी।' महानुभावोंके विशेष भाव आगे दिये जाते हैं।

रा० शं०—आगे बताते हैं कि जीव चेतन, अमल, सहज-सुखराशि है, ऐसा होकर भी मायावश हो जाता है। यद्यपि माया जड़, समल और दुःखरूपा है। माया असत्य है और जीव अविनाशी है। इसीसे कहा कि *'समुझत बनै न जाइ बखानी।'* बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं कि समझमें आती हैं पर उनका कहना कठिन होता है। जैसे कि बीजमें वृक्ष है यह समझमें आता है पर कहते नहीं बनता, ऊँचेपरसे दूरतकका मैदान देख पड़ता है, यह बात समझमें आती है, इतना बृहत् मैदान आँखके अन्दर भरा है, पर यह कहना कठिन है कि छोटेसे तिलमें इतना भारी मैदान कैसे समा गया।

शेषदत्तजी—*'अकथ कहानी......' 'समुझत बनै न'* और *'न जात बखानी।'* से सूचित किया कि अनधिकारीसे कहने योग्य नहीं, यदि अधिकारी भी मिल जाय तो उसका समझना दुर्लभ है, और समझदार अधिकारी भी मिल जाय तो इसके वक्ता मिलना कठिन हैं।

रा० प०, रा० प्र०—*'अकथ कहानी'* का भाव कि यह रहस्य है, श्रुतिमें इसके कथनका निषेध है। ज्ञानी बनकर दूसरेसे कहेगा कैसे, कहनेमें दूसरा मानना ही पड़ेगा और अपने-आपसे ही कथन कैसा? यह लोमश-भुशुण्डि-प्रसङ्गसे स्पष्ट है। वेदरहस्यकथन तन्त्रमें भी वर्जित किया गया है। इन कारणोंसे *'अकथ' 'न जाइ बखानी'* कहा। *'समुझत बनै'* अर्थात् कहनेका तो निषेध है, केवल साधन करके ज्ञानाचरण करने तथा अनुभव करने ही योग्य है—*'ख्यात लाभ तू जन ते परत ज्ञान मंद।'*

वै०—*'अकथ कहानी'* कहने योग्य नहीं; क्योंकि अन्तरमें परावाणी रहती है जो रामतत्त्वका निरूपण करनेवाली है, उसके प्रभावसे समझते तो बनती है पर बखानी नहीं जाती; क्योंकि बखान करना वैखरीका काम है सो प्रकृतिवार्ता करनेसे मलिन है, अतः मति-अनुसार कहता हूँ।

वि० टी०—**अकथ कहानी**=वह विषय जिसका वर्णन करना कठिन है। भाव यह है कि निराकार ब्रह्म और देहधारी जीवका सम्बन्ध आजतक कोई भी पूर्णरूपसे नहीं कह सका, तो भी बड़े-बड़े महात्माओंके कथनानुसार थोड़ेहीमें उसका वर्णन करना चाहता हूँ। क्योंकि यह सब लोग जानते ही हैं कि इसका समझना बड़ी कठिनाईसे थोड़ा-थोड़ा हो सकता है। यथार्थ तो असम्भव ही है। योगवाशिष्ठमें वशिष्ठजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा है कि उपदेशका देना केवल परम्पराकी रीतिका पालन है, इसकी जानकारी तो केवल शिष्यकी बुद्धिपर अवलम्बित है—**'उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम्। ज्ञप्तेस्तु कारणं तत्र शिष्यप्रज्ञैव केवला॥'**

मा० म०—*'अकथ कहानी।'* कहानीका भाव कि कहने ही मात्र है, साधन कठिन है, पुनः, श्रीरामयशबिना प्राकृत कहानीके तुल्य ही है, निरर्थक होनेसे कहानी है।

मा० शं०—अकथ है तो कहानी कैसे और कहानी है तो अकथ कैसे? यहाँ 'अकथ' कहनेका

भाव यह है कि पूर्वाचार्योंने मतानुसार कहकर 'न इति' कहा, और कहानी इससे है कि भेद निर्णय है। वा, अकथ=कहने योग्य नहीं। अथवा, भाव यह है कि यह भेदयुक्त कहानी सदा अकथ है, जो अधिकारी नहीं हैं, उनके प्रति कथन अयोग्य है; इस भावसे अकथ कहा।

पं०—*'अकथ कहानी'* का भाव कि वेदान्तियोंकी मति-अनुसार अकथ है और उपासकोंके मति-अनुसार कथनयोग्य है। सो ये दोनों पक्ष समझते बनते हैं, कहे नहीं जाते। फलितार्थ यह कि अपने आचार्यके मति-अनुसार ज्ञान और भक्ति धारण करे, खण्डन-मण्डन न करे।

वि० त्रि०—१ (क) *'यह अकथ'* से भक्तिके साधनका सुकथ होना दर्शाया, यथा—*'भगति के साधन कहहुँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥'* 'कहानी' से 'अजातवाद' दिखलाया कि हम जो कुछ कहते हैं यह कहानी है। 'कहानी' सत्य नहीं होती, अतः यह भी पारमार्थिक सत्य नहीं है। सत्य तो एकमात्र निर्विशेष ब्रह्मकी स्थिति है। जिस प्रकार शशके कभी शृङ्ग नहीं हुआ, आकाशमें कुसुम नहीं हुआ, वन्ध्याके पुत्र नहीं हुआ, उसी प्रकार यह सब कुछ भी कभी हुआ ही नहीं, फिर किसका बन्ध और किसका मोक्ष? जो दिखायी पड़ता है सो भ्रम है। ब्रह्ममें अंश-अंशी भेद न है और न हो सकता है। माया और उसके प्रपञ्चका उसमें स्पर्श भी नहीं है। यथा—*'अनघ अद्वैत अनवद्य अव्यक्त अज अमित अविकार आनंदसिंधो'* (वि०), *'राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥ सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥ हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥'* *'यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया।'* (विनय०), *'जग नभ बाटिका रही है फल फूलि रे। धुआँ कैसो धौरहर देखि तू न भूलि रे॥'*

शिष्यको संसार और बन्धनकी प्रतीति होती है। उसे इस प्रपञ्चके समझने और इससे मुक्ति-लाभ करनेके लिये जिज्ञासा है, अतएव गुरु उसकी दृष्टिके अनुसार, उसके समझानेके लिये निष्प्रपञ्चमें पहले प्रपञ्चका अध्यारोप कहते हैं और फिर प्रपञ्चका अपवाद करके यथार्थ स्वरूपका उपदेश करते हैं, अतएव यह अध्यारोप अपवादका उपदेश भी मिथ्या है। जिज्ञासाके पूर्वके साधन-चतुष्टय सब मिथ्या ही हैं। अतएव इस मिथ्या कथाको 'कहानी' कहा। परंतु इस कहानी सुनानेवालेको सिद्धान्त ज्ञान होता है, क्योंकि कहानीकी समाप्तिपर कहेंगे कि *'कह्यौं ग्यान सिद्धांत बुझाई',* अतः साधन-चतुष्टयसे ममता-मलके नष्ट होनेपर ही इस कहानीके कहनेका भी विधान है, यह कहानी यदि *'ममता रत'* से कही जायगी तो ऊसरमें बीज बोनेकी भाँति व्यर्थ होगी। यथा—*'ममता रत सन ग्यान कहानी।...... ऊसर बीज बए फल जथा।'*

(ख)—*'समुझत बनै न'*—समझते नहीं बनता। भाव यह कि निर्गुण ब्रह्म और गुणमयी मायाके संयोग-वियोगका इसमें वर्णन है। निर्गुण ब्रह्म ज्ञेय नहीं है, जाना वही जा सकता है जो ज्ञेय हो, स्वयं द्रष्टा कैसे जाना जाय? और द्रष्टा ही ब्रह्म है, अतएव वह नहीं जाना जा सकता; यथा—*'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मर्म तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥'*

माया भी नहीं जानी जा सकती। वह तो अघटनघटनापटीयसी है, जो हो न सके उसीको कर दिखाना मायाका काम है। यथा—*'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥'*, और संयोग-वियोग ब्रह्ममें बनता नहीं, यथा—*'सपनेहु योग वियोग न जाके',* अतएव यदि समझते बने तभी आश्चर्य है।

प० प० प्र०—*'समुझत बनै'* इति। यहाँ 'समझना'=अनुभव करना। कारण कि निर्गुण रूप स्वसंवेद्य तो है ही। यद्यपि वह अन्य विषयोंके समान ज्ञेय नहीं है तथापि **'मनसा एव अनुद्रष्टव्यम्।' 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'** (इत्यादि श्रुति) **'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'** (स्मृति भ० गी०) **'तथापि भूमन् महिमाऽगुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमन्तरात्मनि'** (श्रीमद्भागवत)। इस प्रकार ब्रह्म (अगुण ब्रह्म) समझा जा सकता है, यह श्रुति, स्मृति, पुराण आधारोंसे स्पष्ट है। *'समुझि मनहि मन रहिए'* (विनय०), *'नामरूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥'* इस तरह गोस्वामीजीके ग्रन्थोंसे भी *'समुझत बनै'* अर्थ ही उचित है। अन्यथा 'कहानी' (कल्पित कथा) कहने-सुननेसे लाभ क्या? **'शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः'** (आचार्य)।

वि० त्रि०—*'न जाइ बखानी।'* बखानते भी नहीं बनता। भाव यह है कि उसको कहनेके लिये उपयुक्त शब्द ही नहीं मिलते, यथा—*'केसव कहि न जाइ का कहिये।……'* (वि० १११)। परन्तु वेदान्तके वाक्योंको गुरुमुखद्वारा सुनते-सुनते अनुभव हो सकता है, यथा—*'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान', 'अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता।'* ☞ इस चौपाईसे 'नित्यानित्यवस्तुविवेक' रूपी प्रथम साधन बतलाया गया।

सि० ति०—यथा—**'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।'** (गीता २। २९) अर्थात् जीवतत्त्व इतना सूक्ष्म है कि इसका देखना, कहना, सुनना और जानना, सभी आश्चर्यरूप हैं। उसी जीवतत्त्वका इसमें मायावश होना और फिर साधनद्वारा मुक्त होना कहा जायगा। अतः इसका यथार्थ कहा जाना तो असम्भव-सा है, हाँ बड़ी कठिनाईसे लक्ष्यमात्र कहा जायगा। यथा—*'केसव कहि न जाइ का कहिये।'* भाव कि समझकर अनुभव करनेकी चीज है। समझना भी कठिन है। अतः गुरुमुखसे श्रवणकर इसका अनुभव हो सकता है। यथा—*'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान', 'ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा।'*

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ २॥

अर्थ—जीव ईश्वरका अंश है, अविनाशी, चेतन, स्वाभाविक ही निर्मल और सुखराशि है॥ २॥

वेदान्ती पं० रामपदार्थदासजी—'ईश्वरतत्त्वनिरूपण' मानसके उपक्रमोपसंहार आदिद्वारा। (१) उपक्रम—**'यन्मायावशवर्त्ति, यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलम्, यत्पादप्लवमेकमेव, रामाख्यमीशं हरिम्।'** (२) उपसंहारः—श्रीरघुपति हरै। (३) अभ्यास—*'सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥'* (१। ११७। ५-६) *नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥……।'* (१। १४४) *'सब मम प्रिय सब मम उपजाए।'* (७। ८६। ४) *'ब्यापक ब्रह्म (व्याप्य) अखंड अनंता। अखिल अमोघ शक्ति भगवंता॥ अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥ निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥ प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी। ब्रह्मनिरीह बिरज अबिनासी।'* (७। ७२। ४-८) *'सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिज्ञानरूप बलधामा॥'* (३) *'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'* (२। १२७। ५) ☞ अद्वैतसिद्धान्तानुसार निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म माननेमें गोस्वामीजीका तात्पर्य नहीं है, यदि वैसा होता तो इस तरह *'चिदानंदमय देह तुम्हारी'* नहीं लिखते। इसलिये निर्गुणादि पदोंका अर्थ विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्तानुसार करना चाहिये। 'निर्गुण' का अर्थ हेय प्राकृत गुणरहित तथा 'निराकार' का अर्थ प्राकृत आकारादिरहित ही है। ब्रह्म दिव्याकृति और दिव्यगुणविशिष्ट है, इसीसे *'चिदानंदमय देह तुम्हारी'* कहना संघटित होता है। (४) अपूर्वता—*'नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥'* (१। १४४) *'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।'* श्रुति भी यही कहती है—'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणः' (५) अर्थवाद (प्रशंसा)—जब ब्रह्मके उक्त सच्चे गुणोंको **'स्तोतुमम्बुजभवोऽपि हि देवतेशः'**, तब उसकी प्रशंसा कोई क्या करेगा? अतः ब्रह्ममें अर्थवाद नहीं हो सकता। (६) फल—जब जनकजीने विश्वामित्रजीसे पूछा—*'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥'*, तब उन्होंने उत्तर दिया—*'……। बचन तुम्हार न होइ अलीका॥'* आपका वचन मिथ्या नहीं है। भाव यह है कि श्रुतिसे नेति-नेति प्रतिपादित ब्रह्म दाशरथि श्रीराम ही हैं।

(७) उपपत्ति—*'राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥'* (१। ११६। ५) *'राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥ सकल बिचार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥'* (२। ९३। ७-८) *'ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता॥', 'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥'* (१। १९८) *'सुख संदोह मोहपर ज्ञान गिरा गोतीत।'* (१। १९९)

☞ अद्वैतवेदान्तवादी अपना सिद्धान्त कहते हैं कि निर्विशेष शुद्ध कारण-ब्रह्म अवतार नहीं लेता।

मायोपहित अशुद्ध कार्यब्रह्म ईश्वर कहलाता है, वही अवतार लेता है। वैष्णवप्रवर श्रीगोस्वामीजीका सिद्धान्त इसके सर्वथा प्रतिकूल है। वे कहते हैं *'सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु। करत चरित नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥', 'अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुन्दा।', 'जोगिन्ह परम तत्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥'* इत्यादि।

भगवत्-अवतारको मायोपहित (मायासे आच्छादित) ब्रह्म कहनेवालोंको गोस्वामीजीने शिवजीके उत्तररूपमें जो कुछ कहा है, उसीको यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है, इससे गोस्वामीजीके मतका पता लग जायगा। यथा—*'निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥'*, अथवा *'जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥ मायाबस मति मंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी॥ ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं॥ उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥——'* जब पार्वतीजीने शङ्का की कि शुद्धब्रह्म तो अवतार लेता ही नहीं तब अवधेशकुमार राम ब्रह्म कैसे हुए? क्या शुद्ध ब्रह्म और अवधेशकुमार राम भिन्न-भिन्न हैं? तब यह सुनते ही शिवजीने अनखाकर ऐसा कहनेवालोंको बहुत जोरसे फटकारकर उनका भलीभाँति समाधान किया। देखिये बाल० दोहा ११४ से ११८ तक। अवतार लेनेवाले ब्रह्मको मायोपहित कार्य और अशुद्ध ब्रह्म अवतार मानना गोस्वामीजीके सिद्धान्तसे *'कुतरक कै रचना'* और *'दारुन असंभावना'* है। ब्रह्मके लक्षण और गुणादिपरक जितने शब्द श्रुतियोंमें मिलते हैं गोस्वामीजीने प्रायः उन सबोंका प्रयोग 'रामचरितमानस' में भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके लिये किया है।

वेदान्ती श्रीरामपदार्थदासजी—विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें ईश्वर, जीव, माया—ये तीन तत्त्व माने जाते हैं। इनका ईश्वरके साथ अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है। तीनों नित्य हैं। अर्थात् जीवकी सिद्धि ईश्वरसे पृथक् नहीं हो सकती। अतएव इसको अपृथक् कहा गया है। वास्तविक जीव पृथक् तत्त्व है। जैसे सूर्य तथा सूर्यका प्रकाश। आकाशमें बहुत अपर भागमें सूर्य रहते हैं। सूर्यका प्रकाश, धूप आदि सर्वजन-साधारण-ग्राह्य है। परंतु सूर्यसे उसकी पृथक् सिद्धि नहीं हो सकती। जब सूर्य रहेंगे तभी धूप रहेगी, अन्यथा नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजीने इसको वैदिक सिद्धान्त कहा है—*'इति वेद वदंति न दंतकथा। रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा॥'*

चित्स्वरूप—(१) ज्ञानाश्रय। यथा—**'विज्ञानाश्रय।'** यथा—**'विज्ञानात्मा पुरुषः अथ यो वेदेदम्।'**, *'चेतन अमल सहज सुखरासी।'* (२) अणु। यथा—**'जिघ्राणीति स आत्मा एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।'**, *'जीव चराचर जंतु समाना।'* (३) ईश्वरका नियम्य यथा—**'य आत्मनि तिष्ठन् य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः।'**, *'राम रजाइ सीस सब ही के', 'जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ।'* (४) ईश्वरका धार्य। **'एष सेतुर्विधरणः। एतस्य अक्षरस्य शासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।'**, *'बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥', 'प्रान प्रानके जीवके जिव सुख के सुख राम।'* (५) ईश्वरका शेष। यथा—**'यस्य आत्मा शरीरं यस्याक्षि शरीरम्', 'दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मनः परमात्मनः। परवानसि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते। आत्मदास्यं हरेः साम्यं स्वभावं च सदा स्मर ममैवांशः'** इत्यादि। (६) सुखस्वरूप। यथा—**'ज्ञानानन्दमयत्वात्मा ज्ञानानन्दैकलक्षणम्।'**, *'सहज सुखरासी।'* (७) निर्विकार। यथा—**'अमृताक्षरं हरः आत्मा शुद्धोऽक्षरः अविकार्योऽयमुच्यते।'**, *'निर्मल निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न ब्यापई'*, (८) कर्ता-भोक्ता। यथा—**'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येषा भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनीशश्चात्मा बद्ध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवमुच्यते सर्वपाशैः।', 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।'**, *'जो जस करइ सो तस फल चाखा', 'निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।'* (९) नित्य। यथा—**'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'**, *'जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।'* (१०) ईश्वरका परतन्त्र। यथा—**'एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति।'**,*'परबस जीव स्वबस भगवंता।'* (११) अनन्त। यथा—**'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥'**,*'जीव अनेक*

एक श्रीकंता।' (१२) ईश्वरका सखा। यथा—'**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**', *'ब्रह्म जीव इव सहज संघाती।'* (१३) संकोच-विकासयुक्त ज्ञानवाला। यथा—*'उपजइ बिनसइ ज्ञान जिमि पाइ सुसंग कुसंग।'* इत्यादि।

जीव अनन्त हैं। उनके मुख्य तीन भेद हैं। बद्ध, मुमुक्षु और मुक्त। यथा—*'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥'* कोई पाँच और कोई आठ भेद भी मानते हैं, परंतु मुख्य तीन ही हैं अन्य सब इन्हीं तीनके अवान्तर भेद हैं।

पं० श्रीकान्तशरण—इस एक ही अर्धालीमें शुद्ध जीवका स्वरूप कहा गया है, क्योंकि सूक्ष्म तत्त्वका वर्णन भी सूक्ष्म ही शब्दोंमें किया जाता है। बद्ध जीवका लक्षण भी एक ही अर्धालीमें कहा गया है; यथा—*'हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धरम अहमिति अभिमाना॥'*(१। ११६)

पं० रा० व० श०—श्रुति और गीता प्रस्थानत्रयमें भी जीवको परमात्माका अंश बताया है। यथा—'**अंशो एष परस्य—**', '**अंशो नानाव्यपदेशात्**।'(ब्र० सू० २। ३। ४३) '**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**।' (गीता १५। ७) (अर्थात् मेरा ही जीवरूप सनातन अंश जीवलोकमें——), '**तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधा सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति**॥'(मुण्डक० २। १। १) (अर्थात् वह यह सत्य है। जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्निसे उसीके समान रूपवाले सहस्रों स्फुलिङ्ग (चिनगारे) निकलते हैं, हे सौम्य! उसी प्रकार उस अक्षरसे अनेकों भाव (जीव) प्रकट होते हैं, और उसीमें लीन हो जाते हैं)। [अग्निका अंश चिनगारी, वैसे ही ईश्वरका अंश जीव। यथा—'**यथा वह्नेर्विस्फुलिङ्गाः जायन्ते तथा अक्षरतः विविधाः चिज्जडाभावाः। इति आथर्वणिकी श्रुतिः**॥' (भा० म०)। ईश्वर प्रतिबिम्बी है, देह प्रतिबिम्बका आधार है। जीव प्रतिबिम्ब है, इस तरह अंश हुआ। (मं० श०) 'ईश्वर अंश' जैसे भरतादिको अंश कहा है। (रा० प०) ईश्वर अंश प्रकृतिमें पड़नेसे जीव हुआ। यदि यह अपने अंशीकी रीतिपर चले अर्थात् आत्मरूपको पहिचाने रहे तो ईश्वरके ही गुणानुकूल यह भी अविनाशी आदि है। (वै०)]

वि० त्रि०—*'ईश्वर'* इति। ईश्वर और ब्रह्ममें अवस्था-भेदमात्र है। वस्तु-भेद नहीं है। ब्रह्मकी कोई अवस्था न होनेके कारण, जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्तिकी अपेक्षा उसे तुरीय (चौथा) कहते हैं और उस अपेक्षाको भी छोड़कर उसे तुरीयातीत या केवल तुरीय कहते हैं। यथा—'**तुरीयमेव केवलम्**' वही ब्रह्म जब जगत्के प्रकाशकरूप अर्थात् मायापतिके रूपसे देखे जाते हैं, ईश्वर कहलाते हैं। यथा—*'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुनधामू॥'*

'अंस'—मायापति ईश्वरका अंश कहनेका भाव यह कि ब्रह्म और मायाको लेकर ही सब प्रपञ्च है। पूर्ण ब्रह्मका खण्ड नहीं होता, *'यद्यपि एक अखंड अनंता'*, फिर भी मलिन-सत्त्वा माया (अज्ञान) द्वारा उसके अंशकी कल्पना होती है, जिसे कूटस्थ या साक्षी कहते हैं। साक्षी कूटस्थ भी ब्रह्म ही है, यथा—*'प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी'*, परंतु जैसे महाकाश और घटाकाशमें कल्पित भेद है वैसे ही यहाँ भी कल्पित भेद है, यथा—*'मुधा भेद जद्यपि कृत माया।'* अभिप्राय यह कि तूलाविद्याका आश्रय साक्षी कूटस्थ है और मूलाविद्याका आश्रय साक्षी ब्रह्म है। प्रत्येक व्यक्तिमें तूलाविद्या भिन्न-भिन्न है और समष्टिभूता मूलाविद्या एक ही है। तूलाविद्याके भेदसे उसके साक्षी कूटस्थमें भेद माना जाता है। इसीलिये गोस्वामीजीने *'राम'* से ब्रह्म, ईश्वर और कूटस्थ तीनोंका ग्रहण किया है, क्योंकि एक ही तीन भाँतिसे प्रकाशित होता है।

वि० टी०—जीवको ईश्वरका अंश कहना यह कथनप्रणालीके अनुसार ही है; यथार्थमें ईश्वरके अनवच्छिन्न अर्थात् अखण्ड होनेसे उसका खण्ड कैसे हो सकता है? परंतु अंशके समान होनेसे अंश-शब्दका व्यवहार किया जाता है।

मा० म०—मायाविशिष्ट ब्रह्मको ईश्वर कहते हैं। उसका भाग यह जीव है।

वेदान्ती पं० रामपदार्थदासजी—अद्वैत-सिद्धान्तमें माया न सत् और न असत् है, किंतु सत् और असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय है; निर्विशेष ब्रह्मतत्त्वके साक्षात्कारसे ही वह निवृत्त होती है, और कोई भी उपाय नहीं है। जैसे शुक्तिका निश्चय होनेपर रजत निवृत्त हो जाता है, वैसे ही यथार्थ ज्ञान होनेपर माया नहीं

रहती। मायाके मिथ्या होनेसे मायाका कार्य समस्त प्रपञ्च भी मिथ्या ही है। परंतु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तवादी गोस्वामीजी कहते हैं—'*जो जग मृषा ताप त्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखे।*' अत: गोस्वामीजीके सिद्धान्तमें मायाका स्वरूप यह है—'*मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥ गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥ तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥*' अर्थात् 'मैं'—'मेरा' और 'तैं'—'तेरा' इस प्रकारका व्यवहार ही निश्चय कराता है कि कोई कारण-विशेष अवश्य है, जिससे सबकी बुद्धि वैसी हो जाती है। अत: मानना पड़ेगा कि वह कारण-विशेष माया ही है। उस मायाके स्वरूपकी व्याप्ति इतनी विस्तृत है कि वहाँ इन्द्रिय, विषय और मन पहुँच ही नहीं सकते।

अद्वैत सिद्धान्तमें मायाको तूलाविद्या और मूलाविद्या कहते हैं। मायामें आवरण और विक्षेप शक्ति मानते हैं। यह बात अद्वैत सिद्धान्तके ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है। इन सब परिभाषाओंसे श्रीगोस्वामीजीकी परिभाषा भिन्न है। उनके किसी भी ग्रन्थमें उक्त प्रकारसे मायाका भेद नहीं कहा गया है; प्रत्युत वे मायाको विद्या-माया तथा अविद्या-माया रूपसे वर्णन करते हैं। अविद्याके वश होनेसे सब जीव भवकूपमें पड़े हैं, और विद्याकी सहायतासे निकल सकते हैं। अद्वैती कहते हैं कि माया (अपने बलसे, बलात्) ब्रह्मको अधिष्ठान बनाकर सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करती है। गोस्वामीजी कहते हैं—'*एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥*', '*सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥*' इत्यादि।

वि० त्रि०—'*जीव*' इति। मलिन-सत्त्वा-मायामें जब ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो सत्त्वके मालिन्यसे अनन्त प्रतिबिम्ब हो जाते हैं, और उन प्रतिबिम्बोंकी वह मलिन-सत्त्वा-माया ही देह हो जाती है। वही देह कारण-शरीर कहलाते हैं और उनके अभिमानी जीव प्राज्ञ कहलाते हैं। मलिन-सत्त्वामाया, तूलाविद्या अज्ञान-अहंकार, कारण-शरीर और नामरूपात्मिका ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। गोस्वामीजीने जीवकी मैले पानीसे उपमा दी है।

नोट—'*जीव अबिनासी*' इति। चिनगारीवत् अंश कहनेसे सम्भव है कि यह समझा जाय कि जैसे चिनगारीका अग्निसे निकलनेपर नाश होता है वैसे ही जीवका भी नाश होता होगा, इस संदेहके निवारणार्थ कहते हैं कि जीव अविनाशी है। (पं० रा० व० श०)

सि० ति०—अविनाशीकी व्यवस्था दो ही प्रकारसे हो सकती है, या तो विभु हो अथवा अणु। यहाँ जीवको विभु (व्यापक) कह नहीं सकते; क्योंकि उसे ईश्वरका अंश कहा जा चुका है। अतएव अणु ही मानना होगा। पुन:, उत्तरार्धमें '*अमल*' अर्थात् कामादि-मलरहित, एकरस रहनेवाला अर्थात् सद्रूप (सत्-रूप) कहा जायगा। उससे भी अणु-स्वरूप ही मानना पड़ेगा। अत: जीवात्मा अणु-परिमाण ही है; यथा— '**एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राण: पञ्चधा संविवेश।**'(मुं० ३। १। ९) अर्थात् जिसमें पञ्चविध प्राण प्रविष्ट हैं, यह अणु-परिमाण आत्मा सावधानीसे जानने योग्य है। '**वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीव: स विज्ञेय: स चानन्त्याय कल्पते॥ नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसक:। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते।**'(श्वे० ५। ९। १०) अर्थात् बालके अग्रभागके सौ भाग करे, उनके एक भागके पुन: सौ भाग करनेपर जितना वह एक भाग हो, उतना ही परिमाणवाला वह जीव-तत्त्व होता है और वह अनन्त एवं असंख्य है। यह स्त्री, पुरुष, नपुंसक नहीं है; किंतु जिस-जिस शरीरको ग्रहण करता है उसी-उसीसे मिल जाता है। यथा—'**अणुमात्रोऽप्ययं जीव: स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति। यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविन्दुवत्।**' (स्कन्दपुराण); अर्थात् यह जीव अणु-परिमाण होते हुए भी सब शरीरमें व्याप्त होता है, जिस प्रकार मलय चन्दनका एक विन्दु शरीरके एक देशमें रहते हुए भी अपने धर्मभूत ज्ञानके द्वारा सर्वाङ्ग देहमें व्याप्त होता है।

उपर्युक्त रीतिसे 'अविनाशी' कहकर जीवका अणुत्व कहा। इसपर भी अणु-स्वरूप जीवात्माके प्रकृति-परमाणुओंकी तरह जड़ होनेकी शंका होती, इसलिये 'चेतन' भी कहा है, क्योंकि '**अणुत्वे सति चेतनत्वं जीवस्य लक्षणम्**' अर्थात् अणु होते हुए चेतन होना जीवका लक्षण है। जीवात्मा स्वयं चिद्रूप है और स्वधर्मभूत ज्ञानका आश्रय भी है, इसीसे यह 'चेतन' कहा जाता है; यथा—'**अरे वाऽयमात्मा विज्ञानघन**

एव।'(बृह० २। ४। १२) अर्थात् श्रीयाज्ञवल्क्यजी श्रीमैत्रेयीजीसे कहते हैं—अरे मैत्रेय! यह आत्मा विज्ञान-घन-स्वरूप है। **'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।**'(प्रश्नो० ४। ६) अर्थात् यह ही देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, चखनेवाला, संकल्प करनेवाला, जाननेवाला, करनेवाला और विज्ञानात्मा—जीव पुरुष है, यह अविनाशी परमात्मामें स्थित है। इन दोनों प्रमाणोंसे जीवकी उपर्युक्त ज्ञानस्वरूपता और ज्ञानाश्रय होनेकी ज्ञान-गुणकता सिद्ध हुई।

वि० त्रि०—(क) ***'अबिनासी'***। अर्थात् जिस भाँति ईश्वर सद्रूप अविनाशी है, उसी भाँति जीव भी अविनाशी है, सद्रूप। (ख) 'चेतन' अर्थात् जड़से सम्बन्ध होनेपर भी प्रज्ञानघन है, यथा—***'निज सहज अनुभवरूप (तब खल भूलि धौं आयो कहाँ)'*** (ग) ***'अमल'***—निर्मल कहनेसे यह दिखलाया कि अभीतक (सुषुप्तितक) जीव ममतारूपी मलसे रहित है। गोस्वामीजीने ममताको मल माना है, यथा—***'ममता मल जरि जाइ।'*** (घ) ***'सहज सुखरासी'*** अर्थात् कारणशरीराभिमानी होनेपर भी आनन्द-भोक्ता है। इसीसे कारण-शरीरको आनन्दमय कोष कहते हैं। उसकी अवस्था सुषुप्ति है, यथा ***'अब सुख सोवत सोच नहिं।'***

करु०—***'चेतन अमल सहज सुखरासी'*** इति। चेतनसे चित्-रूप, अमलसे सत्-रूप, सुखराशिसे आनन्दरूप अर्थात् सच्चिदानन्दरूप जनाया। जैसे गङ्गा-सरयूका जल घटमें भर लिया जाय तो भी वह गङ्गा-सरयूजल ही कहलाता है।

सि० ति०—ये ही *'सत् चित् आनन्द'* तीनों लक्षण छः प्रकारमें भी कहे गये हैं; यथा—**'तृतीयपदेन मकारेण ज्ञानानन्दस्वरूपो ज्ञानानन्दगुणकोऽणुपरिमाणो देहादिविलक्षणः स्वयंप्रकाशो नित्यरूपो जीवः प्रतिपाद्यते।**' (अग्रस्वामिकृत रहस्यत्रय) इन छहोंमें प्रथमके तीनके आधारपर अगले तीन रहते हैं, जैसे कि 'ज्ञानानन्द-स्वरूपता' से 'देहादि-विलक्षणता' रहती है, क्योंकि यह बोध रहता है कि मैं तो ज्ञानानन्द-स्वरूप हूँ, यह मलिन दुःखमय एवं हेय शरीर कैसे हूँ? इस ज्ञानमें इसमें देहाभिमानियोंके प्रतिकूल आत्म-लक्षण रहते हैं, यह उपर्युक्त ***'सहज सुखरासी'*** के अर्थमें है। यथा—'ज्ञानानन्द गुणक' होनेसे यह 'स्वयं-प्रकाश' रहता है कि मैं स्वरूपसे ही ज्ञानका आश्रय अर्थात् ज्ञानगुणक हूँ, मेरा ज्ञानरूप प्रकाश बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रिय आदिकी क्रियासे नहीं है। मैं स्वयं प्रकाशरूप हूँ। जीवात्मा अपने-अपने धर्मभूत ज्ञानके प्रकाशसे शरीरके एक देशमें रहते हुए भी समग्र इन्द्रिय-अन्तःकरणको चैतन्य किये रहता है, यथा—**'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥**'(गीता १३। ३३) यह उपर्युक्त 'चेतन' के अर्थमें आया। पुनः 'अणु-परिमाण' होनेसे 'नित्यरूप' है, यह ऊपर 'अविनाशी' के अर्थमें कहा गया। यह उपर्युक्त 'अमल' के अर्थकी सत्-रूपतामें आया। जीवकी नित्यरूपताको श्रुति भी कहती है; यथा—**'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान्।**'(श्वे० ६। १। २३)*

भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यने जीवके इन लक्षणोंको मन्त्रार्थ प्रसङ्गमें स्पष्ट लिखा है; यथा—**'ज्ञानानन्दस्वरूपोऽवगतिसुखगुणो येन वेद्योऽणुमानो देहादेरप्यपूर्वो विदितविविधस्तत्प्रियस्तत्सहायः। नित्यो जीवस्तृतीयेन तु खलु पदतः प्रोच्यते स्वप्रकाशो जिज्ञासूनां सदेत्थं शुभनति सुमते शास्त्रवित्सज्जनानाम्॥**' (श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ३। ९)। अर्थात् हे शुभ कार्योंमें सुन्दर बुद्धिवाले सुर-सुरानन्द! (राममन्त्रके बीजके) तृतीयाक्षर मकारसे शास्त्रज्ञ सज्जन जिज्ञासुओंके सदा वेद्य (जाननेयोग्य) ज्ञान, आनन्द, स्वरूप तथा ज्ञान और सुख आदि गुणोंवाला अणु-परिमाणवाला देह-इन्द्रिय-आदिसे विलक्षण, बद्ध आदि भेदोंसे अनेक प्रकारवाला प्रसिद्ध, परमात्माका प्रिय, मोक्ष आदिमें परमात्मा ही जिसका उपाय है, जो नित्य है और स्वप्रकाश है—वह जीव कहा जाता है।

शेषदत्तजी—१ कुछ लोग जीवको इन विशेषणोंसे सच्चिदानन्द सिद्ध करते हैं। इस तरह कि 'चेतन'से चित्, 'अमल' से सत् और ***'सहज सुखरासी'*** से निजानन्द-निधि जनाया। पर पहले चरणमें अंश कहा है इससे दूसरेमें फिर उसीको सच्चिदानन्द कहना ठीक नहीं बनता। २—अंशके उदाहरणमें पिता-पुत्र, जल-

* यह श्रुति उस स्थानमें नहीं है।

तरङ्ग; यथा—'**मय्यन्यं ते महाम्भोधौ वास्वर्य्यः जीववीचयः। उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः॥**' (अष्टावक्रे), कनक-कड़ा, सूर्य और किरण इत्यादि, अनेक दृष्टान्त लोग देते हैं, पर ये पूरी तरह घटित नहीं हो सकते।

जैसे कि—(क) पिता-पुत्र सहज सँघाती नहीं हैं और ब्रह्म-जीव सहज सँघाती हैं, कभी पृथक् नहीं होते। (ख) जलतरङ्गमें यह आपत्ति है कि जलका तरङ्ग और तरङ्गका ही जल होता है पर ईश्वर ईश्वर ही है और जीव जीव ही।-'**ईश्वरजीवमाया एते त्रयतत्त्वं दनादयोर्खण्डा चैकरसा सर्वदैवेति श्रुतिः।**' (ग) कनक-कटक दृष्टान्तमें यह आपत्ति है कि कनक तो कटकका उपादानकारण है कार्य भी कनक ही है। और 'तत्' 'त्वं' का निमित्तकारण है जैसे कुलाल घटका। जीव (चित्) और माया (अचित्) दोनों श्रीराघवके नित्य स्वरूपसे होते हैं, पर अन्तर्यामित्वद्वारा जीवके अभ्यन्तर ईश्वर प्रकाश किये रहते हैं। अतः यह कथन भी कच्ची ही। (घ) जैसे सूर्य किरणोंद्वारा सिन्धुजल आकर्षणकर मेघद्वारा सर्वत्र बरसते हैं, इसी प्रकार राघवजी नित्य परविभूतियोंसे सदा विराजते हैं और जीवोंद्वारा अखिल व्यवहार साधते हैं। यह कथन कुछ बनता तो है पर इसमें भी आपत्ति है कि रवि-किरण सर्वत्र पूरित तो है पर किसीमें स्नेहद्वारा बद्ध नहीं है, सूर्यास्तसमय सिमिटकर रवि-मण्डलान्तर वर्त्तती है। और, जीव तो जहाँ-तहाँ बद्ध हो रहा है तथा अन्तमें भी ब्रह्म मिलापकर शून्य है। इत्यादि।

ईश्वर-जीवमें प्रतिबिम्बी-प्रतिबिम्ब भाव है। प्रतिबिम्ब=दूसरी प्रतिमा। यथा—'**प्रतिबिम्बे तत्कृतौ च प्रतिकृत्यं च मण्डले लाङ्क्षणे चापि विशेस्त्रीति भास्करः।**' रघुनाथजीने अपनी इच्छासे अपने विनोदार्थ दूसरी प्रतिमा निर्माण की, यथा—गर्गसंहितायाम्—'**बिम्बादिवोद्धृतो बिम्बो ब्रह्मदेहात्तथापरः।**' बिम्ब-प्रतिबिम्बीके न तो समान ही है न न्यून। तुल्य कहनेसे श्रुति-विरोध होता है—'**न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते।**' अतएव षट् ऐश्वर्यके अतिरिक्त और सब प्रकार तुल्य जानिये।

सो माया बस भएउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥ ३॥

अर्थ—हे गुसाईं! ऐसा वह जीव मायावश हो गया और तोते और बंदरकी तरह (स्वयं ही) बँध गया॥ ३॥

नोट—१ (क) '***सो***' अर्थात् जो ईश्वरका अंश है, अविनाशी, चेतन, अमल और सहज सुखराशि है वही जीव। (ख) '***माया बस भएउ***' इति। यह महत्तत्त्वसे लेकर पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय इन सोलह विशेषोंतक अवस्थावाली है। सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है। यथा—'**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरिति।**' 'सांख्यसूत्र'। सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण प्रकृतिके स्वरूपानुबन्धी स्वभाव-विशेष हैं, एकमात्र प्रकाशादि कार्योंके द्वारा इनका निरूपण किया जा सकता है। प्रकृतिकी कारण-अवस्थामें तो ये अप्रकट रहते हैं और प्रकृतिके विकारभूत महत्तत्त्वादिमें प्रकट हो जाते हैं (अर्थात् इसीके गुण विषम होकर महत्तत्त्व आदि रूपमें प्रकट होते हैं)। उस समय महत्तत्त्वसे लेकर विशेषोंतक तत्त्वोंके द्वारा उत्पन्न देव-मनुष्यादि शरीरोंसे सम्बन्ध इस देहधारी अविनाशी जीवात्माको, जो कि स्वरूपतः गुणोंसे सम्बन्धित होने योग्य नहीं है, देहमें स्थित होनेपर बाँधते हैं अर्थात् शरीरमें स्थितरूप उपाधिसे बाँध लेते हैं। (श्रीरामानुजभाष्य)। यथा—'**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥**'(गीता १४। ५) भगवान्‌ने यह बताकर कि ये तीन गुण अव्यय आत्माको देहमें बाँध लेते हैं फिर आगेके तीन श्लोकोंमें इन गुणोंका स्वरूप और उनसे होनेवाले बन्धनका प्रकार बतलाया है। यथा—'**तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥**'(६—८)

सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाशक है। प्रकाश और सुखके आवरणका अभाव ही निर्मलता है। अतः '**निर्मलत्वात्प्रकाशकम्**' का अभिप्राय यह है कि प्रकाश और सुखके उत्पन्न करनेका ऐकान्तिक स्वभाव होनेके कारण सत्त्वगुण प्रकाश और सुखका कारण है। वस्तुके यथार्थ स्वरूप-ज्ञानका नाम प्रकाश है।

तथा सत्त्वगुण अनामय है अर्थात् नीरोगताका कारण है। यह सत्त्व नामक गुण जीवको सुखकी आसक्तिसे और **ज्ञानकी** आसक्तिसे बाँधता है। अभिप्राय यह है कि सुख और ज्ञानमें पुरुषकी आसक्ति उत्पन्न कर देता है। ज्ञान और सुखमें आसक्ति उत्पन्न हो जानेपर मनुष्य उन दोनोंके लौकिक और वैदिक साधनोंमें प्रवृत्त होता है, फिर उन कर्मोंका फल भोगनेकी साधनरूपा योनियोंमें जन्म लेता है। सारांश यह कि सत्त्वगुण ज्ञान और सुख उत्पन्न करनेवाला और फिर उन दोनोंमें आसक्ति उत्पन्न करनेवाला भी है।

रजोगुण राग (स्त्री-पुरुषकी पारस्परिक स्पृहा), तृष्णा (शब्दादि विषयोंकी स्पृहा) और सङ्ग-(पुत्र, मित्र आदि सम्बन्धियोंमें सम्बन्धविषयक स्पृहा-) का कारण है। यह कर्मोंमें स्पृहा उत्पन्न करके जीवको बाँधता है; क्योंकि जीव कर्ममें स्पृहा करके जिन क्रियाओंका आरम्भ करता है वे पुण्य-पापरूप होती है, इसलिये वे अपने फल-भोगकी साधनरूपा योनियोंमें जन्म देनेवाली होती हैं।

तमोगुण अज्ञान-(विपरीत ज्ञान, मोह-) का कारण है। यह प्रमाद (अकर्तव्य कर्ममें प्रवृत्त करनेवाली असावधानी), आलस्य और निद्राद्वारा जीवको बाँधता है।

इन तीनों श्लोकोंका भाव ही श्लोक ९ '**सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥**' में कहा गया है।

गोस्वामीजीने मायाकी व्याख्या इस प्रकार की है—'***मैं और मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥ एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥***' (आ० १५। २, ५)। इन दोनों अर्धालियोंमें जीवका मायाके वश होना भी कहा है। इससे सूचित हुआ कि 'मैं-मोर' 'तू-तेरा' में ही जीव बँध गया है। अविद्या मायाके वश जीव भवमें पड़ा है।

२—'***गुसाईं***' इति। यह सम्बोधन है। यथा—'***तुम्ह निज मोह कहा खगसाईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं॥***' (७०। ५) '***जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥***' (७४। ८) '***जिमि बिनु तेज न रूप गोसाईं।***' (९०। ६) '***देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहि की नाईं॥***' (९६। ९) इत्यादि। तथा यहाँ भी सम्बोधन है। रा० प्र० कार लिखते हैं कि यह जीवका विशेषण भी हो सकता है। भाव यह है कि जो इन्द्रियोंका स्वामी वा प्रेरक है वही जीव बँधा।

वि० त्रि०—गोसाईं=प्रभु, यथा—'***स्वामि गोसाइहि सरिस गोसाईं।***', '***सो गोसाइँ बिधि गति जेहि छेकीं।***' '***सो गोसाईं***' अर्थात् वह प्रभु (**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः**) है पर इस दशाको प्राप्त हो गया। यथा—'***निष्काज राज बिहाइ नृप इव स्वप्न कारागृह पर्यो।***' (वि०)। ईश्वरने तो केवल जगत्को उत्पन्न किया, वह उसका भोक्ता नहीं है। भोक्ता तो जीव है, इसलिये जीवको प्रभु कहा। भोगकी कल्पना जीवकी है। उसीने जगत्से लेकर मोक्षतक संसारकी कल्पना की है।

वि० त्रि०—माया। सत्त्व, रज और तमकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं, यही ईश्वरकी शक्ति माया कहलाती है, यथा—'***सो हरिमाया सब गुनखानी।***' ब्रह्मसे पृथक् मायाकी सत्ता है नहीं, इसलिये उसे सत् नहीं कह सकते, परंतु उससे पृथक् मायाका कार्य दृष्टिगोचर होता है, इसलिये उसे असत् भी नहीं कह सकते, अतएव माया अनिर्वचनीया है। ब्रह्मसे यह सर्वथा विलक्षण है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है, और माया मिथ्या, जड़ एवं दुःखरूपा है। मिथ्या, यथा—'***समुझे मिथ्या सोऽपि।***' जड़, यथा—'***जासु सत्यता ते जड़माया।***' दुःखरूपा, यथा—'***एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा।***' जिस प्रकार व्यवहारमें सत्यसे मिथ्या विलक्षण होते हुए भी, सत्यके आधारपर स्थित रहता है, सत्यके बलसे प्रकाशित रहता है और सत्यके ज्ञानसे बाधित होता है, वैसे ही पारमार्थिक मिथ्या (माया) भी पारमार्थिक सत्यके आश्रित ब्रह्मसे प्रकाशित तथा ब्रह्मसे विलक्षण है और ब्रह्मज्ञानसे ही उसका बाध होता है, यथा—'***झूठेहु सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥ जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपनभ्रम जाई॥***'

तीनों गुणोंका यह स्वभाव है कि वे एक-दूसरेको छोड़कर भी नहीं रह सकते। और एक-दूसरेको दबाया भी करते हैं। अतः गुणोंके तारतम्यसे मायाके भी अनेक भेद हैं, जिनमें दो प्रधान हैं। शुद्ध-

सत्त्वा-माया, जिसमें रज और तमका लेशमात्र है, विद्या कहलाती है, जगत्‌की रचनामें यही समर्थ है और मलिन-सत्त्वा-माया, अविद्या कहलानेवाली जीवके बन्धनका कारण है।

वि० त्रि०—*'बस भएउ'* अघटघटनापटीयसी मायाकी करामात है कि वह छायाद्वारा बिम्बको वशीभूत कर लेती है, यथा—*'करि माया नभ के खग गहई', 'गहै छाँह सक सो न उड़ाई।'* अत: कूटस्थ तूला-माया और प्रतिबिम्ब तीनों मिलकर जीव हुए, अब माया जो-जो और जैसा-जैसा नाच नचाती है, जीव वह और वैसा ही नाच नाचता है। यथा—*'देखा जीव नचावै जाही', 'नाचत ही निसि दिवस मर्यो। तब ही ते न भयो थिर जब ते जीव नाम धर्यो॥'*

वेदान्ती पं० रामपदार्थदासजी—*'माया'* इति। *'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने', 'जासु सत्यता ते जड़माया। भास सत्य इव……'* इत्यादि कुछ उद्धरणोंसे अद्वैत सिद्धान्तका भास होता है। परन्तु यहाँ अद्वैत नहीं है, क्योंकि अद्वैत सिद्धान्तमें तीन सत्ताएँ मानी जाती हैं—'प्रातिभासिकी' (शुक्त्यवच्छिन्न चेतनमें रजताभासकी प्रातिभासिकी सत्ता है); 'व्यावहारिकी' (शुद्ध ब्रह्ममें घटपटात्मक प्रपञ्चकी व्यावहारिक सत्ता है) और 'पारमार्थिकी' (शुद्ध ब्रह्म ही पारमार्थिक है)।

यदि गोस्वामीजीको यह सिद्धान्त अभिमत होता तो कहीं-न-कहीं इस सत्तात्रयात्मक सिद्धान्तको भी स्पष्ट करते। परंतु इन सिद्धान्तोंको उलटे भ्रमात्मक कहते हुए आपने इन्हें छोड़नेके लिये कहा है। यथा—*'कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै। तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपुन पहिचानै॥'*—इस उक्तिसे स्पष्ट यही प्रतीत होता है कि इन सांख्य, अद्वैत और द्वैताद्वैत आदि सिद्धान्तोंसे गोस्वामीजीका सिद्धान्त निराला है। श्रीगोस्वामीजीकी उपर्युक्त दो-चार ऐसी बातें उपलब्ध होती हैं जिनसे बहुत-से लोगोंको कुछ भ्रम होता है कि गोस्वामीजी विवर्तवादी थे—जैसे **'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः'** इत्यादि। परंतु इससे ग्रन्थकारने श्रीरामजीका उत्कर्ष विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार ही दिखलाया है।

यह प्रपञ्च भगवत्‌की सत्तासे पृथक् सत्ता माननेवालोंको बन्धनकारक है, क्योंकि समस्त प्रपञ्च ईश्वरका शरीर है—**'यस्य पृथिवी शरीरम्, यस्यात्मा शरीरम्, जगत् सर्वं शरीरं ते।', 'सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः।'** शरीरीसे ही शरीरकी सत्ता रहती है। शरीर और शरीरीका अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध होता है। अतएव ग्रन्थकारने **'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलम्** कहा है।……जैसे भ्रमका विषय जो सर्प है, उसकी आकृति रज्जुकी आकृतिसे पृथक् नहीं है, इसी तरह ब्रह्मके स्वरूपसे पृथक् स्वरूपवाला प्रपञ्च नहीं, किंतु चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मस्वरूप एक है। यही विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है। वेदान्तनिष्णात श्रीगोस्वामीजी इसी बातको कहते हैं—*'जेहि जाने जग जाइ हेराई'* (जिस ब्रह्मके जाननेसे समस्त प्रपञ्चकी पृथक् सत्ता नष्ट हो जाती है)। *'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'* यही आचार्योक्ति सिद्ध होती है। निष्कर्ष यह कि मायाकी प्रबलतासे भ्रम होता है। भ्रम होनेसे अन्यमें अन्यका आरोप होता है। जैसे सर्प और रज्जु अपने-अपने स्थानपर सत्य हैं, परंतु रज्जुमें सर्पका आरोप भ्रमात्मक है। सर्प सत्य है, किंतु रस्सीको सर्प मानना मिथ्या है। इसी तरह माया जड़ है, सत्य है और भगवत् परतन्त्र है; परन्तु मायाको स्वतन्त्र और चेतन ब्रह्मको अधिष्ठान बनानेवाली मान लेना असत्य है। सीपीमें रजत और सूर्यकिरणमें जल सूक्ष्मरूपसे सत्य है; परंतु स्थूलरूपसे व्यवहारके लिये त्रिकालमें असत्य है। ऐसा होते हुए भी भ्रम हो ही जाता है। यह भ्रम क्यों होता है? मायाकी प्रबलतासे। यथा—*'भास सत्य इव मोह सहाया।'* उस मायाकी प्रबलताको स्वतन्त्र सत्ता मान लेना ही असत्य है। क्योंकि माया जड़ होनेसे स्वत: प्रबल नहीं है, वह तो *'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।'* इसीसे गोस्वामीजी लिखते हैं—*'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥'*

……गोस्वामीजीने जगत्‌को झूठा और अनित्य माननेवालोंको बहुत फटकार बतायी है। यथा—*'झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहत जे अंत लहा है। ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करत हहा है॥ जानपनीको गुमान बड़ो तुलसीके बिचार गँवार महा है।', 'जौ जग मृषा तापत्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखे।'* (कल्याणसे)

नोट—३ *'बँध्यो कीर मर्कट की नाईं'* इति। माया जड़ है, यथा—*'जासु सत्यता ते जड़ माया।'* जीव-चेतन है। अत: जीवको कीर और मर्कट चेतनोंकी उपमा दी। कीर और मर्कटके फाँसनेमें पोंगली, तीली, घड़ा आदि काममें लाये जाते हैं जो जड़ हैं, अत: ये मायाके स्थानपर हैं।

तोतेको फाँसनेके लिये बहेलिया यह करते हैं कि जहाँ बहुत शुक हैं वहीं पृथ्वीपर दो लकड़ियाँ (खूँटे, तिल्लियाँ) कुछ बीच देकर गाड़कर उनपर एक गोल पतली लकड़ी, या तार या डोर इत्यादिमें बहुत-सी पोंगलियाँ (पुल्ली या नली) पहनाकर, उसके दोनों सिरे खूँटोंमें कसकर बाँध देते हैं। इस यन्त्रके समीप कुछ अन्नके दाने छिटका देते हैं। तोते दाना चुगने आते हैं तो स्वभावसे ऊँचेपर बैठना चाहते ही हैं। वे पोंगीपर बैठ दाना चुगनेको झुकते हैं। पोंगलीके घूमते ही वे उलटे लटक जाते हैं। पंजेसे स्वयं पोंगलीको पकड़े हैं पर समझते हैं कि उसने हमें पकड़ लिया है। भ्रम और भयवश पुल्लीको छोड़ते नहीं। बस बहेलिया पास आकर एक-एककर उनको पकड़ लेता है।

बंदरको फाँसनेकी तरकीब यह की जाती है कि तंग मुँहके घड़ेमें अन्न रखकर घड़ेको पृथ्वीमें इस तरह गाड़ देते हैं कि मुँह ऊपर खुला रहे और बंदर उसे गिरा न सके। बंदर आकर उसमें हाथ डालकर मुट्ठी भर लेता है। मुट्ठी भर जानेपर वह तंग मोहरेसे नहीं निकल सकती। बंदर समझता है कि किसीने वा घड़ेने मुट्ठी पकड़ ली, यद्यपि दानेके लोभसे एवं भ्रमसे वह स्वयं बँधा है, न मुट्ठी छोड़ता है, न छूटता है। जैसे शुक और बंदर अपनेको जड़से बँधा हुआ समझते हैं, वैसे ही जीव समझता है कि जड़ मायाने मुझे बाँध लिया। वस्तुत: जीव स्वयं जड़को ग्रहण किये हुए है और भ्रमसे उसका पकड़ना समझता है। सुत-वित-नारि आदि सांसारिक समस्त विषय अन्नके दाने हैं जिनके भोगके लोभसे जीव संसार-बन्धनमें पड़ता है। संसारके विषयोंमें ममत्व बन्धनका कारण है।

शेषदत्तजी—१ सहज सुखराशि होकर विषयानन्दमें क्यों पड़ा? इसका उत्तर यह है कि जीवका यह स्वभाव ही है, यथा—*'हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धरम अहमिति अभिमाना॥'* जीवत्ववश भूलकर मोहवश हो गया। २—यहाँ दो बातें कही हैं। एक तो 'वश' होना दूसरे 'बँधना'। 'वश भयो से मनसे और 'बँध्यो' से तनका बँधना जनाया। वा कीरवत् वश होना और मर्कटवत् बँधना जनानेको दो विशेषण दिये।

करु०, शेषदत्तजी—लकड़ी पुल्ली आदि क्या हैं? शुभाशुभकर्म दो दण्ड (खूँटे) हैं। प्रवृत्तिवर्तक चित्तवृत्ति मध्यका दण्ड है, विषयवासना पुल्ली, मायिकसुख अन्न, तृष्णा क्षुधा, प्रवृत्तिकी कचाई पुल्लीका घूमना, भगवत्की ओरसे च्युत होना शुकका उलटा झूलना है और पिंजड़ेमें पड़ना भवमें पड़ना है। इसी प्रकार जीव मर्कट है, गृह कुल्हिया है, परिवार चना है, संसार खेत है, जहाँ यह कुल्हिया गड़ी है, स्नेह (करु०—वासना) मुट्ठी है। काल, नट वा किसान (करु०) मोहशृङ्खलासे बाँधकर अनेक नाच नचाता है।

करु०—वहाँ सुआ पूँगलीपर अन्नकी आशासे बैठता है। पूँगलीके घूम जानेसे वह उल्टा टँगा है। (गर्भमें जीव उल्टा टँगा रहता ही है) अन्न और भी निकट हो गया। आधे अंगुलका बीच चोंच और दानेमें है पर वह एक दाना भी नहीं ले पाता। उसकी चित्तवृत्ति अन्नमय हो रही है पर न तो दूर है और न तो पा ही सके। वैसे ही जीवकी चित्तवृत्ति तृष्णाकी प्रबलतासे सुत-वित-दारमें आसक्त है, उसको इनका ममत्व हो गया है, वे सब समीप हैं पर वह पदार्थ किंचित् प्राप्त नहीं है, इतनेमें कालवधिक पकड़कर चौरासीरूपी पिंजड़ेमें डाल देता है।

वै०—१ यहाँ प्रकृति खेत, बुद्धि चोंगली, सतोगुण बीचकी लकड़ी, रज, तम, अड्डा, जीव, सुवा और काल बहेलिया हैं। २—*'मर्कट'* इति।—गृह कुल्हिया, सुतादिकी ममता मूठी, मोह नट है।

खर्रा—*'बँध्यो कीर मर्कट की नाईं।'* यहाँ दो दृष्टान्त देनेका हेतु यह है कि जैसे सुग्गा (तोता) अलब्ध विषय है और वानर लब्ध विषय, वैसे ही जीव लब्ध विषय और अलब्ध विषय दो प्रकारके है। सुग्गा चरणबन्ध, वानर करबन्ध; तब दीपमणिका यत्न कैसे बने।

मयूख—'शुक मर्कट' जबतक जीव निज प्रभुके समीप था तबतक शुद्ध था। जब उसमें तन, मन

और विषयका संचार हुआ तब मानो शुक हुआ और जब नभचारी हुआ अर्थात् विषयमें उसकी प्रवृत्ति हुई तबसे उसका मन भ्रमकूपमें पड़ गया। जब जन्म लेकर दुःख सहने लगा तब मानो बंदरका रूप हुआ और भूतलमें छूटा हुआ चरता है, उसीको सुख मानता है।

सि० ति०—जगत् छोटे मुँहका घड़ा है। *'जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥'*, इन दसोंका स्नेह जगत्की दसों दिशाएँ हैं। इनमें सुख और वासना दाने हैं, उनकी ममतारूपी मुट्ठी बाँध ली है। अतः तीनों ऋणरूपी तीन लड़वाली रस्सीमें गला बँधा लिया और लोभवश अनेक नाच नाचता है; यथा—*'लोभ मनहि नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि।'* (वि० १५९)

इस प्रकार यहाँ दो उपमाएँ दो प्रकारके बन्धनोंके लिये हैं, एक उपमा गर्भवासतकके लिये, दूसरी सांसारिक जीवनके लिये हैं।

नं० प०—तोता प्राणके मोहमें पड़कर फँसता है, उसी तरह अविनाशी सुखराशी जीव अपने कुटुम्ब, परिवार, धन, दौलत, इष्ट, मित्र इत्यादिके मोहमें पड़कर फँस जाता है। और बंदर भी मुट्ठीभर चनेके लोभमें पड़कर फँस जाता है। इसी तरह जीव इन्द्रियोंके सुखके लोभमें पड़कर फँस जाता है और नाना प्रकारके दुःख उठाता है।

वि० त्रि०—१ *'बँध्यो'* अर्थात् कूटस्थ प्रतिबिम्बद्वारा मायासे बँध-सा गया, जैसे घटाकाश-जलाकाशद्वारा जलसे बँध जाता है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब जलके दोषोंसे दूषित होता है चंचल होनेसे चंचल होता है, उछलनेसे उछलता है, गिरनेसे गिरता है, दौड़नेसे दौड़ता है, निदान जलसे बँध जाता है उसी प्रकार जीव भी मायासे बँध-सा गया। परंतु जड़का उदाहरण देनेसे किसीको जीवके प्रति जड़का संदेह न हो तथा यह शंका न हो कि अज्ञान तो कोई रस्सी नहीं है जिससे कोई बाँधा जा सके, इसलिये कहा है कि *'बँध्यो कीर मर्कट की नाईं।'*

२—*'मरकट की नाईं।'* (क)—""विचार करनेसे यहाँ सुग्गेको अज्ञानके सिवा कोई दूसरा बन्धन नहीं है। व्यवहारकालमें (वाचक ज्ञानी) पण्डितोंकी भी स्थिति मूर्खों-सी* देखी जाती है। अतएव पण्डितोंका अज्ञानबन्धन दिखलानेके लिये *'कीर की नाईं'* कहा। (ख)—वानर भी अज्ञानसे ही बँधा है। यह मूर्ख होनेसे 'सुग्गा पण्डित' की भाँति मोक्ष-शास्त्रका पाठ करते हुए बद्ध नहीं है। मूर्खका बन्धन दिखलानेके लिये *'मर्कट की नाईं'* कहा।—इसी तरह जीव अज्ञान-बन्धनसे बँधा हुआ है, हजार प्रयत्न करनेपर भी नहीं छूटता।

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥ ४॥

अर्थ—जड़ और चेतनमें गाँठी पड़ गयी। यद्यपि (जड़ और चेतनमें गाँठ पड़ना) झूठ ही है तो भी छूटनेमें कठिनता है॥ ४॥

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई

रा० प्र०—ग्रन्थि स्नेह है जैसे वर-दुलहिनिकी गाँठ जोड़ना स्नेहका सूचक है।

मा० म०—चेतन आत्मा और जड़ मायामें परस्पर जो सरसता और नीरसता है उसीकी स्नेहरूपी ग्रन्थि दोनोंके बीचमें पड़ गयी। जीव मायामें सरसता समझ उसके सुखको भोगता है और माया इसीको भोगती है अतः जीवका छुटकारा नहीं होता। पुनः, ग्रन्थि तो सत्य है परंतु इसका पड़ना मिथ्या है। यह *'भूमि परत भा ढाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी'* का उत्तर अर्थात् स्पष्टीकरण है।

---

* वि० त्रि०—किसी महात्माने सुग्गेकी यह दुर्दशा देखकर एक सुग्गा पाला और उसे लगे पढ़ाने—'देखो सुग्गा! दानोंका लोभ करके नलीपर न बैठना और यदि बैठना हो तो उसके घूमनेपर निडर होकर उसे छोड़ देना।' जब सुग्गा पढ़कर पण्डित हो गया तो उसे छोड़ दिया। उस सुग्गेका वाक्य सुनकर दूसरे सुग्गे भी वैसे ही बोलने लगे। महात्मा बड़े प्रसन्न हुए कि सभी सुग्गोंका भय निवृत्त हो गया। परंतु उनके आश्चर्यका कोई ठिकाना नहीं रहा जब कि उन्होंने एक सुग्गेको उसी प्रकार उलटा लटके हुए यह पढ़ते पाया कि 'देखो।'.........

पं०—देहमें अहं भाव गाँठ है। यह झूठी है, क्योंकि चेतनसे इतर जड़ कोई वस्तु है ही नहीं तब गाँठ किससे पड़े, पर ज्ञानके साक्षात्कार बिना छूटना कठिन है।

वै०—*'जड़ चेतनहि ग्रंथि—।'* तोता और बंदर चेतन, पिंजड़ा और रस्सी जड़; पर तोता पिंजड़ेके अधीन एवं बंदर रस्सीके अधीन चलते हैं। वैसे ही आत्मा-चेतन-त्रिगुणात्ममाया जड़में बँध गयी। अर्थात् ईश्वरांश और प्रकृति-अंश मन दोनों मिल गये, जिससे आत्मदृष्टि भुलाकर बुद्धि-दृष्टि उत्पन्न हो गयी कि मैं कुछ हूँ तब त्रिगुणात्म अहंकार हुआ जिससे इन्द्रिय, इन्द्रियदेवता, विषय इत्यादि सब जीवमें हो गये—ये ही सब जड़-बन्धन हैं। 'जड़' का भाव कि उसे बाँधनेकी शक्ति नहीं है। जभी जीव उनमें मुँह फेर ले तभी बन्धनरहित हो जाय। विचारने मात्रसे झूठा है, क्योंकि बाँधना छोड़ना जब अपने ही हाथ है तब सच्चा कहाँ?

वि० त्रि०—१ *'जड़ चेतनहि।'* जड़-चेतन दोनों विरुद्ध स्वभाववाले पदार्थ हैं। एक अन्धकार है, तो दूसरा प्रकाश है। एक विषय है दूसरा विषयी है। एक मिथ्या है तो दूसरा सत्य है। इन दोनोंमेंसे एकका दूसरेमें अध्यास (भ्रम होना अथवा एकके धर्मका दूसरेमें अध्यास होना मिथ्या है। यथा—*'छिति जल पावक गगन समीरा। पंचरचित यह अधम सरीरा॥ प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥'*

२—*'ग्रंथि परि गई।'* गाँठ पड़ गयी। अर्थात् तादात्म्य हो गया। जड़में चेतनका अध्यास (भ्रम) होने लगा और चेतनमें जड़का। इस गाँठको किसीने बाँधा नहीं है। अनादिकालसे पड़ी हुई है। शिष्यको समझानेमें सुभीताके लिये *'परि गई'* कहा। कारण-शरीरमें जो चेतनका अध्यास हुआ वही प्रतिबिम्ब है, वही गाँठ है। यथा—*'रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल महँ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥ एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई।'*

३—*'जदपि मृषा।'* झूठी अर्थात् भ्रममात्र है। मायाके साथ असंग कूटस्थका सम्बन्ध कैसा? घटाकाशका जलसे सम्बन्ध केवल भ्रमसे सिद्ध है। यथा—*'जदपि असत्य देत दुख अहई।'* *'छूटत कठिनई'*—छूटना कठिन है। किसीका हटाया नहीं हटता। क्या लोकका, क्या वेदका, सब व्यवहार इसी अध्यासपर टिका है। यथा—*'कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे।'*

सि० ति०—जड़ माया और चेतन जीव इन दोनोंका विवेक नहीं होना बन्धन है, जीव-(पुरुष-)के सम्बन्धसे प्रकृति (माया) चेतन-सी भासती है और प्रकृतिके सम्बन्धसे पुरुष जड़वत् भासता है। इस तरहका अन्योन्य अध्यास (भ्रम) होना, एकके धर्मका दूसरेमें अध्यास होना तादात्म्य हो जाना—चेतन और जड़का गठबन्धन है, यह चिज्जड़ ग्रन्थि कही जाती है। 'जदपि मृषा'—यह गाँठ पड़ना मिथ्या है, क्योंकि जड़, चेतन दोनों विरुद्ध स्वभाववाले हैं। एक तम तो दूसरा प्रकाश, एक विषय तो दूसरा विषयी, एक अनित्य तो दूसरा नित्य। इनका सम्बन्ध कैसा? एकका दूसरेमें अध्यास होना भ्रममात्र है।* देहके धर्म मानापमान आदिका सुख-दुःख जीवको होता है। जीवके धर्म हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान आदिका आश्रय बुद्धि अहंकार आदि भासते हैं। यह भ्रममात्र है। पर छूटना कठिन है; यथा—*'भ्रम न सकइ कोउ टारि', 'कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे।'*

प० प० प्र०—इसके दोनों चरण १५-१५ मात्राओंके हैं। इस न्यूनतासे आश्चर्यका भाव प्रकट किया है, कि मिथ्या वस्तुसे भी सुख-दुःखादिका अनुभव और जन्म-मरणादि हैं, यह माया की प्रबलता है।

तब ते जीव भएउ संसारी। छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी॥५॥

अर्थ—(जबसे जड़ माया और चेतन जीवका गठबन्धन हुआ) तबसे जीव संसारी हो गया। न गाँठ छूटे न वह सुखी हो॥ ५॥

नोट—१ *'तब ते जीव भएउ संसारी।'* संसारी=संसारके विषयोंमें लिप्त, भवमें पड़नेवाला। हरिसे पृथक्

* पाठक देखेंगे कि पं० श्रीकान्तशरणने मा० पी० में से (रेखांकित अंशको छोड़कर) पं० वि० त्रि० के लेखको कैसे चुराया है। इसी तरह प्र० सं० के सारे मा० पी० की चोरी की थी।

होनेपर जीव संज्ञा हुई। मायामें पड़ जानेसे स्वस्वरूप भूलकर विषयासक्त हो जानेसे संसारी होना कहा। कबसे जीव हुआ पता नहीं, अत: ग्रन्थि अनादि है यथा—*'जिव जबते हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो॥ मायाबस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो॥'* (वि० १३६) *'नाचत ही निसिदिवस मर्‍यो। तब ही ते न भयउ हरि थिर जब ते जिव नाम धर्‍यो॥'* (वि० १९१)

२—*'तब ते'*—इससे जनाया कि कालका कोई नियम नहीं है, अनादि कालसे संसारचक्र ऐसा ही चला आता है। जीव और मायाका सम्बन्ध भी अनादि कालसे है। केवल समझानेके लिये *'तब ते'* कहते हैं। यथा—*'बिधि प्रपंच अस अबल अनादी।'* (वि० त्रि०)

मा० म०—*'तब ते जीव भएउ'* से जनाया कि पहले भी जब यह शुद्ध ब्रह्मके देशमें था तब भी यह जीव ही था परन्तु जबसे ग्रन्थि पड़ी, मायाका संसर्ग हुआ तबसे यह संसारी हो गया, पहले संसारी न था।

स्वामी श्रीभोलेबाबाजी ('भवतरणोपाय' शीर्षक लेख कल्याण भाग ५ पृष्ठ ५३३ में) लिखते हैं कि—लोकोंकी उत्पत्तिका आदि हेतु प्रकृति है, उस प्रकृतिको कारण कहते हैं। कारणरूप प्रकृतिके सङ्गसे आत्मा-ब्रह्मकी आत्मदृष्टि भूलकर जीव हो गया। जब जीव आशामें बद्ध हुआ, तब बुद्धि हुई, जब असत् बुद्धि हुई, तब जीव असत् वासनामें बँध गया। जब जीव असत् वासनामें बँधा तब अहंकार हुआ, अहंकार होनेसे जीवमें विषमता आयी। सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे अहंकार तीन प्रकारका है। सात्त्विक अहंकारसे दस इन्द्रियाँ और मन हुआ, राजससे इन्द्रियके देवता और तामससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सूक्ष्मभूत हुए। सूक्ष्मभूतोंसे क्रमसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पाँच स्थूलभूत हुए। इस प्रकार स्थूल शरीर हुआ। विषय-संगसे काम हुआ, कामनाका नाश होनेसे क्रोध और क्रोधसे मोह हुआ, मोहान्ध होनेसे बुद्धि नष्ट हुई, तब जीव विषयी हो गया।

वै०—*'जीव भएउ संसारी।'* जीव संसारी जीव हो गया। भाव कि जीव अर्थपञ्चकमें ५ प्रकारके कहे गये हैं—१ 'नित्य' जो सदा भगवत्समीपी हैं, सहज ही अपना रूप सँभारे रहते हैं, माया छू नहीं जाती। २ 'मुक्त' जैसे भगवत्पार्षद। ३ 'कैवल्य' जो प्राकृतदेहधारी भगवत्में ही लगे रहते हैं। ४ 'मुमुक्षु'। ५ बद्ध।—बद्ध जीव संसार-व्यापारमें लगा रहनेसे संसारी होकर दु:ख भोगता है।

वि० त्रि०-१ 'तब ते' अर्थात् कालका कोई नियम नहीं है, अनादि अन्धपरम्परासे। अनादिकालसे संसार ऐसा ही चला आता है। इसीको अविद्या-निशा कहते हैं। इसीसे स्वरूपाज्ञान अर्थात् सुषुप्ति होती है। इस अवस्थाके विभु ईश्वर हैं। अपरिच्छिन्न तथा असङ्ग होनेसे विभुमें अहङ्कारकी गाँठ नहीं होती, परिच्छिन्न और सङ्गी होनेसे जीवमें अहङ्कारकी गाँठ है। इसी गाँठमें आवरण और विक्षेपरूपी निद्रा है। इसी निद्रामें पड़ा हुआ जीव अनेक प्रकारके स्वप्न देखा करता है। यथा—*'मोह निसा सब सोवनिहारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा॥'*, *'आकर चारि लाख चौरासी। योनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥'* *'फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥'*

इसी सुषुप्तिसे भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है। कारण देह प्राप्त ईश्वरांशके भोगके लिये ईश्वरेच्छासे तप:-प्रधान प्रकृतिमें आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी-तत्त्व उत्पन्न हुए, जिनके सत्वांशसे क्रमश: पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और मिलकर अन्त:करण तथा रजांशसे क्रमश: पञ्चकर्मेन्द्रियाँ और मिलकर प्राण उत्पन्न हुए, यथा—*'गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कर नाथ सहज जड़ करनी॥ तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए॥ बिषय करन सुर जीव समेता॥'*

इन पाँचोंसे जो शरीर बना वही लिङ्गदेह है। यहाँसे संसार अंकुरित हो गया, जो कि स्थूलावस्थामें पल्लवित और पुष्पित होगा। इन लिङ्गदेहाभिमानीका नाम तैजस है और इसके विभु हिरण्यगर्भ हैं। इस तैजसके भोगके लिये भगवान्‌ने पञ्चतत्त्वोंका पञ्चीकरण करके स्थूल शरीर तथा इस ब्रह्माण्ड-भुवनकी रचना की, यथा—*'जड़ पंच मिलै जिन देह करी करनी बहुधा धरनीधर की।'* (क)।

सोलह आनेमेंसे आठ आनेतक तत्त्वविशेषको लेकर उसमें दो-दो आने शेष चार तत्त्वोंको मिलाकर

उस तत्त्वविशेषको स्थूल रूप दिया। यही पञ्चीकरण है। जब तैजस स्थूल देहका अभिमानी होता है तब उसे विश्व कहते हैं। इसकी जाग्रत् अवस्था और विराट् विभु हैं। यथा—*'जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन्ह सहित बिराजहीं।'* प्रतिबिम्ब चाहे किसी अवस्थाको पहुँचे पर बिम्बसे उसका साथ नहीं छूटता, यथा—*'ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती।'* अवस्था भेदके सम्बन्धसे बिम्बमें भी भेदकी कल्पना होती है। सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्के भेदसे जीव क्रमसे प्राज्ञ, तैजस और विश्व हुआ। उसी भाँति तुरीय ब्रह्म भी ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् कहलाये। ऐसा संसारका रूप अनादि कालसे चला आता है, केवल समझानेके लिये 'तब ते' कहते हैं। यथा—*'बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।'*

२—*'जीव भएउ संसारी।'*—जीव अपने सहज स्वभाव सच्चिदानन्दरूपको छोड़कर ईश्वरांशके ऐश्वर्यको खोकर संसारी हुआ, देहवाला हुआ। अब (१) लिङ्गदेह (२) लिङ्गदेहमें स्थित चिच्छाया और (३) अधिष्ठान चैतन्य, तीनों मिलकर जीव कहलाये। इस प्रकार तीन प्रकारके जीव हुए। (१) पारमार्थिक (२) प्रातिभासिक और (३) व्यावहारिक। पारमार्थिक जीव कूटस्थ है और प्रातिभासिक जीव लिङ्गदेहवाला है। इसी तीसरेको संसारी कहा। इसीका लोक-परलोकमें आना-जाना लगा रहता है। स्थूल-शरीर छूटता रहता है, पर यह लिङ्ग शरीर नहीं छूटता। यथा—*'कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं॥'*

'ग्रन्थि न छूट न होइ सुखारी।' न जड़-चेतनवाली अज्ञानकी गाँठ छूटती है और न जीव सुखी होता है। अज्ञानवाली गाँठ छूटे बिना सहज-स्वरूपकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। किसी प्रकार जड़-चेतनकी गाँठ छूटनी चाहिये। यथा—*'तुलसिदास 'मैं' 'मोर' गए बिनु जिव सुख कबहुँ न पावै।'* (वि० १२०) तीनों चौपाइयोंमें सर्वप्रथम साधन मुमुक्षुत्वका वर्णन किया।

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥६॥

अर्थ—श्रुतियों और पुराणोंने बहुत-से उपाय कहे हैं पर वह ग्रन्थि छूटती नहीं वरन् अधिकाधिक उलझती जाती है॥ ६॥

नोट—१ *'श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई।……।'* बहु उपाय कहे, इससे जनाया कि वे इसकी कठिनता जानते हैं और यह जानते हैं कि इसका छुटाना जरूरी है; अतः उपाय-पर-उपाय कहे। उपाय जैसे कि दान, यज्ञ, तप, व्रत इत्यादि। इनसे इहलोक और परलोकके विषयभोगकी वासना अधिक-से-अधिक होती जाती है। यथा—*'करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥'* (वि० १२८) *'तप तीरथ उपवास दान मख जो जेहि रुचै करो सो। पायेहि पै जानिबो करमफलु भरि भरि बेद परो सो॥ आगम बिधि जप जोग करत नर सरत न काज खरो सो।'* (वि० १७३)

२—*'छूट न……'* इति। उपाय होते हुए भी न छूटनेका कारण आगे कहते हैं कि *'जीव हृदय तम मोह बिसेषी।'* मोहके कारण वह ग्रन्थि सूझ नहीं पड़ती, अँधेरेमें छुड़ानेका प्रयत्न करनेसे गाँठ और उलझ जाती है इससे जनाया कि मोहान्धकार दूर करके उपाय करे तो सफलताकी आशा है। कर्म कामनायुक्त होते हैं उनमें अहंता और फलेच्छा बढ़ती जाती है कि हमने यह किया, हमें उससे यह फल मिलेगा, इत्यादि। इसीसे उलझाव होता जाता है *'छूटै मल कि मलहि के धोए।'* (४९। ५) में देखिये।

यह मोहान्धकार तभी छूट सकता है जब श्रीरामजीका अनन्य भक्त हो जाता है। *'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'* (कि० ३) *'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।', 'सातवँ सम मोहि मय जग देखा॥'* (४। ३६। ३) 'जगत् सर्वं शरीरं ते' इति श्रुतिः। जब यह भाव हो जायगा, तब रागद्वेषादि, अहंकार आदि कुछ भी रह ही नहीं सकते, तब तो **'सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः।'**

मा० म०—*'श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई।—'* का सन्दर्भ यह है कि योग, यज्ञ, व्रत इत्यादि जो श्रुति उपदेश करती है उसके करनेसे उसका शुभाशुभ फल जीवको भोगना पड़ता है इन कर्मोंके अनुसार अनेकों बार जन्म-मरण भोगना पड़ता है—यह अधिक-अधिक उलझना है।

रा० प्र०—उपनिषद्‌का ज्ञान थोड़ा होनेसे जैसा चाहिये वैसा अनुष्ठान नहीं बनता, ज्ञान हुआ थोड़ा, अहंकार हुआ अधिक। अतः पद पाकर भी गिरते हैं फिर मायाजालमें उलझते हैं। इसी तरह योगादिकमें सिद्धि पाकर उसीमें भूल जाते हैं और उस पदसे विमुख रह जाते हैं।

करु०, मा० म०, वि० टी०—*'छूट न अधिक अधिक अरुझाई।'* भाव यह है कि कहे हुए उपाय अनधिकारी होनेके कारण बहुत कम लोग समझते हैं, जो समझते हैं उनमेंसे कम लोग इन उपायोंको करते हैं और जो करते भी हैं उन्हें अनेक विघ्नोंके कारण सिद्धि प्राप्त नहीं होती, इसीसे वे हताश होकर फिर उपाय नहीं करते।

मा० शं०—जब छूटती ही नहीं तब उपायसे लाभ ही क्या? भाव यह है कि इनने अनेक उपाय कहे हैं पर उपाय करो ही नहीं तब छूटे कैसे? अथवा, ये सब उपाय उलझनेके ही हैं; जैसे तीर्थाटन और दीर्घसूत्री हैं इसीसे निष्फल होता है। विशेष भाव यह है कि २४ तत्त्वका नवाक्षयुक्त शरीर है, उसके भीतर १२ अंगुलका सूक्ष्मशरीर है, इसके भीतर ९ तत्त्वोंका कारणशरीर है और आत्ममार्ग मुखका द्वार है जिसमें स्वरूपविस्मरणरूपी किवाड़ें बंद हैं, उसके भीतर जीव मोहतमसे ढका हुआ है। उसके अन्तरग्रन्थि लगी है। वह उसे बिना देखे अपनी बुद्धिसे खोलना चाहता है। तब श्रुतिपुराण सुलझाना चाहते हैं पर वह अधिक उलझता है क्योंकि श्रुतिपुराण भी तो बाहर ही हैं, देखते तो ये भी नहीं।

करु०, शेषदत्तजी—श्रुति यज्ञ-तीर्थाटनादि कर्मकाण्ड उपाय बताती है। यज्ञोंसे स्वर्ग, इन्द्रपद इत्यादि मिलता है; इसीसे अधिक उलझना कहा। [और ज्ञानको वेदपुराण निरुपाय कहते हैं—(करु०)]

पा०—इन चौपाइयोंका भाव यह है कि जैसे बंदर और तोता चेतन होकर जड़ वस्तु पिंजड़े और रस्सीमें फँसकर नहीं निकल सकते ऐसे ही जीव मायामें ग्रस्त होकर नहीं छूटता। वेदने अनेक उपाय कहे हैं पर वह अपनी करनीसे अधिक लपट जाता है।

वै०—उपाय करनेपर भी नहीं छूटती क्योंकि कर्म ज्ञान-साधनादि ज्यों-ज्यों करता है त्यों-त्यों तेजप्रताप शक्ति ऐश्वर्य बढ़ते हैं जिससे मानमदादि और भी प्रचण्ड पड़ते जाते हैं। सत्कर्म सवासिक करते हैं और अशुभ स्वभावसे ही होता जाता है। लोकव्यवहारकी सत्यताकी प्रतीति अधिक बढ़ती है।

वि० त्रि०—१ *'श्रुति पुरान।'* वेदपुराणसे बढ़कर कोई प्रमाण नहीं, यथा—*'मारुत श्वास निगम निज बानी।'* तथापि वे भी जड़चेतनके अध्यासपूर्वक ही प्रवृत्त होते हैं, अतएव अविद्यावाले ही हैं, पर ग्रन्थिभेदका उपाय बतलानेमें भी यही समर्थ हैं—*'तस पूजा चाहिय जस देवता।'*

२ (क)—*'अधिक अधिक अरुझाई।'*—अनेक साधन जो बतलाये गये हैं, वे सब जीवके कल्याणके लिये ही हैं। अधिक-अधिक उलझनेका कारण यह कि—*'अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥'*—का कर्मकाण्डमें उपयोग नहीं है। और बाह्यधर्म, देहधर्म, इन्द्रियधर्म और अन्तःकरणधर्म-सम्बन्धी विधिनिषेध कहकर ही कर्मकथाका उपदेश है।

बाह्यधर्म, यथा—*'पूजी ग्रामदेबि सुरनागा। कह्यो बहोरि देन बलिभागा॥'*

देहधर्म, यथा—*'करहु जाइ तप सैलकुमारी।'*

इन्द्रियधर्म,—*'काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि नत चलिय पराई॥'*

अन्तःकरणधर्म,—*'मनहु न आनिय अमरपति रघुपतिभगत अकाज।'*

इन विधियोंके पालनमें धर्म है, स्वर्ग है, पर कर्मसन्तति बढ़ती ही जाती है। बिना अध्यासकी दृढ़ता बढ़ाये कोई धर्म नहीं हो सकता। अतः बाह्यपदार्थ, देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें अध्यासोंकी उलझन बढ़ती ही जाती है। (ख)—*'छूट न'।* कारण कि साधन-चतुष्टय-बिना तत्त्व-विवेकका अधिकार नहीं होता। अतः जिसने साधन नहीं किया उसे शास्त्रके पाण्डित्यसे भी ज्ञान नहीं होता। यथा—*'वाक्यज्ञान अत्यंत निपुन भवपार न पावै कोई। निसि घन माँझ दीपके बातन्ह तम निवृत्त नहिं होई॥'* (वि०)।

नित्यानित्य-वस्तु विवेक, इहलोक और परलोकके विषयभोगसे विराग, षट्-साधन-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व

ये चार साधन हैं और शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये षट्सम्पत्तियाँ हैं, इस प्रकार साधन-चतुष्टय-सम्पन्न अधिकारी जब गुरु-वेदान्त-वाक्य-जन्य ज्ञानसे ग्रन्थिभेद करना चाहे तभी सम्भव है। नहीं तो—*'सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव बिपति सतावै॥'* केवल शास्त्रचर्चा वा अनधिकार-चर्चासे गाँठ नहीं छूटती।

सि० ति०—ज्ञानमें अहङ्कार आदि दोष और उपासनामें दम्भ, लोभ आदि आ जाते हैं। यथा—*'करम कलाप परिताप पाप साने सब ज्यों सुफूल फूलै तरु फोकट फरनि। दंभ लोभ लालच उपासना बिनास नीके सुगति साधन भई उदर भरनि। योग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान बचन बिसेष कहूँ न करनि॥'* (वि० १८४)

भाव यह कि पहले मोहान्धकार दूर करके उपाय किया जाय तो सफलताकी आशा हो। देहाभिमानका निवृत्ति तभी होती है जब यह अपनेको एवं सब जगत्‌को भगवान्‌का शरीर जानता है, तब शरीरी होनेसे इसके सब उपायोंके कर्ता भगवान् ही रहेंगे। इसीके लिये भगवान्‌ने जहाँ-तहाँ विराट्‌रूप दिखाकर अपनेको जगत्‌भरका शरीरी दिखाया है। और उसकी दुर्लभतापर कहा भी है—**'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥'**(गीता ११। ५३)

भगवान्‌को अपना और जगत्‌का शरीरी जानकर उपासना करना उक्त ग्रंथि छूटनेका एक उपाय है। दूसरा कैवल्य ज्ञान साधन है जिसे आगे *'अस संजोग—'* से कहेंगे। इन्हीं दोनों उपायोंको गीता अ० १२ में **'एवं सततयुक्ता ये—'** इस श्लोकमें कहकर फिर इनका तारतम्य भी कहा है। वहाँ भगवान्‌ने कैवल्य साधनरूप अक्षरोपासनाको अत्यन्त कठिन और भगवदुपासनाको सुलभ एवं शीघ्रफलप्रद कहा है। वैसा ही प्रसंग यहाँ भी है। पहले कैवल्यसाधनकी कठिनता कहकर भक्ति चिन्तामणिकी महिमामें उसका सौलभ्य और शीघ्र फलप्रदत्व कहा है।

जीव हृदय तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परै न देखी॥७॥

अर्थ—जीवके हृदयमें मोहरूपी अंधकार बहुत है, गाँठ देख नहीं पड़ती तब छूटे कैसे?॥ ७॥

खर्रा—१ *'तम मोह बिसेषी'*, मोहरूपी तम विशेष है। यहाँ मोह भगवत्-स्वरूपके यथार्थ ज्ञानका अभाव है, वह तमरूप है—*'परै न देखी'*, यहाँ जानना देख पड़ना है।

पं०—भाव कि आत्मा-अनात्माका ज्ञान नहीं तब गाँठ कैसे सुलझे? यदि कहो कि जब गाँठ उपायोंसे खुलती नहीं तब तो वेदादिके वाक्य व्यर्थ ही हुए, उसपर आगे कहते हैं कि *'अस संजोग।'*

पं० रा० व० श०—ममतारूपी ग्रन्थि इतनी सूक्ष्म है कि समझानेसे भी किसीको नहीं सूझता कि हम जिनको अपना समझते हैं वे हमारे नहीं हैं। जब यह उसे सूझता ही नहीं तो छोड़ कैसे सके? ममताको तागा कहा भी है यथा—*'सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥'* (५। ४८। ५)

शेषदत्तजी—*'मोह बिसेषी—परै न देखी'* का भाव कि मोह ससमाज उपस्थित है। न सूझना छः कारणसे है—स्वस्वरूप भूला है, हृदय ज्ञानशून्य है, मोह-क्रोधादि समाजसहित आच्छादित किये हैं, ज्ञान-वैराग्य नेत्ररहित हैं, सुकृतिशून्य है और विमुखताका फल भोगना है।

वि० त्रि०—१ (क) *'जीव हृदय।'* यहाँ हृदय कहनेसे स्थूलदेहकी प्राप्ति दिखलायी। जीवके स्थूलदेहमें हृदय ही राजप्रासाद है, यथा—*'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी।'* (ख) *'तम मोह बिसेषी।'* मोह अविवेकको कहते हैं, उसीको अन्धकार कहा गया है। इसीके कारण अध्यास होता है और यही अध्यासको बढ़ाता है। यथा—*'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* अविद्या-रात्रिमें मोह-तमकी प्रबलता होती है। जीव-हृदयपर अविद्याका अधिकार है, क्योंकि वहीं जड़-चेतन ग्रन्थि पड़ी हुई है। अन्धकार तो संसारी होनेके पहले ग्रंथिमात्रसे ही था, परन्तु अब संसारी होनेसे अधिक हो गया, यथा—*'मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥'* इत्यादि। (ग) *'ग्रन्थि छूटि किमि'* इति। बिना देखे ही टटोलकर ममताके सूत्रोंको इधर-उधर खींचनेसे बन्धन ही दृढ़ होता है। *'परै न देखी'* और बिना प्रकाशमें देखे कि गाँठ कहाँ और कैसी है छूटना असम्भव है, अतएव दीपक जलाना चाहिये।

अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥ ८॥

अर्थ—जब ईश्वर ऐसा संयोग कर दें (जैसा आगे कहते हैं) तब भी कदाचित् ही वह (चित्-अचित्की गाँठ) छूट जाय तो छूट जाय। छूटनेमें सन्देह है॥ ८॥

पं० रा० व० श०—*'अस संजोग ईस जब करई।'* ईश्वरने ही कृपा करके मोक्ष साधनका यह दुर्लभ साजरूपी शरीर दिया, यथा—*'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'* वैसे वे ही कृपा करके यह संयोग भी कर देते हैं। अतः *'ईस जब करई'* कहा। यह संयोग कृपासाध्य जनाया, क्रियासाध्य नहीं।

मा० म०—*'अस संजोग ईस जब करई'* इति। यहाँ ईश ब्रह्माको कहा जिसने परतम श्रीरामचन्द्रसे जीवको विमुख किया, वह ऐसा संयोग नहीं करता, यदि करे भी तो ऐसा संयोग होना कठिन है इसीसे कहा कि *'तबहुँ कदाचित सो निरुअरई।'*

वि० त्रि०—संयोग ब्रह्माके हाथकी बात है, मनुष्यके सामर्थ्यसे सर्वथा परे है। यथा—*'जौ बिधि बस अस बनै संजोगू।'* *'अस संजोग'*—ऐसा कहनेका भाव यह है कि संयोगोंका सिलसिला बँध जाय। अर्थात् सात्त्विक श्रद्धारूपी गौ भी मिल जाय, शुभ धर्मरूपी चारा भी मिले, इत्यादि यथेप्सित मिलते ही चले जायँ।

पं०—भाव कि शास्त्रोंकी प्रवृत्ति व्यर्थ नहीं है परन्तु जब ईशकी कृपा हो तब बने।

शेषदत्तजी—रामकृपा होनेपर भी कदाचित् सुलझना, यह कैसे? उत्तर यह है कि 'राघवकी सहज कृपा तो समस्त जीवोंपर सनातनसे है पर जीव ही अपनी कृतघ्नतासे इतः-ततः गोते ही खाता है। जिससे बिना ही साधन परम कल्याण होता है वह तो नित्यानुरागियोंपर ही राघवीकृपासे बनती है।'

पाँ०—कदाचित् ईश्वर भी छुड़ानेपर सानुकूल हों तो भी अपनी करनीके कारण छूटे वा न छूटे।

वि० त्रि०—१ *'ईस जब करई।'* भाव कि ऐसा संयोग विधि भी नहीं कर सकते, वे तो स्वप्नके विभु हैं, कारणपर उनका अधिकार नहीं है, कर्म शुभाशुभ दिया करते हैं, यथा—*'कर्म सुभासुभ देइ बिधाता।'* और ईश्वर सुषुप्तिके विभु हैं। कारणपर भी उनका अधिकार है, कर्मकी अपेक्षा न करके भी संयोग कर सकते हैं। अथवा, जीव जिनका अंश है, वही चाहें तो ऐसा संयोग भी कर दें।

२—*'तबहुँ कदाचित।'* कार्यसिद्धिमें सन्देह है क्योंकि साधन कठिन है और संसारी जीव रोगी हैं। रोगीको क्या सामर्थ्य कि कठिन साधनका सामना कर सके। यथा—*'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥* १२१। २९।""""*एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हर्ष भय प्रीति बियोगी॥'* (१२२। १) *'एक ब्याधिबस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि। पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि॥'* (१२१) और दूसरी बात यह है कि 'अकृतोपास्ति-ज्ञान' जिसमें भक्तिकी सहायता नहीं है ऐसा ज्ञान सिद्ध नहीं होता, यथा—*'जे ग्यान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।—'* [ईशके किये ही संयोग हो सकता है, क्योंकि आगे सात्त्विक श्रद्धाका निरन्तर वास कहते हैं जो बिना कृपाके हो नहीं सकता, यथा—*'नित जुग धर्म होहिं सब केरे।', 'काल धर्म नहिं ब्यापहिं तेही। राम कृपा करि चितवहिं जेही॥'* (रा० शं० श०)] ३—'सो'—वह चित् (अस्ति, भाति, प्रिय) और जड़-(नाम-रूप-) की गाँठ। अस्ति (सत्) भाति (चित्) और प्रिय (आनन्द) ये तीन अंश ब्रह्मके और नाम तथा रूप दो अंश मायाके, इन्हीं पाँचोंने उलझनकर प्रपञ्चकी गाँठ बना रखी है, और इन्हींके उलझन-पर-उलझन पड़नेसे संसार बना हुआ है, सो सुलझ जाय। अर्थात् तीन अंश ब्रह्मके पृथक् और (नाम-रूप) दो अंश मायाके पृथक् हो जायँ। गाँठके अँधेरेमें होनेके कारण प्रकाशके लिये दीपकका संकल्प हुआ। दीपकके साधनमें, ठहरनेमें ऐसा विघ्न-बाहुल्य है कि—संयोग अनुकूल होनेपर भी कहना पड़ा कि कदाचित् ही वह सुलझ सके, यथा—*'माधव मोह-पास क्यों टूटै। बाहिर कोटि उपाय करिय अभिअंतर ग्रन्थि न छूटै॥ घृत पूरन कराह अंतरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै। ईंधन अनल लगाइ कल्पसत औटै नास न पावै॥ तरुकोटर महँ बस बिहग तरु काटे मरै न जैसे। साधन करिअ बिचार हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे॥ अंतर मलिन बिषय मन अति तनु पावन 'करी हमारे'। मरइ न उरग अनेक जतन बलमीक बिबिध बिधि मारे॥ तुलसिदास हरि-गुरु-करुना बिनु बिमल बिबेक न होई। बिनु बिबेक संसार-घोर-निधि पार न पावै कोई॥'* (वि० ११५)

☞ त्रिपाठीजी पूरे ज्ञानदीपक प्रसंगका खुलासा यहाँ करते हैं। इसके धारण कर लेनेसे आगे समझनेमें सुगमता होगी। वह ईशका किया हुआ संयोग इस प्रकार हो कि—सात्त्विकी श्रद्धा हरिकी कृपासे हृदयमें बसे, और उस श्रद्धाद्वारा खूब धर्माचरण हो, जिसमें श्रद्धा परिपुष्ट होती जाय और धर्मके साथसे रज और तमके अभिभूत होनेसे सात्त्विक भाव उत्पन्न हो। तब श्रद्धा द्रवीभूत होती है, धर्माचरणका सात्त्विक परिणाम अहिंसा-दया-भावमें प्रकट होता है तब वशीभूत निर्मल मनको श्रद्धाके चरणोंमें लगा दे और दृढ़ विश्वास करके अहिंसामें प्रतिष्ठित हो जाय, प्राणिमात्रको अभयदान दे। धर्म-व्रतधारीके हृदयमें (जबतक) दयाका प्रादुर्भाव नहीं होता, तबतक समझना चाहिये कि परम धर्मका उदय नहीं हुआ। अहिंसामें प्रतिष्ठित होनेपर निष्कामतासे अहिंसागत कामनाके अंशको दूर करे। कामनाके अंशको दूर करनेसे जो ताप होता है उसे क्षमाद्वारा तोषसे दूर करे। जब शीतल निष्काम दयाभाव हो जाय तो उसे धृतिसे ठोस करे; तब उस शीतल ठोस निष्काम दयाभावका दमपूर्वक गुरु-शास्त्रोपदेशानुसार विचारसे मन्थन करे। (दमपूर्वक इसलिये कहा कि हृदय-दौर्बल्यको स्थान न मिले, जैसे कामपीड़ित व्यक्तिकी तृप्ति आदि शास्त्रविरुद्ध विषयका दयामें समावेश न हो), विचार करे कि संसार दुःखमय है। हम जीव इसमें पड़े हुए क्लेश उठा रहे हैं, इस दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति कैसे हो, इत्यादि। इन विचारोंसे साधक जिस निश्चयपर पहुँचेगा, वही वैराग्य है। उस निश्चयका यह रूप होगा कि 'ये विषय अनित्य हैं, दुःखकी योनि हैं चाहे ये इस लोकके हों, चाहे परलोकके।' और फिर उनसे आप-से-आप जी हटेगा। जब चित्तमें विराग आ जायगा तब वह विषयोंको छोड़ सकेगा और तब उसे योगका अधिकार होगा।

चित्तवृत्तिका निरोध योग है। वैराग्यसे चित्तवृत्ति-निरोधकी योग्यता प्राप्त होती है, परंतु शुभाशुभ कर्मसे सम्बन्ध त्याग किये बिना निरोध नहीं हो सकता। बुद्धिद्वारा शुभाशुभ कर्मसम्बन्ध त्यागते ही चित्त निरुद्ध होता है। ममता नष्ट होती है, तब सत् वस्तुमें चित्त एकाग्र होता है। 'तत्' पदका ज्ञान अर्थात् परोक्षज्ञान होता है। तब विज्ञानरूपिणी (उपनिषत्-जन्य) बुद्धि उस अपरोक्ष ज्ञानको चित्तमें जमाकर समतामें स्थापन करती है। अब 'त्वम्' पदार्थका शोधना शेष है। अतः इस प्रकारका परोक्षज्ञानी ध्यानमें स्थित होकर अपनेको स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरोंमें पृथक् भावना करके, अर्थात् 'त्वम्' पदार्थका शोधन करके तुरीयावस्थाको प्राप्त होता है। फिर तुरीयावस्थाके संस्कारोंको एकीभूत करके परोक्ष-ज्ञानमें मिला देता है। 'यह असि' पद है। और तब शब्दानुविद्ध समाधिमें स्थित होनेसे आत्मानुभव प्रकाश उत्पन्न होता है, और वह 'सोऽहमस्मि' वृत्तिवाला अपरोक्ष होता है। यह मोहान्धकार मिटा देता है। परंतु अभी चित्-जड़ग्रन्थि बनी हुई है। विज्ञानरूपिणी बुद्धि इस प्रकार ग्रन्थिभेदन कर सकती है। यदि ग्रन्थिभेदन हो गया तो अध्यास सदाके लिये मिट गया और सहजस्वरूप कैवल्यकी प्राप्ति हुई है। यही परमपद है। इसी बातको दीपकके रूपकमें सुलभताके लिये विशदरूपमें किया जायगा।'

सात्त्विक श्रद्धा धेनु* सुहाई। जौं हरिकृपा हृदय बस आई॥ ९॥

अर्थ—यदि भगवान्‌की कृपासे सात्त्विकी श्रद्धारूपी सुन्दर गऊ हृदय-(रूपी घर-) में आकर बसे॥ ९॥

नोट—१ (क) ज्ञानको दीपक कहा है। दीपकमें घी प्रथम ही चाहिये। घीके लिये गौका दूध चाहिये। अतः सबसे प्रथम दुधार गौको कहा। जैसे गौ वहाँ प्रथम जरूरी वैसे ही सब धर्मोंके आदिमें 'श्रद्धा' आवश्यक है। बिना श्रद्धाके कुछ हो ही नहीं सकता—*'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।'* (९०। ४) अतः श्रद्धासे रूपक उठाया। (ख) यहाँसे साङ्गरूपक बाँधा गया है। (ग) प्रत्येक कर्म तीन प्रकारके कहे गये हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। वैसे ही श्रद्धा भी तीन प्रकारकी है। ज्ञानदीपकके लिये सात्त्विक श्रद्धाहीका प्रयोजन है, अन्यका नहीं।

---

* 'लवाई' पाठ का० में है भा० दा०, छ०, रा० गु० द्वि० जीने 'सुहाई' पाठ दिया है। 'लवाई' नवीन ब्यायी हुई गौको कहते हैं। पर ऐसी गौका घी निषिद्ध माना जाता है। दूसरे 'धेनु' में ही 'लवाई' का भाव आ जाता है और लवाईका दोष 'सुहाई' से मिट जाता है। दोहा ६ (९) देखिये।

रा० प्र०—धेनु—दुधार गौ। लवाई अर्थात् सवत्सा, वात्सल्ययुत।

२—*'धेनु सुहाई'* इति। (क) *'सुहाई'* से सवत्सा गौ जनाया, क्योंकि जिस गौका बच्चा मर गया हो उसके दूधका निषेध किया गया है, वत्सहीन गऊ, *'सुहाई'* नहीं है। सवत्सा गौ *'सुहाई'* है, अत: उसे सात्त्विक श्रद्धा कहकर जनाया कि राजसी एवं तामसी श्रद्धा असुहाई वत्सरहित गौ है। पुन:, (ख) *'धेनु'* शब्दका अर्थ है नयी ब्याई हुई गौ। पर नवीन तुरंतकी ब्यायी हुई गौका दूध भी निषिद्ध माना गया है, अत: *'धेनु'* कहकर *'सुहाई'* विशेषण दिया। भाव कि थोड़े दिनकी, एक मासकी, ब्यायी हुई हो गयी हो जबसे उसका दूध शुद्ध और शुभकर्मोंके योग्य समझा जाता है। पुन:, (ग) जो गौ सवत्सा वा अवत्सा है और दूध नहीं दे सकती, वह भी *'सुहाई'* नहीं है, क्योंकि यहाँ तो दुधार गौसे ही प्रयोजन है जिससे दूध और घीकी प्राप्ति हो सके। (घ) जैसे श्रद्धा सात्त्विक, तामसी और राजसी वैसे ही यहाँ धेनु सुहाई (सवत्सा, दुधार और एक मासकी ब्यायी हुई) और 'असुहाई'। असुहाई दो प्रकारकी है। एक तो सवत्सा पर दूधरहित अथवा तुरंतकी या बहुत दिनोंकी ब्यायी हुई; दूसरी अवत्सा दुधार वा दूधरहित। जैसे अँगरेजी डेयरी फार्ममें गौके ब्याते ही बच्चेको मार डालते हैं और यन्त्रसे गौका दूध निकाला करते है। वह दूध निषिद्ध है। ३—हरिकृपासे बसनेका भाव कि भगवान् जीवका क्लेश देखकर उसके दु:खके हरण करनेवाले हैं। सात्त्विक श्रद्धाका प्रयोजन है और सत्त्वगुणके अधिष्ठाता विष्णु हैं। भगवान्की कृपासे ही इस ओर रुचि होती है, यथा—*'अति हरि कृपा जासु परि होई। पाउँ देइ एहि मारग सोई॥'* अत: *'हरि कृपा'* से बसना कहा। *'बस आई'*—*'आई'* से जनाया कि वह है नहीं, भगवान् कृपा करें तभी वह आयेगी, अन्यथा नहीं। आवे और रहे नहीं तो भी काम न चलेगा। *'बस आई'* कहकर यहाँ गीताके **'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।'**(४। ३९) का भाव दरसाया है कि श्रद्धावान् होनेपर भी उसमें तत्पर होना भी आवश्यक है। मनको उसमें नियुक्त करे, अन्य विषयोंकी ओर इन्द्रियोंको न जाने दे, तब ज्ञानकी प्राप्ति हो सकेगी। *'बस आई'* से जनाया कि अचल होकर रहे। श्रद्धा फिर चली न जाय।

वि० त्रि०—*'हरिकृपा।'* हरि सत्त्वगुणके अधिष्ठाता हैं, अतएव सात्त्विकी श्रद्धाकी प्राप्तिके लिये हरिकी कृपाकी आवश्यकता है। हर तमोगुणके अधिष्ठाता हैं, सुषुप्तिके विभु हैं, उनकी कृपासे हरिकी कृपा होती है, सुषुप्तिकी कृपासे जागृति होती है और जागृति ही तुरीयाका द्वार है। जब शङ्कर कृपा करके तमको दबावेंगे तब सत्त्वका उदय होगा।

रा० प्र०—(क) **श्रद्धा**=वेद, ईश्वर और गुरुवाक्यादिमें सत्यप्रतीति। (ख) *'हरिकृपा।'* भाव कि और उपायसे दृढ़ भरोसा नहीं है कि आ बसे।

पं०—**'सात्त्विक श्रद्धा......।'** भाव कि चित्त-शोधनहेतु निष्काम कर्मोंमें प्रीति हो।

वै०—**'सात्त्विक श्रद्धा'**=शुद्ध सतोगुणी मानससहित सत्क्रिया करनेकी हर्षसहित इच्छा। जैसे गुरु-तीर्थ-व्रत-कथा-श्रवणादिमें अनुराग। यही ज्ञानका आदिकारण है।

वि० त्रि०—यहाँ सात्त्विकी श्रद्धाकी ही आवश्यकता है, क्योंकि यह पुरुष श्रद्धामय है जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसा ही वह है, अतएव सात्त्विकी श्रद्धावाला पुरुष भी सात्त्विक होगा। राजसिक, तामसिक श्रद्धा भी गौ हैं पर वे सोहाई नहीं हैं, दूध न देंगी। यथा—*'तामस धर्म करहिं नर जप तप मख ब्रत दान। देव न बरसहिं धरनि बए न जामहिं धान॥ बहुरज स्वल्प सत्व कछु तामस......।'*

'जौं हृदय बसि आई' कहा, क्योंकि जीवके हृदयमें अन्धकार भरा हुआ है। बछड़ेवाली गौ तमोमय अँधेरी जगहमें जाना नहीं चाहेगी। ☞(इस चौपाईमें श्रद्धा सम्पत्तिका वर्णन किया है। यह षट्-सम्पत्तियोंमेंसे पाँचवी है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, और समाधान—ये छ: कर्म षट्-सम्पत्ति कहे जाते हैं।)

करु०, मा० म०—ज्ञानकी सप्तभूमिका कहते हैं। प्रथम भूमिका यहाँसे (सात्त्विक श्रद्धासे) आरम्भ हुई। सात्त्विक श्रद्धाके आते ही रज और तमका नाश हो गया।

शेषदत्तजी—इस चौपाईमें धेनोर्हृष्टपुष्टि कही गयी, आगे धेनुका आहार कहते हैं।

जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥ १०॥

अर्थ—अगणित जप, तप, व्रत, यम और नियम आदि अनेक कल्याणकारक धर्म और सदाचार जो श्रुतियोंने (विधि) कहे हैं॥ १०॥

नोट—१ गौके लिये उत्तम चारा चाहिये जिससे उत्तम दूध हो। वह चारा यहाँ श्रद्धारूपिणी गौके प्रसंगमें क्या है, सो अब कहते हैं—*'जप तप……।'* फिर चारासे दूध तो हुआ पर बिना बछड़ेके वह पेन्हायेगी कैसे? अतः चारा कहकर आगे बछड़ा कहते हैं। वह बछड़ा क्या है सो भी कहते हैं—*'भाव बच्छ सिसु……'* २—*'जप तप ब्रत जम नियम……'* इनका वर्णन पूर्व आ चुका है और वि० त्रि० जीके लेखमें भी विस्तारसे है। जप यज्ञोंमें सर्वोत्कृष्ट यज्ञ है, अतः *'जप'* यज्ञको ही यहाँ कहा, जिन यज्ञोंमें हिंसा है, वे सात्त्विक नहीं हैं, अतः उनको नहीं कहते। अपाराका अन्वय *'जप तप ब्रत यम नियम शुभ धर्म अचार'* सबके साथ है। ये सभी अनेक प्रकारके कहे गये हैं। जप-तपादिको हरित तृण कहेंगे, तृण अगणित अतः इनको भी अपार कहा।

२—*'जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा'* इति। (क) 'जो वेदविहित हैं, जिनके करनेकी आज्ञा श्रुतियोंमें है, जिन्हें श्रुतियाँ कल्याणका मार्ग बताती हैं, यह जनानेके लिये 'शुभ' विशेषण दिया। 'शुभ' पदसे उन धर्मोंको पृथक् कर दिया जिनका श्रुतियोंने निषेध किया है और सम्पूर्ण विधि एवं सात्त्विक (राजसी और तामसी नहीं) कर्मकाण्डको इसमें कह दिया। अतः 'अपार' कहा। (ख)—*'धर्म अचारा'* अर्थात् 'धर्माचरण', वा, 'शुभ धर्म और सदाचार।' 'तामस धर्म'—दोहा १०१ में देखिये।

शेषदत्तजी—सात्त्विक तप वह है जिसके करनेमें मनका उत्साह रहे, क्लेश न जान पड़े, हिंसा और फलत्रयकी वासना न हो।

वि० त्रि० १—जप, तप, व्रत, शुभ धर्माचार ये सब उपरामताके अङ्ग हैं, यम-नियम दोनों समाधानके अङ्ग हैं।

२—यहाँ जपसे वाचा, तपसे मनसा और व्रतसे कर्मणा धर्माचरण बतलाया है, नहीं तो नियममें तीनोंका समावेश हो जानेसे पुनरुक्ति दोष आ जायगा और गोस्वामीजीने यही अर्थ लिया भी है।

३—*'अपारा'* का भाव कि इन दसों यम-नियमोंमेंसे एक-एक असाध्य है। इनका पार नहीं पाया जा सकता। यह रोगी जीव क्या पार पावेगा? *'जप तप……'* इस चौपाईमें उपरम कहा। (उपरम स्वधर्मानुष्ठानको कहते हैं, यह षट्सम्पत्तियोंमें तीसरा है।)

मा० म०—सात्त्विक श्रद्धा उत्पन्न होनेपर सात्त्विक मन, भाव, बुद्धि, चित्त और वचनसे सात्त्विक जप-तपादि करे। यदि इन जप-तपादिमें किंचित् भी रज वा तमका संचार हुआ तो सब तृण सूख जायगा; अर्थात् रजोतमोगुणोंके संसर्गसे जप-तपादि मुर्झा जायेंगे।

नोट—जप, यथा—*'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती॥'* तप, यथा—*'बिसरी देह तपहि मन लागा॥'* (१। ७४। ३) (इससे तितिक्षाका वर्णन किया है। शीतोष्ण सुख-दुःखादि सहनेको तितिक्षा कहते हैं, यह षट्सम्पत्तियोंमेंसे चौथी है)। व्रत, यथा—*'हरि तोषन ब्रत द्विज सेवकाई।'*

यम पाँच हैं—**'ब्रह्मचर्य्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहात्।'** **'अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः।'** (पातञ्जलयोगदर्शन २। ३०) (क) ब्रह्मचर्य स्मरणादि अष्टविध मैथुनके अभावको कहते हैं; यथा—*'ब्रह्मचर्ज ब्रत रत मतिधीरा। तुम्हहि कि करै मनोभव पीरा॥'* (१। १२९। २) अष्टविध मैथुन, यथा—**'स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥'**—स्त्रीके रूप, लावण्य, हाव-भाव आदिका स्मरण करना, दूसरेके प्रति कहना, स्त्रीके साथ क्रीड़ा करना, स्त्रीका दर्शन करना, एकान्तमें सम्भाषण करना, स्त्रीके सङ्गके लिये दृढ़ निश्चय करना, उसकी प्राप्तिके लिये उद्योग करना तथा अभीष्ट निश्चयकी पूर्त्ति करना, इन आठ प्रकारके आचरणोंसे बचनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं। (ख) अहिंसा—सदा सर्वथा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करनेको कहते हैं, यह सब यम-नियमोंकी जड़ है, यथा—*'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।'* (१२१। २२) *'धर्म कि दया सरिस हरिजाना।'* इसीकी सिद्धिके लिये शेष यम-नियमोंका उपयोग है। अहिंसाकी प्रतिष्ठा होनेसे उसके सन्निकट प्राणिमात्र वैर त्याग देते हैं, यथा—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'** (योगदर्शन २। ३५)

'रहहिं एक सँग गज पंचानन॥' (७। २३। १) *'बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥'* (२। १३८। १)(ग) सत्य—इन्द्रिय और मनके द्वारा जैसा निश्चय किया गया, वैसी ही वाणी और वैसे ही मनके होनेको सत्य कहते हैं। वह वाणी वञ्चिता, भ्रान्ता और प्रतिपत्तिवन्ध्या न होनी चाहिये।—[१ वञ्चनापूर्ण, जैसे अपने पुत्र अश्वत्थामाका मरण सुनकर द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरसे पूछा—हे आयुष्मन्! हे सत्यवादी! सचमुच अश्वत्थामा मारा गया? इसके उत्तरमें युधिष्ठिरका अश्वत्थामानामक हाथीको अभिलक्ष्यकर, 'हाँ, सच अश्वत्थामा मारा गया' ऐसा कथन वञ्चनापूर्ण है, यही वाणी वञ्चिता कही जाती है। वक्ताका अभिप्राय अन्य हो और श्रोता अन्य समझ जाय। युधिष्ठिरने छलसे काम लिया, इसलिये यह वाक्य सत्य नहीं है। २ भ्रान्तिप्रयुक्त यह है कि वक्ताको स्वयं भ्रम हो और वह दूसरेको समझाना चाहे। ३ प्रतिपत्तिवन्ध्या। अर्थात् अप्रसिद्ध पदोंके रहनेसे यथार्थ बोध करनेमें अक्षम। जैसे आर्य लोगोंके म्लेच्छभाषा बोध करानेमें असमर्थ हैं। (वि० त्रि०)]—प्राणियोंके उपकारके लिये होनी चाहिये, उपघातके लिये नहीं। यथा—*'कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।'* (२। १३०। ४) इससे क्रियाके फलको आश्रय मिलता है यथा—**'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।'** (योगदर्शन २। ३६) *'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए।'* (२। २८) (घ) अस्तेय—शास्त्रविधिके प्रतिकूल दूसरेके द्रव्यको लेना स्तेय कहते हैं और उस स्तेयके निषेधको अस्तेय कहते हैं। स्पृहा न रखना भी अस्तेय कहलाता है। यथा—*'धन पराव बिष तें बिष भारी।'*(२। १३०। ६) इससे सब रत्न उपस्थित होते हैं। यथा—**'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।'**(योगदर्शन २। ३७) *'डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं।'* (२३। ९) (ङ) अपरिग्रह—विषयोंके अर्जन, रक्षण, क्षय और संगसे हिंसादि दोष होते हैं, अतएव उनके अस्वीकारको अपरिग्रह कहते हैं। यथा—*'जानत अर्थ अनर्थ रूप तम कूप परब येहि लागे। तदपि न तजत स्वान अज खर ज्यों फिरत बिषय अनुरागे॥'*(वि० ११७) इससे जन्मकथन्ताका बोध होता है। यथा—**'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।'** (योगदर्शन २। ३९) *'निज निज मुखनि कही निज होनी।'* (१। ३। ३)

नियम भी पाँच हैं—**'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।'**(योगदर्शन २। ३२) (क) देह और मनके मलको दूर करना शौच है, यथा—*'सकल सौच करि जाइ नहाए।'* (१। २२७। १) शौचकी स्थिरतासे बुद्धिकी शुद्धि, उससे मनकी प्रसन्नता, उससे एकाग्रता, उससे इन्द्रियजय और उससे आत्मदर्शनकी योग्यता होती है। अपने शरीरसे घृणा और दूसरेके संसर्गसे घृणा होती है, यथा—**'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।'**(योगदर्शन २। ४०) **'सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।'** (४१) *'रहिहि न अंतहु अधम सरीरू।'* (२। १४४। ४) (ख)—संतोष=प्राप्त साधनसे अधिक पैदा करनेकी अनिच्छा, यथा—*'आठँव जथा लाभ संतोषा।'* (३। ३६। ४) इसके द्वारा सबसे बढ़कर सुखकी प्राप्ति होती है, यथा—**'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।'** (योगदर्शन २। ४२) *'मन संतोष सुनत कपि बानी।'* (ग) तप=जाड़ा=गर्मी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वोंका सहन। यथा—*'कछु दिन भोजन बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा॥'* (१। ७४। ५) इससे देह-इन्द्रियकी सिद्धि और अशुद्धिका क्षय होता है, यथा—**'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।'** (योगदर्शन २। ४३) *'बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पद दोऊ॥—माँगहु बर बहु भाँति लोभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥'* (१। १४५। १-३) (घ) स्वाध्याय=मोक्षशास्त्रका पढ़ना अथवा प्रणवका जप करना। इससे इष्ट देवता एवं ऋषियोंके दर्शन होते हैं। यथा—**'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।'**(योगदर्शन २। ४४) *'नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥'* (ङ)—ईश्वरप्रणिधान=सब कर्मोंका ईश्वरार्पण कर देना, यथा—*'प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं।'* इससे समाधिकी सिद्धि होती है। यथा—**'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।'**(योगदर्शन २। ४५) *'सहज बिमल मन लागि समाधी।'*

नोट—भा० ११। १९। ३३—३५ में यम, नियम १२, १२ कहे गये हैं।—**'अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः। आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्॥ शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्। तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।'**

तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥११॥

शब्दार्थ—*'पेन्हाई'*—पेन्हाना=दुहते समय गाय-भैंस आदिके थनमें दूध उतरना जिससे थन भरे जान पड़ते हैं।

अर्थ—उसी हरी घासको जब गौ चरे तब भावरूप शिशुबछड़ा पाकर पेन्हावे॥ ११॥

नोट—*'तृन हरित चरै जब गाई'* इति। (क)—जप-तप आदिके साथ 'शुभ' विशेषण दिया था। 'शुभ' के सम्बन्धसे प्राकृत गौके चारेमें *'हरित'* विशेषण दिया। हरे चारेसे दूध विशेष होता है, गौ उसे रुचिसे चरती है और वह सात्त्विक होता है। सूखी घास भूसा आदिसे दूध कम होता है और गऊका पेट भी नहीं भरता। (ख) लौकिक गौका चारा तृण, औषधि और वनस्पति भेदसे तीन प्रकारका होता है और उनके भी बीजरुह तथा काण्डरुह भेदसे दो प्रकार होते हैं। कुल: छ: प्रकार हुए। इसी प्रकार श्रद्धा-रूपिणी गौके चाराके भी जप-तपादि भेदसे छ: प्रकार कहे हैं। (वि० त्रि०) (ग) *'हरित तृण'* का भाव कि सरस हो, नहीं तो दूध भी कम होगा जिससे बछड़ेकी तृप्ति भी कठिन हो पड़ेगी, फिर और कामोंके लिये दूध मिलना तो दूरकी बात है। अत: जप-तपादि आनन्दरहित न हों—*'अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा। तदपि मनाग मनहि नहिं पीरा॥'* (वि० त्रि०) (घ)—*'चरै'* से घरमें बँधी गायका निषेध किया। गौ जब गोष्ठसे बाहर जाकर हारमें चलकर चरती है तब उसकी तृप्ति होती है और वह प्रसन्न रहती है, उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है, जिससे दूध रोगहारक होता है। *'गाई'*—सात्त्विक श्रद्धासे रूपक देनेमें *'धेनु सुहाई'* अर्थात् सवत्सा गौ कहा, चरनेको गौ अकेले जाती है, बच्चा साथ नहीं होता, यथा—*'जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं।'* (दोहा ६) अत: वत्सरहित चरनेके सम्बन्धसे 'धेनु' न कहकर *'गाई'* कहा। गायका चारा चरना, ज्ञानदीपक-प्रसङ्गमें श्रद्धापूर्वक सात्त्विक जप-तपादि शुभ धर्माचरण करना है।

वि० त्रि०—(क) *'चरै'* का भाव कि जैसे गौ गोष्ठ छोड़कर बाहर जाय और गोचर भूमिमें चरे, इस भाँति श्रद्धा भी हृदयसे बाहर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूपी गोचरमें, जिस रुचिसे भूखी गाय हरी घास चरती है, उसी रुचिसे शुभ धर्माचरण करे और तृप्त हो। यथा—*'नित नव राम प्रेम पन पीना। बढ़त धरम दलु मनु न मलीना॥'* (२। ३२५। २) (ख) गऊने जितने प्रकारका तृण खाया है, उन सबके सात्त्विक परिणामका स्वारस्य दूध है, इसी प्रकार श्रद्धासे जो यम-नियमादि आचरित हुए हैं उनके सात्त्विक परिणामका स्वारस्य परम धर्ममें है।

☞ स्मरण रखना चाहिये कि चरा हुआ चारा गौके पेटमें है। यह सामर्थ्य गौमें है कि चारेको सात्त्विक परिणाम दूधके रूपमें जगत्के कल्याणके लिये देवे, राजसिक परिणाम अपने शरीरके पोषणके लिये अलग कर ले और तामसिक परिणाम गोबर परसि पृथक् दे। किसी भी शिल्पीकी सामर्थ्य नहीं है कि इस भाँति सात्त्विक, राजस और तामस परिणामको किसी उपायसे पृथक् कर सके। इसी भाँति श्रद्धासे आचरित शुभ धर्म श्रद्धाके उदरमें जाकर परिणामको प्राप्त होता है और उसके सात्त्विक परिणाम-परमधर्मसे जगत्का हित होता है, नहीं तो जिस भाँति तृणादि मनुष्यके ग्रहणयोग्य नहीं रहते, उसी भाँति श्रद्धाहीन शुभ धर्म भी मनुष्यके कामके नहीं होते, यथा—*'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।'*

नोट—२ *'भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई।'* (क) बछड़ा जब बड़ा हो जाता है तब गौका वह प्रेम नहीं रह जाता और दूध भी वह नहीं देती और यदि देती भी है तो बहुत कम। शिशु-बच्छका जीवन माताका दूध है, अत: गौका भी उसपर वात्सल्य अधिक रहता है, उसके रोगोंको वह चाटकर अच्छा करती है। (ख) भाव पुँल्लिङ्ग है, अत: वत्स ही कहा बछिया नहीं। अन्य स्थलोंमें भी वत्सको ही कविने कहा है, यथा—*'जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं।'* (७। ६। छंद) *'गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई।'* (३। ४३। ६) किसीका मत है कि बछिया जननेपर गौका दुहना निषेध है, अत: वत्स ही कहा।

करु०—चौपाईका भाव यह है कि सात्त्विक श्रद्धापूर्वक जप-तपादि शुभ कर्म प्रेमसे करे तब सुख होगा। यहाँ श्रद्धाका वत्स-भाव (प्रेम) है और पेन्हाना सुख है।

जप-तपादि दैविक सम्पदा हैं। इस तृणको जब गऊने चरा अर्थात् निष्काम कर्म करके जब श्रद्धा बलवान् हुई। बालक-वत्समें भाव यह है कि पुराने वत्सको देखकर गायका दूध अधिक नहीं उमगता वैसे ही जो पूर्व किसी जन्ममें संतोंसे भाव किया है उससे अधिक प्रेम नहीं उपजता, जबतक नवीन भाव न हो।

रा० प्र०—*'सिसु बच्छ'* का भाव कि वह बँधा हुआ है और भूखा है।

वि० त्रि०—*'भाव बच्छ सिसु—'* इति। (क) श्रद्धारूपिणी धेनुका सात्त्विक भाव अबोध बच्चा है, वह छल-कपट नहीं जानता अतएव बहुत प्यारा है। चरनेके समय भी उसीकी ओर ध्यान लगा रहता है। इसी भाँति श्रद्धासे धर्माचरण हो और वह भाव हत न होने पावे। यथा—*'किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि। संगबस किय सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि॥ करौं जो कछु धरौं सँचिपचि सुकृत सिला बटोरि। पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अंजोरि॥'* (वि० १५८) (ख) *'पाइ पेन्हाई।'* जब गौ हरी-हरी घास चरके तृप्त होकर सन्ध्या-समय घर लौटती है तो बालक-बच्छको पाकर द्रवीभूत हो जाती है, उसके थनोंमें दूध आ जाता है। इसी भाँति श्रद्धा धर्माचरण करके कृतकृत्य होकर भावपुष्टिके लिये अन्तर्मुख होती है। उस समय वह परम धर्म-प्रसवमें समर्थ होती है। यथा—*'दिन अंत पुर रुख स्त्रवत थन हुंकार करि धावत भईं।'*

पं० रा० व० श०—भाव कि जप-तप-नियमादि जो कर्म करे वह उत्साहसे भरे हुए करे, यही सात्त्विक श्रद्धासे होना है। इससे अन्तःकरणमें भाव उत्पन्न होगा, मनकी मलिनता दूर होगी। सात्त्विकी श्रद्धासे जप-तपादि करनेसे अन्तःकरणका भाव शुद्ध हो जायगा; यही उस श्रद्धा गौका बछड़ा है।

वै०—भाव कि यावत् क्रिया करे वह नवीन प्रीति-भावसे करे। सत्य, शौच, तप और दान ये धर्मके चारों चरण श्रद्धा गऊके चारों थन हैं, इनमें धर्मका प्रसिद्ध दर्शित होना गऊका पेन्हाना है।

रा० शं० श०—भाव कि जप-तपादिमें सात्त्विक श्रद्धा सदा नवीन बनी रहे, जिस वस्तुकी चाह है उसकी प्राप्तिमें विशेष अभिलाषा बढ़ती रहे जिससे सात्त्विक श्रद्धा सरस रहती है, यह पेन्हाना है।

मा० म०—यहाँ बियाना और बाहिना नहीं कहा, बछड़ा कहाँसे आया? इसका समाधान *'धेनु सुहाई'* से पूर्व ही हो जाता है। धेनु सवत्सा लवाई गौको कहते हैं। ईशने कृपा करके सवत्सा गऊका संयोग कर दिया है। अथवा, यह भी कह सकते हैं कि सात्त्विकी समाज यम-नियमादि पाकर श्रद्धा-धेनु विशेष प्रौढ़तरा हुई और सतोगुणके साथ रमणकर सात्त्विकी भावरूपी बछड़ा जनी। (मा० शं०) यह कहना भी ठीक नहीं कि कामधेनु तो बिना ब्याये दूध देती है उसीको यहाँ समझ लें क्योंकि कामधेनु तो बिना वत्सके दूध देती है और यहाँ तो वत्स पाकर दूध देना कवि लिख रहे हैं।

रा० बा० दा०—१ भाव कि जैसे लवाई गौके चरनेके लिये हरा चारा चाहिये, उसमें सूखा पीला तृण न मिला रहे, वैसे ही सात्त्विकी हृदय-भूमिमें जितने जपादिक तृण हैं वे सात्त्विक हों, सात्त्विक श्रद्धापूर्वक हों। जप-तपादि शुभाचारोंको सात्त्विकी श्रद्धापूर्वक करना ही गौका चरना है। जब पेटभर चरकर वह स्वतः स्थिर होवे तब सात्त्विक भाव वत्सको पाकर पेन्हावे।

२—गऊका बहना और ब्याना न कहा; वत्सको पाकर पेन्हाना मात्र कहा? इससे सूचित किया कि सात्त्विक श्रद्धा धर्म-फलकी क्रिया है। यथा—*'जनु पाए महिपालमनि क्रियन्ह सहित फल चार।'* धर्म वृषभरूप है। नन्दी आदि धर्मरूप हैं। धर्मरूप वृषभसे श्रद्धारूपी धेनुने भावरूप वत्स उत्पन्न किया। वैसे ही सतोगुणसे सात्त्विकी श्रद्धा जायमान हुई। जब वत्स एक माससे अधिक दिनका हुआ तब उसे पाकर पेन्हाना लिखा, कारण कि एक मास बीते बिना दुहना अयोग्य है; दूध भी पतला होता है, उसमेंसे मक्खनका भी मिलना असम्भव है। जहाँ धेनुका हृष्ट-पुष्ट होना लिखा वहीं वत्सोत्पत्ति भी कही; पर ग्रन्थ सूक्ष्म है इससे शीघ्र उसका लिखना कठिन है।

नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥ १२॥

शब्दार्थ—*'नोइ'*-नोवना=दुहते समय रस्सीसे गायके पिछले पैरोंको बाँधना। नोई एवं नोइनी रस्सीसे पैर बाँधनेकी क्रियाको कहते हैं तथा रस्सीको भी नोई कहते हैं।

अर्थ—निवृत्ति नोवना वा नोई है, (विश्वास दूध दुहनेका) बरतन है, निर्मल मन अहीर है जो अपना दास अर्थात् अपने अधीन है॥ १२॥

पं० रा० व० श०—भावकी शुद्धि होनेसे संसारके पदार्थोंसे तथा नाना कर्मके व्यापारसे निवृत्ति हो जायगी, यही *'नोई'* (रस्सी) है। मन अपने वशमें हो जैसा हम चाहते हैं वैसा ही हो, निर्मल हो। ऐसा न होनेसे पापी मन काम बिगाड़ देगा। विश्वास जो मनमें होने लगा वही पात्र है।

नोट—१ (क) दूध उतरनेपर अब दूध प्राप्त करनेके लिये तीन बातें क्रमसे एक ही समय चाहिये—रस्सीसे गौके पैर बाँधनेको रस्सी और उससे पैर बाँधा जाय, दूध दुहनेका पात्र (दोहनी) और दुहनेवाला। बिना नोई हुई गायका दूध अपवित्र माना जाता है, उसका निषेध है। दूसरे साधारणतः भी बिना बाँधे भय है कि वह पैर न चलावे जिससे दूध सब गिर पड़े तब सब काम ही बंद हो जायगा। (ख) श्रीकरुणासिन्धुजी तथा वि० त्रि० जी 'वृत्ति' को 'नोइनि' कहते हैं। उनका पाठ *'नोइ निबृत्ति।'* वे अर्थ करते हैं कि—'मनकी धर्ममय वृत्ति ही नोइनि है' (करु०); 'नोइन' वृत्ति है। अर्थात् वृत्तिको उस समय श्रद्धाके चरणोंमें लगा देना चाहिये, जिसमें श्रद्धा अचल रहे। (वि० त्रि०) प्रायः अन्य सब टीकाकारोंने *'नोइ निवृत्ति'* पाठ दिया है और अर्थ किया है कि निवृत्ति (सांसारिक विषयों तथा प्रपञ्चसे मनकी वृत्तिका हटना) नोई है।

वै०—यहाँ लय विक्षेप करवाय रसाभासादि जो विघ्न हैं वही श्रद्धा गऊके चार पैर हैं जिनसे वह इन्द्रिय विषयोंको पाकर चलित होती है। इन्द्रियोंकी इस वृत्तिको विषयोंसे निवृत्त करे, खींचकर परमार्थमें लगावे। सावधानतारूपी रज्जुसे बाँध रखे जिसमें श्रद्धाधेनु स्थिर रहे।—यह निवृत्ति नोवनी है।

रा० शं०—गौके चार पैर होते हैं। आगेके पैर प्रवृत्ति और पीछेके निवृत्ति हैं, क्योंकि अगले धड़से पिछला धड़ पवित्र माना जाता है। नोवना यह कि निवृत्तिको खूब पुष्ट जकड़े रहे अर्थात् वह अचल रहे।

रा० बा० दा०—निवृत्त चित्तकी वृत्ति नोई है। भाव-वत्स श्रद्धा धेनुके थनोंमें लगा तब गौ पेन्हाई, उसी समय हाथसे पकड़कर निवृत्ति (मोक्षसाधनभूत धर्म) को वत्सके गलेमें लगाकर गौके वामाग्र पाँवमें बाँधे।

नोट—२ *'पात्र बिस्वासा'* इति। गुरु और शास्त्रमें श्रद्धा भी है ये सत्य कहते हैं, पर यदि दृढ़ विश्वास न हुआ कि जो शिक्षा ये देते हैं उससे हमारा कल्याण अवश्य होगा, कर्मका वांछित फल हमें अवश्य मिलेगा, सहज स्वरूपकी प्राप्ति अवश्य होगी, तब भी शिक्षाका कुछ फल न होगा—*'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।'* (९०। ८) अतः परम धर्ममय दूधकी प्राप्ति करनेके लिये विश्वासको पात्र कहा।

३—*'निर्मल मन……'* इति। पात्र भी है पर अहीर नहीं है तो दूध न मिलेगा। इसी तरह विश्वास भी हो पर यदि मन 'निर्मल' न हुआ तो उसमें परम धर्म पयकी प्राप्ति न होगी। जैसे अहीर दोहनीको स्थिर रखकर उसमें दूध दुहता है वैसे ही निर्मल मन विश्वासको दृढ़ रख सकेगा। मोहजनित कामादिक विषय ही मनके मल हैं—४९ (५-६) देखिये [निर्मल=रज-तमरहित=कामसंकल्पविवर्जित। (मा० म०, रा० बा० दा०)] ये विश्वासको निर्मूल कर देनेवाले हैं। अतः *'निर्मल मन'* को अहीर कहा।

४—*'निज दासा।'* अहीर भी हो, पर यदि वह समयपर दुहने न आवे तो भी काम बिगड़ जायगा। अतः *'निज दासा'* कहा। अर्थात् वह अहीर अपने काबूका हो। इसी प्रकार मन निर्मल भी हो और अपने काबूका हो, जहाँ जीव उसे लगावे वहीं लगे। (वै०) ['निज दास' का भाव कि गो-दोहनके समय परम अव्यग्र होवे। (शेषदत्त)]

वि० त्रि०—१ *'निज दासा।'*—गौके पेन्हानेपर वह निर्मल मनरूपी सेवक अहीर जब नोइन लगाकर देखे कि जब बछड़ा अपनी पुष्टिके लिये योग्य मात्रामें दूध पी चुका तब उसे हटाकर दोहनीमें दूध दूहे। इस भाँति धर्माचरणके द्वारा कृतकृत्य होकर श्रद्धा अन्तर्मुखी हो और सम्पूर्ण धर्मोंके सात्त्विक परिणामसे सात्त्विक भावकी पुष्टि करने लगे तब भलीभाँति वश किये हुए कामसंकल्परहित मनकी वृत्ति लगाकर

अपनी श्रद्धाको अचल कर ले नहीं तो सात्त्विकभाव (सुख-भाव) के हटाते समय श्रद्धा छटक जायगी और यदि सात्त्विक भाव न हटाया जायगा, तो वह अनुष्ठित धर्मके सम्पूर्ण सात्त्विक परिणामको पी जायगा। मनके सात्त्विक भावमें अनुरक्त होनेसे भी सुखके साथ बन्धन होगा, अतएव सात्त्विक भावको धीरे-धीरे हटाकर मनको परिपूर्ण विश्वासका पात्र करनेके लिये उसे श्रद्धामें लगा दे। २—☞ इस चौपाईसे शम (मनोनिग्रह) कहा गया जो षट्सम्पत्तिमें प्रथम है।

नोट—५ शुभाचरण, भाव, वृत्ति, विश्वास और निर्मल मन यह पञ्चाङ्ग-संयुक्त श्रद्धा ज्ञानकी प्रथम भूमिका हुई। (करु०) सात्त्विक श्रद्धा, जप-तप-यमादि, भाव, निवृत्ति और मनका काम यहाँ समाप्त हुआ। (मा० म०) प्रथम भूमिका शुभ इच्छा यहाँतक हुई। (वै०)

रा० बा० दा०—शुद्ध निर्वेदादिक जितने सात्त्विक कर्म कहे, जप-तप-संयम-नियम इत्यादि वेदोक्त शुभाचार, विश्वास, निवृत्ति, निर्मल मन इत्यादि सर्वाङ्ग रोमयुक्त श्रद्धा-धेनु—यह ज्ञानकी प्रथम भूमिका है, और आत्माका प्रथम स्थान है।

परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई॥ १३॥

अर्थ—हे भाई! परम धर्ममय दूध दुहकर निष्कामतारूपी अग्नि बनाकर उसपर (इस) दूधको औटे॥ १३॥

नोट—१ अहीरने दूध दुह दिया। अब उसे अग्नि जलाकर औटना चाहिये। वैसे ही निर्मल मनने श्रद्धा धेनुसे विश्वासपात्रमें परम धर्म प्राप्त किया। अब इसे निष्कामतारूपी आगपर गाढ़ा करना है। २—*'भाई'* इससे गरुड़पर उत्तरोत्तर भुशुण्डिजीका प्रियत्व दिखाया। दूधको परम न कहकर *'परम धर्ममय'* कहनेका भाव?—वि० त्रि० देखिये।

पं० रा० व० श०—अहिंसारूप परम धर्म साक्षात् दूध है। अर्थात् मन निर्मल और निज दास होनेपर ऐसी वृत्ति हो जायगी कि हिंसा न करो। हिंसा ८१ प्रकारकी कही गयी है। यह मनको बहुत मलिन कर देती है। अहिंसा होनेसे चित्तमें निष्काम वृत्ति उत्पन्न हो जायगी। तात्पर्य कि यदि अहिंसा हुई और कामना बनी ही रही तो वह भी किसी कामकी नहीं।

वि० त्रि०—१ *'परम धर्ममय।'* जो सात्त्विक परिणाम दूधरूपमें परिणत हुआ, उसीको परम धर्ममय कहा, अर्थात् अहिंसामय कहा, क्योंकि अहिंसामें ही शेष सब धर्मोंकी चरितार्थता है, यथा—*'दयामें बसत देव सकल धरम।'* (वि० २४९), *'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।'* (१२१। २२), *'धर्म कि दया सरिस हरिजाना।'* (११२। १०) दूसरा *'परम धर्ममय'* कहनेका भाव यह कि 'मयट्' प्रत्यय बहुतके अर्थमें होता है, अर्थात् उस दूधमें परम धर्म बहुत है, पर थोड़ा-सा काम, वासना, ममतादि रूप दोष भी है।

'दुहि भाई।' विश्वासरूपी पात्रमें ही यह दुहा जा सकता है, अन्य पात्रमें रखनेसे बिगड़ जायगा, अतएव परम धर्ममय सात्त्विक परिणामसे विश्वासरूपी पात्र भर लेना चाहिये। न भावके काम आ सके न मनके। क्योंकि भाव और मन दो ही पदार्थ ऐसे हैं जो श्रद्धासे धर्मके सात्त्विक परिणामको अलग कर सकते हैं और केवल मन ही ऐसा है, जो उसे श्रद्धासे लेकर विश्वासके सुपुर्द कर सकता है। *'भाई'* सम्बोधन है तथा विचारके लिये आश्वासन है, यथा—*'करै बिचार करौं का भाई।'*

२ (क) *'अवटै।'* अर्थात् पाक करे, गुणाधिक्यके लिये, घनीभावके लिये, जलरूपी अवगुणके नाशके लिये। यथा—*'नहि गुन पय तजि अवगुन बारी।'* (२। २३२। ७) (ख) *'अनल अकाम बनाई'* इति। अकामकी आगको प्रज्वलित करके औटे, अर्थात् आगपर रखकर देरतक गरम करे, जिसमें उसके एक-एक परमाणुतकमें अकामकी आग पहुँच जाय। धर्मके सात्त्विक परिणाममें ही काम रह जाता है, क्योंकि धर्म सदासे ही कामका संगी है। धर्मका साथ सुख और स्वर्गसे है और ये ही काम हैं। अकामकी अग्नि इसलिये कहा कि—'काम' शब्द यावत् वैषयिक सुखका वाचक है (केवल स्त्री-सुखका नहीं)। उसका त्याग ही अकाम है। वैषयिक सुखमात्रके त्यागके ध्यानसे ताप होता है, अतएव उसे अग्नि कहा। इस अग्नि-उत्पत्तिके लिये कामको दूर करना कर्तव्य है। फिर वह अग्नि आपसे बनी रहेगी,

इसलिये *'बनाई'* कहा। अकामकी अग्नि परम धर्ममय पयका पाक करके उसके गुणको बढ़ा देगी, उसमें घनत्व पैदा करेगी और उसके कामांशको दूर करेगी।

मा० म०—भाव यह कि यमनियमादि तृणसे देह धर्मपालन हुआ और उस सात्त्विक श्रद्धारूपिणी गौसे जीवधर्मरूपी श्वेत पय निकला। जिस धर्मके प्रभावसे मन हिंसारिक्त हो गया और सब जीवोंपर बहुत दया हो गयी। उपर्युक्त प्रकार जीवका धर्म प्राप्त हुआ, अब उसका परमधर्म कहते हैं। ब्रह्मके रूपका परम विचार जीवका परमधर्म है। अर्थ और धर्मको तो जीवने पूर्व ही त्याग किया है, कामना स्थिर रह गयी उसका भी त्यागकर निष्कामतासे धीरभावसे रहे। उस निष्कामतारूपी अग्निपर परमधर्मरूपी क्षीरको औटनेसे आत्मतत्त्व गाढ़ा हो गया और संसाररूपी जल जल गया अर्थात् संसारी वासना जल गयी, केवल निष्काम आत्मतत्त्व रह गया।

शेषदत्तजी—१ *'परम धर्ममय पय'* अर्थात् जिस सात्त्विक तत्त्वविचारमें अहिंसारूपी परमधर्म मिश्रित है वही दूध है। *'बनाई'* अर्थात् अधिक प्रज्वलित करके तथा विधिपूर्वक। २—सात्त्विक दूध दुहे। ततः सात्त्विक श्रद्धादिसे निर्मल मनान्त कर्मोंको कीचवत् समझ त्याग किया, यथा—*'करतहु सुकृत न पाप सिराहीं।'* भाव यह कि यहाँतक सब काम कामनासे किया गया। कामनाओंका त्याग करना है। क्योंकि काम्यकर्म भवकीचमें ही डालते हैं। अब परमधर्ममय तत्त्वविचारको लेकर विविक्तवासी हो सहजस्वरूप सँभारकर निष्कामतारूपी अग्निपर विषय-वासना ईंधन लगाकर असंगरूपी करछुलीसे औटकर उस दूधको गाढ़ा किया।

करु०—१ अब दूसरी भूमिका कहते हैं। घासमें दूध अति सूक्ष्म है। कोई यत्न करके उससे दूध नहीं निकाल सकता, पर उसीको गऊ खाती है तब उसके द्वारा घाससे दुग्ध प्राप्त होता है। वैसे ही श्रद्धापूर्वक शुभकर्म करनेसे परमधर्म यह दूध निकलता है जो विश्वासरूप पात्रमें स्थित होता है। अहिंसा ही परमधर्म है। और जितने शुभकर्म यज्ञादिक हैं उनमें कुछ-न-कुछ हिंसा होती है इससे वे साधारण धर्म हैं। २—*'अवटै अनल अकाम बनाई।'* परमधर्ममें निष्कामता अनल है, इसीसे औटना कहा। औटना दृढ़ता है।

रा० प०, रा० प्र०—'शरणागत भागवतधर्म' परमधर्म है।

पं०—सदा आत्म-चिन्तन करना परमधर्म है। स्वर्गादि भोगोंसे निष्काम होना अग्नि है।

वै०—देहव्यवहार मान-बड़ाई-हेतु वा स्वर्गसुखप्राप्तिहेतु सवादिक यज्ञादि यावत् क्रियाएँ हैं वे हिंसा-दण्डादिसहित हैं। जैसे कि धर्म-संस्थापनके लिये अधर्मियोंको दण्ड करना होता है, यज्ञमें बलिदान होता है जो देहव्यवहार-सुखवासनारहित केवल आत्मशुद्धिहेतु सर्वाङ्गधर्मसहित दया है सो परमधर्म है।

वै०—शुद्ध-स्वाधीन-मनरूप अहीरद्वारा विश्वासपात्रमें श्रद्धा-कामधेनु परमधर्ममय दूध दुहावे। अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा विश्वाससहित निवृत्तिमार्गमें शुद्ध थिर होकर जब मन दयासहित धर्माचरणमें लगे तब जीवकी जो परम धर्ममय वृत्ति होगी वही दूध है। दूध अग्निपर चढ़ाकर गाढ़ा किया जाता है। यहाँ अकामना अग्नि है। जबतक कामना बनी है तबतक सुधर्म पुष्ट नहीं पड़ता, अतः कामनारूप ईंधनको जलाकर अकामनारूप अग्निको प्रचण्ड कर उसमें परमधर्ममय दूध औटे। अर्थात् जितनी क्रिया करे सब अकाम होकर करनेसे परमधर्म पुष्ट होगा।

तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै॥ १४॥

अर्थ—तब क्षमा-संतोषरूपी पवनसे उसे ठंढा करे। *'धृति'* समतारूपी (दहीका) सम जामन देकर उसे जमावे॥ १४॥

नोट—१ किसी प्रकारका भी संकट आ पड़नेपर या इच्छित वस्तुकी प्राप्ति न होनेपर धैर्यको न छोड़ना, यह धृतिधर्मका लक्षण है। यह धृति भी सात्त्विकी हो। जिस अचल धैर्यके द्वारा मनुष्य योगके उद्देश्यसे प्रवृत्त मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है वह धृति है। यथा—'**धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥**'(गीता १८। ३३) 'क्षमा'—अपने साथ बुराई करनेवालेको दण्ड देने-दिलानेकी पूरी शक्ति रहनेपर भी उसको दण्ड देने-दिलानेकी भावनाको मनमें

भी न लाकर उसके अपराधको सह लेना और उसका अपराध सदाके लिये मिट जाय, इसके लिये यथोचित चेष्टा करना, इसको क्षमा कहते हैं। लं० ७९ (५-६) देखिये।

करु०, शेषदत्त, वि० टी०—*'धृति सम।'* समानतामें धीरजके साथ दृष्टि रखना अर्थात् दुःख-सुख, हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति आदिमें समदृष्टि रखना। सारांश कि अविचल धैर्य धारण करना। गीतामें इसीको स्थितप्रज्ञ कहा है। यथा—'**प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥**' (२। ५५—५७) इसी प्रकार संतोष और क्षमासे चित्तवृत्तिको शान्त करे तथा धीरज धारण कर उसे स्थिर करे।

रा० प्र०—तोषसे क्षमाकी शोभा है। **धृति सम**=शान्ति, विषमताशून्य होनेका भाव। इससे अधिक शीतल करनेवाला दूसरा कुछ नहीं है।

नोट—२ दूध औटानेसे बहुत गर्म हो जाता है। जबतक दूध ठंढा वा गुनगुना न हो जाय तबतक वह जमाया नहीं जा सकता। इसलिये उसे ठंढा करना पड़ता है। अतएव दही जमानेके लिये पहले उसे वायुसे ठंढाकर उसमें जामन देना होता है। कुछ लोगोंका मत है कि संतोष और क्षमा पवन है और *'धृति सम'* जाँवन है और मा० म० आदि कुछका मत है कि तोष पवन है, क्षमा उस पवनकी शीतलता हैं, समता दहीका जामन है और धृति स्त्री जामन देकर दूध जमानेवाली है। और शेषदत्तजीका मत है कि क्षमा व्यंजन मंद-मंद हिलाकर तोषरूपी पवन प्रकट कर उसे ठंडा करे और *'धृति'* स्त्री उसे जमावे।

पं० रा० व० श०—निष्काम होनेसे मनमें संतोष आवेगा—*'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥'* उससे क्षमा आवेगी, यही दूधका ठंडा होना है। अन्तःकरणको एकरस सम कर देना *'सम'* है यह जामन है। इसके बाद मुदितावृत्ति उत्पन्न होगी।

पं०—*'तोष मरुत।'* यद्यपि भोगोंकी इच्छा निवृत्त हुई तो भी देहहेतु व्यवहार चाहिये, सो इसमें यथालाभ संतोष होना मरुत है। क्षमारूपी सखी गर्म दूधको संतोष-वायुसे शीतल करे। क्षमाका स्वरूप यह है कि यथालाभ संतोष तो हुआ पर उसकी प्राप्तिमें यदि कोई विघ्न करे तो उसपर कोप न करे। सारांश यह कि निष्काम होनेमें जो क्रोधादिक उष्णता थी वह क्षमाने मिटायी, तब धीरजरूपी सम जावनसे उसको जमावे। *'सम जावन'* कथनका भाव कि अधिक जावन देनेसे दही शिथिल होता है, अल्पजावनसे कच्चा रहता है; वैसे ही अति धीरजकर सत्संगादिक उद्यम न करे तो दरिद्री होता है, अल्प धीरजकर शीघ्रता करे, कि इतना सत् शास्त्रोंका अभ्यास किया पर स्वरूप-साक्षात् नहीं हुआ, इस मार्गको छोड़े देता हूँ तो जिज्ञासा नष्ट होती है।

मा० म०—१ आत्मतत्त्वकी प्राप्तिसे जो संतोष हुआ वही पुण्यरूपी पवन है, इसमें क्षमारूपी जो अचल शीतलता है उससे आत्मतत्त्वरूपी दूधको शीतल करे। २—शत्रु और मित्रमें विषमता-समता मनमें सूक्ष्मभावसे रह गयी। उन दोनोंसे मनको निर्मूल करके प्राणिमात्रको समभावसे देखे। अब मनका आत्मामें लीन होकर आत्माका चिन्तन करनेमें दृढ़तापूर्वक स्थिर होकर किसी दूसरी ओर दृष्टिपात न करना दहीका गाढ़ा जमना है।

करु०—१ तब संतोषरूपी पवनसे जुड़ावै। अहंपद उष्णता मिटकर क्षमारूप शीतलता प्राप्त होगी। संतोष, यथा—'**असंतोषो दरिद्रस्य संतोषः परमं धनम्।**' २ ☞ अहिंसा, निष्काम, संतोष और क्षमा चारों अङ्ग एकरूप होकर जो परम धर्म हुआ वह ज्ञानकी दूसरी भूमिका हुई। ३—*'धृति सम जावन——।'* अर्थात् सम धैर्य हो, हानि-लाभ, दुःख-सुखमें बुद्धि सम रहे। *'समधीरज'* जावन और वही दूधका दही हुआ यही समधृति समबुद्धि ज्ञानकी तीसरी भूमिका हुई।

रा० शं०—दूधमें जलका अंश या पतलापन निकालनेको औटते हैं। यहाँ परमधर्ममें किसी प्रकारकी कमी न रह जाय, यही औटना है। धर्मका फल सुख है। परमधर्मका फल परमसुखको पाकर मन विचलित होता है, इसको संतोष और क्षमासे जुड़ावे। पंखा दो तरफ चलता है। अतः संतोष और क्षमा दो कहे।

वै०—१ अकामानलपर औटा हुआ सुधर्म दूध उष्ण है, उसमें तोष मरुत दे। भाव कि एक अकामना

ईर्ष्या, मान, क्रोधादिसे होती है सो नहीं, संतोषसहित अकाम रहे। संतोष-पवन लगनेसे क्षमारूपी शीतलता होगी, क्षमा होना ही सुधर्मको ठंडा करना है। २ ☞ अकामना, संतोष, क्षमासहित सुधर्म विचारना ज्ञानकी दूसरी भूमिका हुई। ३—धैर्य और समता जावन देकर परम धर्म दूधको जमावे। अर्थात् क्षमा-संतोष-सहित सुधर्म कर जब जीव शुद्ध हुआ तब काम-क्रोधादिके वेगमें मन न पड़ने पावे, यह धीरज रखे। पुनः राग-द्वेष किसीमें न आने पावे यह समता रखे इत्यादि। जीवकी थिरता दही है।—यही अपने स्वरूपका सदा सँभार रखना ज्ञानकी तीसरी भूमिका है। ☞ यहाँतक तीन भूमिकाओंमें ज्ञानके चार साधनोंमेंसे दो साधन-मुमुक्षुता और षट्-सम्पत्ति कहे गये।

वि० त्रि०—१ ☞ गायके चरानेसे लेकर दूध औटनेतक मनका काम था, अब ठंडा करनेका काम क्षमाका है। क्षमा, मुदिता और बुद्धि ये सब मनके परिवार हैं। तृषा शान्त करनेवाले गुणको तोष कहते हैं। तोषकी उपमा मरुत् (हवा) से दी गयी है। हवासे गर्मी शान्त होती है, दूध ठण्डा होता है। परम धर्ममय पयमेंका कामांश तो दूर हुआ, पर ऐसा करनेसे वह संतप्त हो उठा, उस संतापके दूर करनेके लिये तोषकी आवश्यकता हुई।

भाव यह कि **'सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः'** ऐसी धारणा अटल होनेपर भी कामसे भय रहता है, क्योंकि यह क्रोध उत्पन्न कराके हिंसा करा देता है। कामका विरह हुआ, कामके विरहसे संताप हुआ,* अतएव उस संतापको तोषसे दूर करे। जो अहिंसामें प्रतिष्ठित हो गया है उसके लिये आत्मघातक (जिससे आत्माका आवरण बढ़े) दोषोंका दूर करना परम कर्तव्य है।

१—**'*क्षमा जुड़ावे।*'** दूसरेके अपराधसे भी न संतप्त होनेवाली क्षमामें ही कामके विरहसे उत्पन्न धर्मके संतापको दूर करनेकी शक्ति है, अतएव क्षमा ही उसे तोषकी वायुसे शीतल करे। दूसरी बात यह है कि तोषके प्राप्त करानेमें क्षमा ही समर्थ है, अतः वही संतप्त परम धर्ममय पयको शीतल करे; यथा—**'*त्रिबिध पाप संभव जो तापा। मिटइ दोष दुख दुसह कलापा॥ परम सांत सुख रहै समाई। तहँ उतपात न भेदै आई॥ तुलसी ऐसे सीतल संता। सदा रहहिं एहि भाँति एकंता॥*'**

ठंडा करनेका दूसरा यह भी भाव है कि साधकको व्यर्थ काल बिताना उचित नहीं। अनायास भी दूध धीरे-धीरे ठंडा हो जाता है पर उसमें देर लगेगी। अतएव तोषरूपी शीतल वायुसे उसे क्षमाद्वारा शीतल करनेका उद्योग करे।

३—**'*धृति सम जाँवन।*'** धृति अर्थात् धैर्य, कृतकार्य होनेका प्रधान साधन है, यथा—**'*धीरज धरिय त पाइअ पारा।*'** **'*सम*'** में भाव यह कि समतावाला धैर्यवान् होना चाहिये, विषमतावाला नहीं। इसीका जाँवन बनावे। जाँवन दहीकी उस मात्राको कहते हैं जिसे दूधमें डालकर दही जमाया जाता है। खटाई आदिसे भी दही जमता है पर वह अच्छा नहीं होता। अथवा, सम जाँवनसे यह तात्पर्य है कि जितना उचित हो उतना ही जाँवन दे, क्योंकि उचित मात्रासे कममें दही नहीं जमेगा और अधिक होनेसे वह पानी छोड़ देगा। अतएव जितने धैर्यकी आवश्यकता हो उतनेहीसे काम ले, धैर्य कहीं हठमें परिणत न हो जाय।

'*देइ जमावै*' अर्थात् जाँवन डालकर उसे उतना समय दे, जितनेमें जाँवनका प्रभाव सम्पूर्ण दूधपर पड़े और वह जमकर एक थक्का हो जाय।

४—दूधके जमानेमें जाँवनके लिये दूसरे दहीकी आवश्यकता पड़ती है और उस दूसरेके लिये तीसरेकी। इस भाँति यहाँ अनादिकालसे साधन-परम्परा दिखलायी है। यह नहीं समझना चाहिये कि ऐसा उद्योग आजतक कभी नहीं किया, जीवकी स्थिति अनादि कालसे है और उसका उद्योग बराबर जारी है। न जाने कितनी बार दही जमा, पर काम पूरा चौकस न उतरा। इस बार भी दही जमकर तैयार हुआ। जिस प्रकार हरे तृणका परिणाम दूध एक दूसरी वस्तु तैयार हुई; इसी भाँति दूधका परिणाम दही एक बिलकुल तीसरी वस्तु है। इसमें दया, निष्कामता, तोष और धैर्य चारोंका मेल है। क्षमाका कार्य समाप्त होते ही मुदिता आप-से-आप उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार अन्य पात्र भी आते जायँगे।

* शेषदत्तजी—निष्कामानलजनित जो अहंकृत उष्णता है।

मुदिता मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी॥ १५॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥ १६॥

शब्दार्थ—**मुदिता**=विषमताशून्य होनेपर जो आनन्दवृत्ति प्राप्त होती है (वै० रा० प्र०)।=सबके गुणोंको देखकर प्रसन्न होना, अर्थात् ईर्ष्याका सर्वथा त्याग, अपने मनसे अविद्याको नष्ट होती देखकर जन्मके सफल होनेकी प्रसन्नता (पं०)।=दूसरेके सुखमें आनन्दित होनेवाला गुण। **मथै**=माथ, महेड़ा, कमोरी, वह पात्र जिसमें दही रखकर मथानीसे मथा जाता है। (करु०, पं० रा० व० श०, रा० बा० दा०, गी० प्रे०, वै०)। =मथे (क्रिया)—(मा० म०, वि०) **विचार**=सारासारका निर्णय (करु०)।=वस्तु, विचार (वि० त्रि०)।

अर्थ—मुदितारूपी माथमें (उस दहीको डालकर), विचाररूपी मथानीसे, इन्द्रिय-दमनरूपी आधार (खम्भा आदि) में सत्य एवं उत्तम प्रिय वाणीरूपी रस्सी लगाकर तब दहीको मथकर* निर्मल, सुभग और अत्यन्त पवित्र वैराग्यरूपी मक्खन निकाल ले॥ १५-१६॥

पं० रा० व० श०—मुदितावृत्ति माथ है जिसमें दही छोड़कर मथा जाता है। मुदिता (में) विचार बिना दमके नहीं ठहर सकता, जैसे मथानी बिना खम्भके आधारके। सत्य और प्रिय वाणी—**'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्'** ये दो रस्सियाँ हैं। कितना ही विचार क्यों न हो पर यदि झूठ बोला करे तो वह सब व्यर्थ हो जायगा अतः ***'सत्य सुबानी'*** कहा।

वि० टी०—भाव कि प्रसन्नतायुक्त विचारसे इन्द्रियोंको विषयोंसे पलटाकर सत्य मीठी वाणीसे सारासारका निर्णय करे। सारासारके निर्णयसे वैराग्य उत्पन्न होता है।

रा० प्र०—***'मुदिता मथै'*** का भाव कि विषमताशून्य होनेपर जो आनन्दवृत्तिका लाभ हुआ, उससे विचारद्वारा मनन करे।

करु०—अब चौथी भूमिका कहते हैं। जिस पात्रमें दही जमाया जाता है उससे दूसरे बड़े पात्रमें जिसे मथा, महेड़ा आदि कहते हैं, पलटकर मथानीसे उसे मथते हैं। खम्भेमें रस्सी लगाकर उससे मथानी चलायी जाती है। दही मथकर मक्खन निकाला जाता है। यह दृष्टान्त है। यहाँ परम धर्मरूप दूधस्वरूप (?) पात्रमें जमाया गया, उसे मुदिता अर्थात् आनन्दरूप बड़े पात्रमें पलटकर विचाररूप मथानी डालकर दमको खम्भ बनाकर सत्य वाणीरूपी रज्जुमें बाँधकर मथते हैं। विचार सारासारका निर्णय। ☞ मुदिता, विचार, दम और सत्य वाणी चारों-संयुक्त जो वैराग्य है वही ज्ञानकी चौथी भूमिका हुई।

पं०—१ विचाररूपी मथानीसे उसको मथे। तात्पर्य कि बारम्बार यही विचार करे कि आत्मा सदा सत्य, जगत् त्रिकालमें मिथ्या है। दम आधार है जिसके आश्रय मथानी फिरती है। तत्त्व यह कि विषय रसोंसे इन्द्रियाँ रुकें तब मन विचारपरायण हो। २—***'बिमल बिराग……।'*** श्रुतियोंका आशय समझकर पदार्थोंमें दोषबुद्धि होना वैराग्यकी निर्मलता है, सब व्यवहारोंका बाह्य त्याग उसकी सुन्दरता है और ज्ञान-उपार्जनकी योग्यता करनी उसकी पवित्रता है।

वै०—१ अबतक परमधर्म दूध विश्वास-पात्रमें रहा, अब हृदयके आनन्दरूपी महेड़ेमें पलटा गया। दम खम्भ है। दो रस्सियोंसे खम्भेके आधारपर मथानी थमी रहती है और एक रस्सीसे खींच-खींचकर मथना होता है। यहाँ सत्य वाणी अर्थात् पश्यन्ती वाणी मथनेकी रस्सी है और सुवाणी अर्थात् मध्यमा और वैखरी ये दोनों खम्भेसे मथानीकी आधार हैं। जैसे बिना रस्सीके मथानी नहीं चल सकती वैसे ही बिना अन्तः-करणकी वाणीके विचार नहीं हो सकता इत्यादि सब सामग्री एकत्र कर तब जीव थिर होकर

* वि० त्रि० जी अर्थ करते हैं 'मुदिता विचारकी मथानीसे मथे'। और मा० म०-कार अर्थ करते हैं कि 'मुदितारूपी सुन्दर स्त्री आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्वके स्वच्छ विचाररूपी मथानीको हाथमें ग्रहणकर इन्द्रिय-निग्रहरूपी खम्भ, जो सत्य ब्रह्मके चिन्तनका और सत्य रज्जुका स्तम्भ है, उसके और मथानीके बीचमें वाणीरूप बड़ी रस्सीको लगा करके शनैः-शनैः मथे अर्थात् ब्रह्मके यथार्थ रूपको देखे यही उसका दही-उत्तम मंथन है।' पाँडेजी 'मुदिता' को मथनेवाली स्त्री मानते हैं।

मथे। अर्थात् सब इन्द्रियोंकी वृत्ति वैखरी मध्यमा वाणी सब बटुरकर मन-चित्त-अहंकारादि बुद्धिके अनुकूल हों तब बुद्धि पश्यन्ती-वाणीमें मिलकर आनन्दसहित विचार करे कि स्वर्गपर्यन्त सब विषय तुच्छ हैं, नाशवान् हैं, इनको त्यागकर आत्मरूपमें डटो, जिसमें अचल सुख है इत्यादि विचार 'मथना' है। २—मथनेसे मक्खन *'बिमल बैराग्य'* निकला। विमल=जिसमें वासना आदि मल नहीं है। सुभग—अर्थात् सुन्दरतामें मन्दतादि कुरूपता नहीं। 'सुपुनीत' अर्थात् जिसमें मनादि ईर्ष्याक्रोधादि अपावनतासे रहित हैं। भाव कि इन्द्रिय वाणी थिर होकर आनन्दसहित विचार करनेपर जो शुद्ध वैराग्य हुआ वह नवनीत है। 'जगत् और आत्मरूप जाना' यह 'सत्त्वापत्ति' ज्ञानकी चौथी भूमिका है।

वि० त्रि०—१ (क) *'मुदिता मथै।'* दहीको मुदिता (अर्थात् दूसरेके सुखमें आनन्दित होनेवाला गुण) मथे। यहाँ मथना विचार करना है। विचारमें मुदिताकी बड़ी आवश्यकता है। (ख) *'बिचार मथानी।'* धर्मको सदा कामके साथका संस्कार है। धर्मके साथसे काम हटा दिया गया, धैर्यसे मैत्री करायी गयी, पर अब भी उसमें (दुःखके बीज) कामका संस्कार शेष है, उसी संस्कारको तोड़नेके लिये उस दहीके थक्केको विचार (वस्तु-विचार) से मथे। (ग) *'दम अधार।'* अर्थात् इन्द्रियदमन (जो षट्सम्पत्तियोंमेंसे दूसरा है) उस वस्तु-विचारका आधार होगा, मथानीका फल होगा। उसीकी चोटसे यह जमा हुआ दहीका थक्का छिन्न-भिन्न होकर रवा-रवा हो जायगा। (घ)—*'रजु सत्य सुबानी'* सत्य नवनीत सुबानी अर्थात् हितकर सत्यवाणी (गुरु तथा शास्त्रकी) उस विचारमथानीकी डोरी होगी। उसकी खींचके अनुसार जब वस्तु-विचारदण्ड अपने फलके साथ घूमेगा, अर्थात् शास्त्र-मर्यादाके भीतर तर्क होगा, तब दही मथित होकर नवनीत (मक्खन) प्रसव कर सकेगा। विचारका दिग्दर्शन विनयके *'जिय जब ते हरि ते बिलगान्यो'* इस पदमें आदिसे *'अजहुँ न करु बिचार मन माहीं।'* (वि० १३६) तक तथा मानसके *'एहि तनु कर फल बिषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई॥——'* इत्यादि वचनोंमें कीजिये। [**'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।'**(मुण्डक० १। २। १२) अर्थात् मुमुक्षु कर्मद्वारा प्राप्त होनेवाले लोकोंको अनित्य जानकर वैराग्यको प्राप्त होवे, क्योंकि कृत (कर्म) से अकृत (ब्रह्म) की प्राप्ति नहीं होती, इत्यादि। (सि० ति०)]

सब कार्य श्रद्धासे लेकर ग्रन्थिभेदतक विधिके अनुसार होने चाहिये, अविधि होनेसे वह असुरोंका भाग हो जायगा।

२—*'तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता——।'* (क) *'तब मथि।'* इस प्रकार विचारमथानीद्वारा मथनेसे काम-संस्कार छूट जायगा और उसके छूटते ही त्रिवर्ग वा षड्विकारकी जो कुछ वासना परमधर्मके सारको ढके हुए थी, छिन्न-भिन्न होकर अलग हो जायगी और नवनीत (विराग) प्रकट हो पड़ेगा। (ख) *'काढ़ि लेइ नवनीता'* अबतक सब कार्य विश्वासरूपी पात्रमें ही होता आया। उसीमें दूध दुहा गया, जमाया गया और मथा गया, अब मक्खन निकल पड़ा तो उसे (विश्वास-पात्रसे) अलग कर लिया गया। भाव यह कि केवल विरागका विश्वास होनेसे काम नहीं चलेगा। (ग) *'बिमल बिराग'*—वह मक्खन विमल विराग है, जैसा कि श्रीभरतजीका।——*'तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा'॥* ☞ विराग साधनचतुष्टयमेंसे दूसरा है। (घ) *'सुभग सुपुनीता'*—यह मक्खन दूध-सा सुभग है, पर दूध पुनीत था यह सुपुनीत है। ☞ अब साधनचतुष्टयके पूर्ण होनेमें केवल समाधानकी त्रुटि है। अतएव—*'जोग अगिनि——'*

शेषदत्तजी—जिस पात्रमें दूध दुहा, उसीमें औटा, उसीमें जमाया और फिर मही फेंककर उसीमें मक्खन रखकर तपाया।

दो०—जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत ममता मल जरि जाइ॥११७॥ (क)

शब्दार्थ—लाइ=लगाकर, यथा—*'सकल गिरिन्ह दव लाइय रबि बिनु राति न जाइ।'*

अर्थ—तब योगरूपी अग्नि प्रकट करके शुभाशुभकर्मोंरूपी ईंधन लगाके (जलावे)। ममतारूपी मैल जल जाय, ज्ञानरूपी घी रह जाय, तब बुद्धि उसे ठण्डा करे।

वि० त्रि० —१ *'जोग अगिनि तनु (?) प्रकट करि·····'* इति। (क)—विराग उत्पन्न हुआ तब योगका अधिकार भी हो गया। चित्तवृत्तिका निरोध करके सत् लक्ष्यमें एकाग्र होना योग है और वह अभ्यास तथा वैराग्यसे होता है। वैराग्यद्वारा चित्तवृत्तिनिरोध कहनेसे ही यह बात आ गयी कि वैराग्यका निवास चित्तवृत्तिमें हुआ। (ख) *'तनु (?) प्रकट करि।'* योगाग्निको प्राण-अपानके संघर्षणसे शरीरमें प्रकट करके अर्थात् हठयोग करके, जिससे मनकी गतिकी भाँति, देहकी क्रिया श्वास-प्रश्वासादि रुक जायँ। मनके रोकनेसे वायु रुकता है और वायुके रोकनेसे मन रुकता है, यथा—*'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।'* (४। १० छन्द) अतः राज और हठ दोनों योग युगपत् होने चाहिये। ☞ इससे समाधान (=चित्तकी एकाग्रता) कहा जो षट् साधनसम्पत्तियोंमेंसे छठी है। अब साधनचतुष्टयके पूरा होनेसे साधक तत्त्वज्ञानका अधिकारी हुआ। ऐसे अधिकारीके लिये ही *'तत्त्वमसि'* महावाक्यका उपदेश है, यथा—*'मोहि परम अधिकारी जानी।', 'लागे करन ब्रह्म उपदेसा।', 'सो तैं (तत्त्वम्) ताहि तोहि नहिं भेदा। (असि) बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥'*

२—*'कर्म सुभासुभ लाइ।'* अग्निको स्थिर रखनेके लिये ईंधन चाहिये। अतः शुभाशुभकर्मको लगाकर अग्नि जलावे। योगसे परोक्षज्ञान होता है, यथा—*'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना।'* और परोक्षज्ञानसे बुद्धिपूर्वक किया हुआ पाप नष्ट होता है। योगीका कर्म अशुक्लाकृष्ण होता है, पाप-पुण्यसे रहित होता है, अतः सञ्चित आगामी यावत् शुभाशुभकर्मोंको नष्ट करती हुई योगाग्नि प्रकट होती है, केवल प्रारब्ध बच रहता है। यथा—*'कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥'* (१। ६८)

३—*'बुद्धि सिरावै—'* बुद्धि मक्खनको पिघलावे, अर्थात् वैराग्यसे और सत् लक्ष्यपर चित्तके स्थिर करनेके अभ्याससे चित्तवृत्तिका निरोध करे। ☞ मक्खन निकालनेतक 'मुदिता' का काम था, अब गर्म करना बुद्धिका काम है। घी कच्चा रह गया, ममता कुछ शेष रह गयी तो ज्ञानदीपकके जलनेमें कठिनता होगी और जो खर हो गया तो योगशास्त्रोक्त असम्प्रज्ञात-समाधि हो जायगी। आगेकी सब क्रिया रुक जायगी। मसल है कि घी जलकर तेल हो गया। असम्प्रज्ञात-समाधि तो हुई पर ज्ञान न हुआ। यदि बुद्धि ठीक तरहसे पका सकी तो ज्ञानघृत तैयार हो जायगा। यह *'तत्'* पदका ज्ञान परोक्षज्ञान है, यथा—*'तव प्रसाद सब संसय गयऊ। रामसरूप जान मोहि परेऊ॥'*

मा० म०, वि० टी०—भाव कि परमात्मासे संयोगकी उत्कट इच्छा उत्पन्नकर योगसे शुभाशुभकर्मोंके नष्ट करनेसे ममतात्याग शुद्ध ज्ञान प्रकट होता है, जिसे बुद्धि अपना लेती है। तात्पर्य यह कि वैराग्यरूपी नवनीतमें अशुभकर्मोंका स्मरणरूपी जल लपटा रहता है तथा शुभकर्मोंकी चाहनारूपी छाछ मिली रहती है। सो ये दोनों जल जाते हैं अर्थात् निष्काम कर्म रह जाते हैं। मक्खन गर्म करनेसे छाँछ जलनेपर शुद्ध घी रह जाता है, यह अभी गर्म है, इसे ठंडा करना होगा। ज्ञानघृतमें मानरूपी उष्णता है। इसे बुद्धिरूपिणी स्त्री विवेचनद्वारा शीतल करती है।

वि० त्रि०—*'ममता मल जरि जाइ।'* भाव यह कि विरागमें यह धारणा रही कि ये सब विषय-विलास मेरे वशमें हैं, मैं इनके वशमें नहीं हूँ, अतः उसमें ममता-मल रहा। वह ममता योगाग्निसे जलती है। इस प्रकार *'तत्'* पदका शोधन हुआ। ज्ञानदीपकमें योगशास्त्रानुमोदित असम्प्रज्ञात-समाधिका उपयोग नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध न मानकर, ज्ञानी लोग ब्रह्माकारवृत्तिको असम्प्रज्ञात-समाधि मानते हैं, और कारण यह देते हैं कि योगवाली असम्प्रज्ञात-समाधिसे लौटनेपर, संसार ज्यों-का-त्यों लौट आता है, ज्ञान कुछ भी नहीं होता।

☞ यहाँतक बुद्धिका कार्य समाप्त हुआ।

रा० प०, रा० प्र०—१ *'करि प्रकट'* का भाव कि काष्ठमें जैसे अग्नि गुप्त रहती है, संघर्षणसे प्रकट होती है, वैसे ही जीवात्मा परमात्माका विवेचन कर इनमेंसे उसे काढ़ ले। शुभाशुभकर्म जबतक

रहते हैं तबतक स्वर्ग-नरकादिमें घुमाते हैं, इनके जलनेपर ही मुक्ति हो सकती है। अतः इनका जलाना कहा। २—यहाँ ममता-मलका जलना कहा। अहंता भी मल ही है, पर वह ग्रन्थि छूटे बिना जल नहीं सकती, अतः उसका जलना यहाँ नहीं कहते। भाव कि देह-गेहादिकी ममता ज्ञानभूमिका पाते ही जाती रहती है, पर अहंता समाधि अवस्थामें भी रहती है। ज्योतिध्यानमें अहंता लेशमात्र रहती है। जैसे दीपशिखापर तम, त्रिपुटी भङ्गमें ही अहंता निर्मूल होती है।

करु०—शुभ कर्म=सात्त्विक गुणमय कर्म। अशुभ कर्म=राजस-तामसमय कर्म। मक्खनमें छाँछ रहता है। वैराग्यमें ममता अर्थात् अहंता है। छाँछ जल जानेपर वही बुद्धि ज्ञानघृतको 'सिरावती' अर्थात् घृतरूप ज्ञानको भिन्न और शीतल करती है। यहाँ आत्मा-अनात्माको जानना ज्ञान है।

☞ अनात्माको मिथ्या जानकर उसे वैराग्यद्वारा त्यागकर स्वस्वरूपका ग्रहण पाँचवीं भूमिका हुई।

वै०—१ अब चौथे साधन वैराग्यको पाँचवीं भूमिकामें कहते हैं। २—अष्टाङ्गयोग करे यही अग्निका प्रकट करना है। उसमें शुभाशुभकर्मरूपी ईंधन लगावे। भाव कि पूर्व जो निर्वासिक कर्म करना था वह भी अब न करे। केवल ध्यान-धारणा-समाधिरूप योगाग्निमें विरागरूप नवनीतको औटे। संसार एवं देह-व्यवहारका ममतारूपी मल जला डाले तब ज्ञानघृत रह जायगा। उसे ठंडा करे। भाव कि ज्ञानमें योग-क्रियाकी उष्णता है, उसको भी शान्त करे। ३—☞ असार त्यागकर सार आत्मरूपका ग्रहण इति विवेक यह ज्ञानकी पाँचवीं भूमिका असंशक्ति है।

पं०—वैराग्य और योग ज्ञानके साधन और सहायक हैं। इनके बिना ज्ञान प्रबल नहीं होता। योगाग्निमें शुभाशुभकर्मोंको जलाया अर्थात् यह चाहा तो बहुतेरे तन धरकर दुःख-सुख शीघ्र भोग लिये। तब बुद्धिरूपी सखीने वैराग्यमाखनको औटाकर अर्थात् वैराग्यका अभिमान त्याग दिया। ममता-मल जल गया अर्थात् यह देहसंयुक्त किसी पदार्थमें स्नेह न रह गया। ज्ञान=आत्माकी व्यापकता और जगत्‌का मिथ्या जानना।—(पंजाबीजी सिरानेका अर्थ औटाना करते हैं)।

दो०—तब बिज्ञानरूपिनी* बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ॥ ११७ (ख)॥

अर्थ—तब विज्ञानरूपिणी बुद्धि स्वच्छ घी पाकर, चित्तरूपी दिया (दीपक) उससे भरकर, समतारूपी दृढ़ दीयट बनाकर, उसपर दृढ़ करके धरे॥ ११७ (ख)॥

नोट—घी दीपकमें रखा जाता है, दिया दीवटपर रखा जाता है, जिसके नीचेका पेंदा वा भाग भारी हो जिसमें दिया रखे जानेपर अथवा कुछ धक्का पानेसे गिरे नहीं। यहाँ विज्ञानरूपिणी बुद्धिको ज्ञानघृत रखनेके लिये चित्त 'दिया' है और 'दृढ़ समता' दीवट है जिसपर चित्तरूपी दिया रखा जाता है। भाव यह है कि चित्तमें निर्मल ज्ञान सदा परिपूर्ण रहे और सर्वजगत्‌में *'देख ब्रह्म समान सब माहीं'*, यह वृत्ति एकरस दृढ़ बनी रहे, नहीं तो ज्ञानरूपी निर्मल घी चित्तरूपी दीयेसे गिर जायगा तब दीपक जलेगा नहीं, सब किया-कराया परिश्रम मिट्टीमें मिल जायगा।

पं०—विज्ञानका निरूपण करनेवाली जो बुद्धि है, जिसने आत्मा ही पूर्णतया जानी है वह ममतारहित ज्ञानरूपी शुद्ध घी चित्तरूपी दीपकमें भरे। अर्थात् देह, इन्द्रियाँ, प्राण, अन्तःकरण—इन सबोंमें। और सदा आत्माकार ही अभ्यास रहे। *'समता दिअटि बनाइ'* अर्थात् ज्ञान करके सदा समतामें रहे।

रा० प्र०—विशिष्ट ज्ञानरूपिणी बुद्धिका भाव कि सब आवरण, परदे उसके दूर हुए, सब मल जल गया है।

मा० म०—अब ब्रह्म और जीवका भेद तथा ब्रह्म-जीवकी वाच्यता बिसर गयी। लक्ष्य वस्तु शुद्ध ब्रह्मको (सम) एकरस जानकर वह भाव ग्रहण करे और उस समताकी दीयट बनावे। जो ब्रह्मके यथार्थ

* विज्ञाननिरूपिनी—मा० म०। विज्ञान सरूपिनी—रा० प्र०। विज्ञानरूपिनी—मा० दा०।

स्वरूपको जानकर उसका यथार्थ प्रतिपादन करे वही विज्ञानरूपिणी बुद्धि है जो ब्रह्म-प्राप्तिका प्रकाशक है। ब्रह्मके ऐश्वर्य, रहस्य और आनन्द रूपको सदा समझता रहे वह चित्त है जो आनन्दका मूल है, क्योंकि प्राकृतिक चित्त पूर्व ही लीन हो गया है।

वि० त्रि०—*'विज्ञानरूपिनी बुद्धि।'* ☞ अब गुरुसे उपदिष्ट *'सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा'* (**तत्त्वमसि**) महावाक्यसे उत्पन्न विज्ञान जिसका रूप है ऐसी बुद्धिका कार्य प्रारम्भ होता है। अर्थात् गुरु-वेदान्तवाक्यसे जो ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव होता है उसे 'विज्ञानरूपिणी' बुद्धि कहते हैं।......। २—*'चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दियट बनाइ।'* अर्थात् 'चित्तमें वैषम्य न होने पावे, नहीं तो ज्ञान नष्ट हो जायगा। ☞ यह बाह्य समाधि हुई। इस प्रकार ज्ञानघृत तैयार हुआ, उसे दियेमें भरकर सुरक्षित स्थानमें रख दिया गया, तब साधकको साधु पदवी होती है। यथा—*'बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।'* (१। ३) ऐसे ही साधु महापुरुषोंकी कपाससे उपमा दी गयी है। साधुका चरित्र कपासका चरित्र कहा गया है, नीरस, विशद और गुणमय करके उसके फलका वर्णन किया गया है। यथा—*'साधुचरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥'* (१। २। ५) अपना कार्य जिससे हो उसे फल कहा गया है। जैसे तलवारका फल, बरछेका फल, वृक्षका फल। इसी प्रकार कर्मका फल देह है। साधुका शरीर विषय-रस-रूखा होनेसे नीरस कहा गया। ऐसे ही देहसे तीनों शरीरोंका पृथक् करना, तुरीयाकी प्राप्ति आदि, जिसका वर्णन पीछे किया जायगा। सम्भव है, दूसरेसे नहीं। दूसरोंके तीनों शरीर सरस होनेसे, मलिन और दोषयुक्त होनेसे एक-दूसरेसे ऐसे सने होते हैं कि उसको पार्थक्यका अनुभव नहीं हो सकता। यथा—*'काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप। ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तमकूप॥'* (७३)*

करु०—१ अब छठी भूमिका कहते हैं। इसमें अपने स्वरूपकी और ब्रह्मकी एकता करनेका अनुसन्धान है। यह विशेष विज्ञान है। २—*'तब'* अर्थात् जब घी जमकर विशद हुआ *'तब'* घृतरूप विज्ञान निरूपण करने लगी, जिससे विज्ञान विशद हुआ अर्थात् अनुभवद्वारा अनात्माके सम्बन्धसे आत्मा भिन्न देख पड़ा। यहाँ 'अपना स्वस्वरूप जीव अरूप-स्वरूप-ब्रह्म इन तीनोंकी एकताका निरूपण' विज्ञान है।

वै०—पहली भूमिकामें मन सावधान हुआ, उसके संकल्प-विकल्प विकार छूटे और पाँचवीं भूमिकामें पहुँचकर योगाग्निद्वारा ममता-अभिमान जले। अब बाकी रहे बुद्धि और चित्त। इनका व्यापार अब छठी भूमिकामें कहते हैं। जब शुद्ध आत्मरूपकी पहिचान हुई, ज्ञानघृत मिला तब विज्ञानको निरूपण करनेवाली, अर्थात् आत्मपरमात्मकी वृत्ति एकमें मिलानेवालीका काम आया कि वह समतारूपी दीवट बनाकर चित्तरूपी दियामें ज्ञानघृत भरकर उसपर रखे। अर्थात् मन-चित्त-बुद्धि-अहंकारकी वृत्ति एकमें मिलकर थिर होना समता दीवट बनता है। मन और अहंकारकी वृत्ति चित्तमें लीन बनी रहे और चित्तमें आत्मरूपका अखण्ड चिन्तन बना रहे और बुद्धि आत्मरूपके पहिचानमें लगे इत्यादि दीवटपर घी भरा दिया रखना है।

दो०—तीनि अवस्था तीन गुनि तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि॥ ११७ (ग)॥

अर्थ—कपाससे तीनों (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) अवस्थाएँ और तीनों (सत्त्व, रज, तम) गुण इनको निकालकर, तब तुरीयावस्थारूपी रूईको सँवार (अर्थात् धुनकर रूईका पहला और प्यूनी बनाकर) सुन्दर कड़ी बत्ती बनावे॥ ११७ (ग)॥

☞ चिराग हुआ, घी हुआ, अब उसमें बत्ती चाहिये तब तो दीपक जलाया जाय। बत्तीके लिये रूई चाहिये। रूई कपासको औटनेसे अर्थात् बिनौला आदि निकालनेपर मिलती है। उसी प्रकार अब ज्ञानदीपकके लिये बत्तीका सामान बताते हैं। यहाँ कपास, बिनौला और रूई इत्यादि क्या हैं सो इस दोहेमें कहते हैं।

---

* पं० श्रीकान्तशरणने त्रिपाठीजीके भाव मा० पी० से प्राय: अक्षरश: चुराकर लिखे हैं। केवल रेखाङ्कित 'शरीर' शब्दोंकी जगह 'अवस्था' शब्द रख दिया है। वि० त्रि० जीका कहीं प्रसंगभरमें या पुस्तकमें नाम नहीं है।

तीन अवस्थाएँ कपासके फाल वा बोड़रीपरके छिलके हैं और तीनों गुण भीतरके बिनौले हैं। तुरीयावस्था रूई है। बत्ती यदि कसी हुई पुष्ट नहीं हो तो लौ-प्रकाश एकरस ठीक नहीं रहेगा। कपासमें तीन फाल या बोड़री होती हैं, जिनके ऊपर छिलका होता है, तीनों फालमें बिनौला होता है, यह सब मिलकर कपास कहलाता है। **कपास**=रूई, बिनौला और छिलकाका मजमूआ। बिनौला और छिलका निकल जानेपर रूई रहती है।

वि० टी० का मत है कि मन कपास है। उसको तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीय-अवस्थाकी ओर झुकाते हैं। वीरकविजी तीनों अवस्थाओं और तीनों गुणोंको कपास वा कपासका ढोंढा मानते हैं और लिखते हैं कि 'तुरीयावस्था मोक्ष है। कपासके ढोंढ़में तीन भाग और प्रत्येक भागमें एक-एक रेखाएँ होती हैं। इस अभेदत्वमें अभेदरूपक है।' यह मत मा० म० का समर्थन करता है। वि० त्रि० देहको कपास मानते हैं। महादेवदत्तजी लिखते हैं कि 'तीनों गुण और तीनों अवस्थाएँ आत्माद्वारा स्फुरित होती हैं। जैसे रूई और बिनौला एक साथ उत्पन्न वैसे ही ये अनादिसे एक साथ। जैसे रूईसे बिनौला निकालते हैं वैसे ही तीनों अवस्थाएँ जो जीवके साथ हैं उनको निकाल डालें तो आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होकर तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंसे रहित तुरीयावस्था होवे।' इससे जीव कपास हुआ, ऐसा उनका मत जान पड़ता है।

पं०—'सत्त्व-रज-तम' ये तीनों गुण अविद्यारूपी कपासके फल हुए और तीन अवस्थाएँ तीन कपास हैं जो उस (कपास-फल) से निकले। इस कपासमेंसे तुरीयारूपी स्वच्छ रूई निकालकर बत्ती बनावे; अर्थात् जाग्रत्के अन्त और सुषुप्तिके आदिमें जो निर्विकल्प-संग तुरीया स्वरूप है उसमें वृत्तिका 'वहिरावण' यह बत्ती हुई।

करु०—बुद्धि बत्ती बारना चाहती है। यहाँ तीन गुण और तीन अवस्था ही कपास हैं और उसमें तुरीयावस्था रूई है, तीनों अवस्थाएँ और तीनों गुण बिनौला हैं। ***'बाती करै सुगाढि'*** अर्थात् दृढ़ करके बनावे जिसमें दीपककी ज्योतिरूप वृत्ति शुद्ध जलै अर्थात् लगे।*

वि० त्रि०—१ ***'तेहि कपास ते'*** कपासकी उपमा देहसे दी गयी है। जिस प्रकार कपासमें तीन कोष (खाने) होते हैं, उसी प्रकार देहमें तीन शरीर होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। पाञ्चभौतिक देहको स्थूल शरीर कहते हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, जिह्वा, घ्राण) तथा पञ्चकर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) तथा पञ्चप्राण (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) तथा बुद्धि और मन इन सत्रहके समूहको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इन दोनोंका कारण आत्माका अज्ञान है। जो आत्माके आभाससे युक्त होकर कारण-शरीर कहलाता है।

---

* करु०, मा० शं०—जाग्रत् अवस्था २४ तत्त्वों करके वर्तमान हैं, यह स्थूल-शरीर है। पचीसवाँ तत्त्व जीवात्मा है जिससे तीनों अवस्थाएँ स्फुरित होती हैं। स्थूल-शरीर जाग्रत्-अवस्थाका देवता विश्व है। वही जीव विश्वस्वरूप है और स्थूल-शरीरका भोग प्रत्यक्ष है। इस प्रकार २४ तत्त्व, विश्व देवता, स्थूल-शरीर, प्रत्यक्षभोग और सत्त्वगुण ये पाँच मिलकर जाग्रदवस्था है।

पञ्चतन्मात्रा, पञ्चकर्मेन्द्रियोंके विषय, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि—इन १७ तत्त्वोंसे स्वप्नावस्था हुई। तेजस् देवता है। जीव स्वप्नमें तेजस्रूप है अर्थात् अति सूक्ष्मप्रकाशकरूप लिङ्गशरीर, सूक्ष्मभोग और पवनवेगवाला होता है। इस प्रकार १७ तत्त्व, लिङ्गशरीर, सूक्ष्मभोग, तैजस देवता और रजस् गुण मिलकर स्वप्नावस्था है। सुषुप्तिमें सूक्ष्मतरभोग हैं। यहाँ जाग्रत्के २४ और स्वप्नके १७ तत्त्व दोनों एक होकर सम रहते हैं। प्राज्ञ देवता है। इस प्रकार—अज्ञानभोग, आनन्दभोग, जाग्रत्-स्वप्नकी साम्यता, प्राज्ञ और तामस गुण मिलकर सुषुप्ति अवस्था है।

मा० म० में चारों अवस्थाओंका विस्तृत वर्णन है। वे लिखते हैं कि तीनों अवस्थाओंके स्थूल, लिङ्ग और कारण-शरीर, उनके देवता (विश्व, तैजस, प्राज्ञ), उनके अक्षर (अ, उ, म), उनके रंग (पीत, श्वेत, लाल) और उनकी बारहों कलाएँ, अवस्थाएँ और तीनों गुण (सत्त्व, रज, तम) ये ही कपास हैं। इनके अभ्यन्तरसे तुरीया (महाकारणशरीर) रूपी रूईको निकाल लें।

तुरीयावस्थामें विद्याकृत श्रेष्ठ महाकारणशरीर है। इस शरीरका इकार अक्षर है, इसका अभिमानी देवता है, अर्द्धचन्द्र ऐसा रूप और चार कला है। यह महाकारणशरीर स्थूल, लिङ्ग और कारण तीनों शरीरोंके अभ्यन्तर सर्वज्ञभावसे सर्वाङ्गमें व्यापक होकर रहता है।

२—*'तीनि अवस्था तीन गुन।'*—इन्द्रियोंसे विषयका ज्ञान जिस अवस्थामें होता है उसे जाग्रत् कहते हैं। इन्द्रियोंके उपरत होनेपर जाग्रत्-संस्कार-जन्य सविषय ज्ञानको स्वप्न कहते हैं और जिस समय किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होता, बुद्धि कारण-शरीरमें जाकर ठहरती है, उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। सत्त्व, रज और तम तीन गुण हैं। जाग्रत् सत्त्वप्रधान है, स्वप्न रज:प्रधान है और सुषुप्ति तम:प्रधान है। ये ही तीनों अवस्थाएँ कपासके तीनों कोषोंकी तीन ढेढ़ियाँ हैं और सत्त्व, रज, तम उनके क्रमसे बीज हैं। कपासके प्रत्येक कोषमें बिनौलेसे लपटी हुई रूई होती है, उसे ढेढ़ी कहते हैं।

३—**काढ़ि**=निकालकर। भाव यह कि वैराग्य उत्पन्न होते ही साधु तीनों गुणोंको त्यागना चाहता है। उसकी विधि यह है कि स्थूल-शरीरसे ढेढ़ीरूपी जाग्रत् अवस्थाको अलग करके उसमेंसे बिनौलारूप सत्त्व अर्थात् वैषयिक ज्ञानको दूर करे। सूक्ष्मकी अवस्था स्वप्नमेंसे उसी वैषयिक ज्ञानके संस्कारको दूर करे। कारण-शरीरकी सुषुप्ति अवस्थामेंसे आत्माके ज्ञानको दूर करे। ☞ ये सब क्रियाएँ मनसे होती हैं अतएव राजयोगके अन्तर्गत हैं। यथा—*'कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥'* यह परम विराग ज्ञानरूप ही है। ☞ यह दृश्यानुविद्ध समाधि हुई।

४—*'तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै——।'* (क)—जब तीनों अवस्थाओंमेंसे तीनों गुण निकल गये, ढेढ़ीमेंसे बिनौले बाहर निकाल लिये गये, औटनेका काम समाप्त हुआ, तब केवल रूई बच गयी, वही तुरीयावस्था है। उसे भी सँवारके अर्थात् तुनकर उसमेंसे कोषोंके संस्कारको दूर करे। ☞ इस प्रकार **'त्वम्'** पदका शोधन हुआ। (ख)—**सुगाढ़ि**=खूब मोटी। अर्थात् तुरीयावस्थाके संस्कारोंको भलीभाँति घनीभूत करे, जिसमें सब मिलकर एक हो जावें।

पं० रा० व० श०—तीनों गुण और चारों अवस्थाएँ मिलकर कपास हुआ। तीनों अवस्थाएँ और तीनों गुण निकल जानेसे ज्ञान होगा कि हम अवस्थाके साक्षी हैं, ब्रह्मस्वरूप चिन्मय अविनाशी हैं। तुरीयरूप आत्माकी अवस्था तुरीयावस्था है।

करु०, शेषदत्तजी—तीनों अवस्थाएँ और तीनों गुण आत्माद्वारा अनादिकालसे स्फुरित हैं। जैसे रूई और बिनौलाको विधाताने एक साथ उत्पन्न किया है, पर जब यत्न करके कपाससे बीजको निकाल डाले तब केवल रूई रह जाती है*।

शेषदत्तजी—इसी प्रकार गुणत्रय और अवस्थात्रय जीवके साथ जानिये। पर जब विलक्षण आत्मा स्वस्वरूपमें स्थित हुआ तब गुणत्रयसहित अवस्थात्रयसे रहित हुआ; यही तुरीयावस्था है। पर इतनेपर भी जड़-चेतनकी वासना-ग्रन्थि सूक्ष्म होकर जीव बुद्धिके अन्तरमें याद तो बनी ही है।

वै०—यहाँ तीन अवस्थाएँ कपास बोड़रीके बकला हैं और तीनों गुण भीतर बिनौलासहित तीन पुरियाँ हैं। तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंके त्याग करनेपर जो शुद्ध आत्मरूपकी पहिचानरूपा तुरीयावस्था है वही रूई है। इस रूईकी कड़ी बत्ती बनावे। अर्थात् आत्मरूपका चिन्तन दृढ़ बना रहे। इस प्रकारसे दीप जलावे। योगाग्नि जो प्रकट कर चुके हैं उसीसे बत्तीको जलावे। तेजराशि अर्थात् जिसमें अनुभवप्रकाश समूह है। मदादि शलभ सब आकर जल मरते हैं। अर्थात् ☞ देहेन्द्रिय मनादिकी वृत्ति त्यागकर थिर चित्तसे आत्मरूपकी वृत्ति परमात्मारूपमें लगाना यह पदार्थाभावनी छठीं भूमिका हुई।

* करु०—'इसी प्रकार जब आत्मज्ञान हुआ तो उसे तुरीयावस्था कहते हैं। यहाँ तीन अवस्था तीन गुणमें अहंमम बिनौला है, अहंमम बिनौला निकल जानेपर तब उस आत्मज्ञानको दृढ़ करके ग्रहण किया। तहाँ जड़-चैतन्यकी जो ग्रन्थि है सो सूक्ष्मरूपसे बुद्धि जीवके अन्तर्भूत भेषादि बनी है। तहाँ बुद्धि आत्माकी शुभाशुभ शक्ति है इससे बुद्धि करिकै आत्मा मलिन है और बुद्धिही द्वारा आत्माको अपने स्वरूपका ज्ञान है।'

रा० प्र०—'तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि।' *'सँवारि'* का भाव कि उसमें कपास न मिलने पावे और न रूईके महीन सूत दिखायी पड़ें—(रा० प्र०) भाव कि बिनौला आदि जड़ कठिन भाग जो अविद्यादि मायाके हैं वे लेशमात्र भी न मिलें, सूत्र लग जाता है अत: वह न रहे और यदि बाधक सूत्र न दिखायी पड़े तो पहिले तूलरूपी तुरीयकी प्यूरी बनाकर तब कातकर सुन्दर दृढ़ सूत्रकी बत्ती बनावे जिससे चिर प्रकाश रहे।'

सि० ति०—देहवृत्ति कपास-फलकी तरह कही गयी। उसमें तीन अवस्थाएँ छिलके हैं और तीनों गुण **बिनौले** हैं। उनको पृथक् करे; अर्थात् इनके द्वारा होनेवाले कार्योंको अपनेसे पृथक् समझे कि तीनों गुणोंके द्वारा तीनों अवस्थाओंकी कार्य-सत्ता है और आत्मा उनका साक्षीमात्र है, सब व्यापार गुणोंसे ही होते हैं; यथा—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥**'(गीता ५। ८-९) अर्थात् मैं कुछ नहीं करता। देखना-सुनना आदि सभी कार्य इन्द्रियाँ करती हैं, ऐसा तत्त्वज्ञानी माने। पुनः, '**गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥**' (गीता ३। २८), अर्थात् गुण ही गुणोंमें परस्पर बर्त रहे हैं, ऐसा मानकर ज्ञानी इनसे लिप्त नहीं होता। '**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥**' (गीता ३। २७) प्रकृतिके गुणोंसे सब कर्म किये जाते हैं, अहंकारसे मूढ़ ही अपनेको कर्ता मानता है इत्यादि विचारोंसे आत्माको तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंसे पृथक् साक्षात्कार करे। तब वह इनकी वृत्तियोंसे असंग रहकर एकरस आत्मचिन्तन कर सकेगा।

सो०—एहि बिधि लेसै दीप तेजरासि बिज्ञानमय।
जातहि जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब॥ ११७ घ॥

अर्थ—इस प्रकार तेजराशि विज्ञानमय दीपक जलावे, जिसके समीप जाते ही मदादि सब पतंग जल जायँ॥ ११७॥

करु०—१ अर्थात् उसी योगाग्निसे इसी रीतिसे बुद्धिने विज्ञानरूप दीप 'लेसा' (=जलाया) जो तेजराशि विज्ञानमय है। २ ☞ विज्ञान छठी भूमिका हुई, आगे सातवीं भूमिका कहते हैं।

पं०—यहाँ बुद्धिरूपी सखी योगाग्निसे अर्थात् समाधिके बलसे ज्ञानरूपी दीपकको जलावे। यहाँ विज्ञानमयसे निदिध्यासनज्ञान-तात्पर्य है। मनन-ज्ञानसे निदिध्यासन-ज्ञान विशेष है; इसीसे विज्ञान कहा, जिससे अहंकारादि शलभ अर्थात् अविद्याका बल निवृत्त हो गया।

वि० त्रि०—१ *'एहि बिधि'* इति। इस विधानसे, अर्थात् जो ऊपर कह आये हैं। प्रकाशके और भी बहुत उपाय हैं। तेलके दीयेसे भी प्रकाश होता है, विद्युत्से भी प्रकाश होता है, परंतु अन्य उपायोंसे आत्मानुभवसुखका प्रकाश न होगा। शास्त्रकी विधि त्याग करनेसे कदापि कल्याण नहीं हो सकता। ग्रन्थि छूटनेके पहले ठीक-ठीक विधिनिषेधके अनुसार बरतना होगा, अतएव जो विधान कहा गया है उसीके अनुसार करे, यह नहीं कि दूधको ही मथकर मक्खन निकाल ले, अथवा घीका काम तेलसे ही ले ले।

२—*'लेसै दीप'* अर्थात् बत्तीको घीके दीपमें छोड़ दे, जिसमें बत्ती घीसे भीग जाय, तब उसे योगाग्निसे लेस दे। भाव यह कि तुरीयाको परोक्षज्ञानमें डुबा दे। 'त्वम्' पदके लक्ष्यार्थको *'तत्'* पदके लक्ष्यार्थमें लीनकर सानन्द समाधिमें स्थित हो। (उपर्युक्त तुरीयाकी एकत्र वृत्तिको आत्मस्वरूपमें लीन कर दे तब उसे योगाग्निसे लेस दे। सि० ति०।) इसे शब्दानुविद्ध समाधि कहते हैं। ३—*'तेजरासि बिज्ञानमय।'* इस प्रकार विधिसे जलाया हुआ दीप तेजोमय होता है। उसे विज्ञानमय इसलिये कहते हैं कि उससे अपरोक्षज्ञान होता है, यथा—*'दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी।'* (*'तेजरासि'* अर्थात् उससे अनुभवप्रकाशसमूह होता है; यथा—*'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा'* यह आगे कहा है। 'विज्ञानमय'—मयट् प्रत्यय यहाँ तद्रूपमें ही है। यहाँतक विज्ञान अर्थात् प्रकृति-वियुक्त आत्माके ज्ञानका साक्षात्कार हुआ। सि० ति०।)

४ (क) *'मदादिक सलभ सब'*—यहाँ दीया जला कि शलभ अर्थात् पतंगे चले। झुण्ड-के-झुण्ड कभी-कभी दीयेपर टूट पड़ते हैं, स्वयं जलते जाते हैं, पर यदि दीया दुर्बल हो तो उसे बुझाकर ही छोड़ते हैं। मद, मात्सर्य आदि शलभ हैं। शलभ इसलिये कहा कि मायाका परिवार बहुत बड़ा है, यथा—*'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा॥'*(७१। ७) (ख) *'जातहि—'* का भाव कि इतने प्रबल होनेपर भी उस दीयेतक नहीं पहुँच पाते। समीप आते ही नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् ☞ मदादिकी इस शब्दानुविद्ध समाधितक गति नहीं है। इससे तेजोराशि विज्ञानमयका साफल्य दिखलाया। (यहाँ मदको आदिमें कहकर

भाव स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रकृतिके परिणामरूप देह एवं गुणोंसे ही जाति, विद्या, महत्त्व आदिके मद होते हैं। तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंसे आत्मा सर्वथा संगरहित हो चुका है, तब मद आदिकी पहुँच वहाँतक कैसे होगी। मदकी तरह और भी सब विकार गुण-संगसे ही होते हैं। सि० ति०)

सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा॥ १॥

अर्थ—'**सोऽहमस्मि**' वह मैं हूँ यह अखण्ड वृत्ति ही उस दीपककी परम प्रचण्ड लौ है। (भाव कि यह ध्वनि निरन्तर अजपाजाप रीतिसे होती रहे। लय न टूटे)॥ १॥

करु०, शेषदत्तजी—यहाँ तो अखण्ड वृत्ति कह रहे हैं और आगे मायाके प्रचण्ड पवनसे इसका खण्डन कहते हैं, यह कैसा? समाधान यह है कि बुद्धिने अपने अनुभवबलसे आत्मामें परमात्मत्व ग्रहण किया है; इससे अपनी सामर्थ्यभर तो उसने सँभाला है, पर माया प्रबल है अतएव उसके द्वारा विघ्न भी लिखेंगे। श्रीरामचन्द्रजीकी शरण न होनेसे माया उस ज्ञानवृत्तिको खण्डित कर देती है।

पं०—गुरुने शिष्यप्रति उपदेश किया कि '**तत् त्वमसि**' उस उपदेशको दृढ़ करनेपर शिष्यने कहा कि '**सोऽहमस्मि**'।

वै०—अखण्ड कहनेका भाव कि पानी पवन पतंगादिकी बाधासे दीपक बुझ जाता है। वैसे ही ज्ञानदीपकमें मायाकृत अनेक बाधाएँ हैं। इनसे रक्षा रखे तो अखण्ड रहेगा नहीं तो खण्डित होनेका सदा भय है। सदा परिपूर्ण आत्म-परमात्मकी एकता बनी रहना यही परम प्रचण्ड अत्यन्त तेजमान दीपककी शिखा (लौ) है।

वि० त्रि०—१ (क) *'सोहमस्मि।'* भाव यह कि *'सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा'* इस महावाक्यके श्रवणमननके पश्चात् 'वह मैं हूँ' इसी रूपमें निदिध्यासन है। (ख) *'इति बृत्ति अखंडा।'* 'वह मैं हूँ' यह वृत्ति बराबर बनी रहे, विक्षेप न होने पावे। भाव यह कि समाधिमें निर्वात दीपकी भाँति अचल एकरस चित्त बना रहे। (ग) *'दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा।'* यही अपरोक्ष ज्ञानवृत्ति-दीपकी परम प्रचंड लौ है। मायाकी सेना प्रचण्ड है, यथा—*'ब्यापि रह्यो संसार महँ माया कटक प्रचंड'* उसके भस्म करनेके लिये 'परमप्रचंड' की आवश्यकता है, सो यह दीपशिखा परमप्रचंड है।

मा० म०—१ *'दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा'* इति। *'सोहमस्मि'* अर्थात् जो परतर सदा एकरस विलक्षणरूप ब्रह्म है सो मैं ही हूँ यह दृढ़वृत्ति दीपकी (शिखा) ज्योति है। पुनः, जिस ब्रह्मसे मिलने चले सो दूसरा कोई नहीं है वरन् मैं ही हूँ, यह उस बत्तीकी प्रचंड शिखा है। २—*'बृत्ति अखंडा' 'परम प्रचंडा'* कहनेका भाव कि इस अवस्थामें किञ्चित् भी अपने जीवत्वका स्मरण न होवे, दृढ़तापूर्वक *'सोहमस्मि'* की धारणा बनाये रखे। इस अवस्थामें कभी-कभी बुद्धिको सूक्ष्मभावसे संसारका होश हो जाता है, उसको निश्चय करके विस्मरण कर दे। *'सोहमस्मि'* वृत्ति होनेपर यही सूक्ष्मग्रन्थि रह जाती है।

बाबा जयरामदासजी दीन—*'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा—'* इस चौपाईको उद्धृत करके अद्वैतवादियोंका कहना है कि *'सोहमस्मि'* शब्द लिखकर श्रीगोस्वामीजीने अद्वैतवादको स्वीकार किया है।

समाधान—इस ज्ञानदीपकप्रसङ्गको भी आरम्भसे ही देखिये, स्पष्ट शब्द भरे पड़े हैं—*'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो माया बस भएउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥ जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥'* इसमें साफ जीवको ईश्वरका अंश माना गया है और यह भी कहा गया है कि वह मायाके अधीन है। इस प्रकार ब्रह्म, जीव और माया, तीनों तत्त्वोंको अनादि मानकर प्रसङ्ग उठाया गया है। पुनः, उस जड़-चिद्-ग्रन्थिकी निवृत्तिका आधार भी ईश्वरकी कृपा ही दिखायी गयी है। यथा—*'अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥ सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपा हृदय बस आई॥'* इसके अतिरिक्त यहाँ केवल वाक्यज्ञान, वाक्यबोध ही नहीं वरं सम्पूर्ण साधनका क्रम दिया हुआ है। उसके बाद *'सोहमस्मि'* वृत्तिको केवल दीपशिखा माना है; अभी ग्रन्थिका छूटना बाकी है, ग्रन्थिका उसी प्रकाशमें पीछे छूटना बताते हैं—*'तब सोइ बुद्धि पाइ उजिआरा। उर गृह बैठि ग्रन्थि निरुआरा॥ छोरन ग्रंथि पाव जो सोई। तब यह जीव कृतारथ होई॥'*

वहाँ *'सोहमस्मि'* को 'फलस्वरूप' माना है—उसके बाद कुछ बाकी ही नहीं रह जाता। इसलिये इस *'सोहमस्मि'* का तात्पर्य यह है—**सः** (वह), **अहं** (मैं), **अस्मि** (हूँ); **सः** अर्थात् वही ईश्वर-अंश जो ऊपर कहा गया है, जो इस जीवका शुद्ध स्वरूप है, जिसको भूलकर यह अपनेको किसीका पुत्र, किसीका पिता, किसीकी प्रजा, किसीका राजा, किसी कुलका, किसी वर्णका, किसी आश्रमका मान रहा था। इस भ्रमकी निवृत्ति इतने साधनोंके बाद हो जानेपर जीव यह निश्चय करता है कि मैं तो शुद्धस्वरूप ईश्वरका अंश, चेतन, अमल हूँ, ये मायाकृत संसारी नाते झूठे थे और जब उसने अपनेको ईश्वरका अंश जान लिया तब वह संसार-सम्बन्धको मिथ्या मानकर उससे अलग हो जाता है। यही ग्रन्थिको निरुआरना या छोड़ना है। जब निश्चित रूपसे संसारी नाते छूट जाते हैं और केवल प्रभुकी ही प्रसन्नता जीव स्वीकार कर लेता है तब वह कृतार्थ हो जाता है, अतः यहाँ भी अद्वैतवाद नहीं है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—*'सोहमस्मि'* अर्थात् **सः, अहम्, अस्मि** (वह मैं हूँ)। इसमें **सः** शब्द व्याकरणकी रीतिसे सर्वनाम है, यह मुख्य संज्ञाके पश्चात् आता है, जैसे यज्ञदत्त घर गया, वह नहीं आया। यहाँपर इस प्रसङ्गमें ऊपर *'ईश्वर अंस—'* में ईश्वरांश शुद्ध जीवहीका मायावश होना कहा गया है। अतः '**सः**' शब्द उसीके लिये है। ब्रह्मकी ऊपर कहीं चर्चा नहीं है। हठात् उसका अर्थ करनेसे '**अन्येन भुक्तं अन्येन वन्तम्**' अर्थात् 'दूसरेने खाया और दूसरेने वमन किया' रूपदोष उपस्थित होगा।

अतः जो जीव मायावश हुआ था, उसीको प्रकृति (माया) नियुक्त होनेपर अपना स्वरूप साक्षात्कार हुआ तो उसीका *'सोहमस्मि'* से अनुसन्धान है कि मैं वही—'ईश्वर-अंशरूप अविनाशी जीव शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप हूँ।' यहाँ ब्रह्मात्मक-रूपसे ही जीवका लक्ष्य है। इस दृष्टिसे '**अहं ब्रह्मास्मि**' एवं '**सोऽहमस्मि**' ब्रह्मपरक भी युक्त ही है। पर जीवभाव त्यागपूर्वक ब्रह्मभाव नहीं, उस ईश्वरांशकी ब्रह्मात्मक रूपसे अर्थात् ब्रह्मको अपना आत्मा (अर्थात् अभिन्न) मानकर ही उपासना की जाती है। पूर्व ***'बारि बीचि इव गावहिं बेदा'*** में कही हुई तात्त्विक एकता भी रहती है।

इस प्रकार जीवात्माकी ब्रह्मात्मकरूपमें उपासना श्रुतियाँ भी कहती हैं। यथा—'**ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धा ᳬसत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः।**' (बृहदा० ६। २। १५)—इस श्रुतिमें प्रकृति-वियुक्त-जीवात्म-साक्षात्कारवालेकी मुक्ति कही गयी है।

ब्रह्मसूत्र आनन्दभाष्य (४। ३। १५)-में तथा गीता (१२। १—५)-में विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तके भाष्यकारोंने प्रौढ़ प्रमाणोंके साथ ब्रह्मकी और प्रकृति-वियुक्त जीवात्माकी दोनों उपासनाएँ प्रतिपादित की हैं। यह भी कि जीवात्मोपासना कठिन है और परमात्मोपासना उससे सरल है। विशेष विवेचन वहीं देखना चाहिये।

यहाँ जीवात्मोपासनाका ही प्रसङ्ग है, इसकी ब्रह्मात्मकरूपसे ही उपासना होती है। '**आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।**' (ब्रह्मसूत्र आनन्दभाष्य); पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें भी '**अहं ब्रह्म**' ऐसी अभिन्न उपासना स्वीकार की गयी है। अतः यहाँपर मुझे '**सोऽहमस्मि**' का ब्रह्मपरक अर्थ करनेमें अड़चन नहीं होती, पर यहाँ ऊपर ब्रह्मकी चर्चा नहीं है। तो '**सः**' से ब्रह्म कैसे लिया जाय?

श्रुतियोंमें जहाँ '**सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि**' ब्रह्मपरक कहा गया है, वहाँ प्रथम ब्रह्मका वर्णन करके। यथा—'**य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि।**'(छां० ४। १२। १) '**य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि।**'(छां० ४। १३)

इन्हीं दोनों उपासनाओंके अभिप्रायसे श्रीगोस्वामीजीने भी दो ही प्रकारकी मुक्तियोंका विधान किया है; यथा—*'रामचरन रति जो चहइ अथवा पद निर्बान।'* (१२८) 'अथवा' शब्दसे निर्वाण-पदको भिन्न प्रकारकी ही मुक्ति कहा है।

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद* भ्रम नासा॥ २॥

अर्थ—आत्म-अनुभव-सुख ज्ञानदीपकका सुन्दर (निरावरण) प्रकाश जब हुआ तब संसारके मूल भेद भ्रमका नाश होता है॥ २॥

पं०—'**आतम अनुभव सुख**'=वह स्वरूपानन्द जो '**सोऽहमस्मि**' की अखण्ड वृत्तिके होनेसे हुआ है। मायाको सत्य जानना यह भ्रम है। अज्ञान भवका मूल है।

करु०—यहाँ ब्रह्मानन्द ही आत्मानुभव सुख है। यह दीपकका सुप्रकाश है। अनुभव ४ प्रकारका है—१—इन्द्रियजनित अहंकारानुभव जो तामस-गुणमय है। २—मनका अनुभव जो राजस-गुणमय है। ३—चित्तका अनुभव जो सात्त्विक-गुणमय है। ४—आत्मानुभव जो गुणातीत ब्रह्ममय है—यही ज्ञानदीपकका प्रकाश है। तब भेदभ्रम जो अपनेहीमें है और जो संसारमें जन्म-मरणके कारण हैं, वे नाश हो जाते हैं।

वै०—'***आतम अनुभव सुख*——**' इति। दीपक जलनेपर प्रकाश होता है। यहाँ आत्मानुभव अर्थात् आत्मरूप साक्षात्कार होनेका सुख एकरस बना रहना विज्ञानका प्रकाश है।

सि० ति०—'***आतम अनुभव सुख***'—अर्थात् स्वस्वरूपानन्द, इसे ही ब्रह्मानन्द भी कहते हैं, क्योंकि '**अहं ब्रह्मास्मि**' इस वृत्तिसे और ब्रह्मके साधर्म्य प्राप्त होनेसे इसे ब्रह्मके समान ही सुख प्राप्त होता है, इसी सुखके प्रति कहा—'***निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।***' (९०। ७) '***ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा।***', '***ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जो पै सो रस पावै।***' (वि० ११६)

वि० त्रि०—१ '***आतम अनुभव सुख।***' इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है। क्योंकि वृत्तिजन्य अपरोक्ष ज्ञान भी आत्मानुभव सुखरूप ही है—'***जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव बिपति सतावै। ब्रह्म पियूष मधुर सीतल मन जो पै सो रस पावै। तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निसिबासर धावै।***'

आत्मानुभव सुख ही सुप्रकाश है। भाव यह कि ब्रह्माकार वृत्ति करके समाधिमें स्थित होनेसे अपरोक्ष ज्ञानकी अखण्ड वृत्ति होती है और उससे आत्मानुभव-सुख होता है, और जब आत्मानुभव-सुख होता है, तब '***भवमूल भेद भ्रम नासा।***'

करु०—भेद तीन प्रकारके हैं—१ सजातीय (जैसे कि मनुष्य सब एक हैं, ब्राह्मण-ब्राह्मण सजातीय हैं इत्यादि, पशु संज्ञा एक है)। २ विजातीय (जैसे कि ब्राह्मण और क्षत्रिय भिन्न-भिन्न जाति)। ३ स्वगत (जैसे कि ब्राह्मण-ब्राह्मणमें भेद गऊ-गऊमें भेद इत्यादि। वर्णाश्रममें भेद)—इत्यादि भेद भवका मूल है। यह मिट गया। जीव यद्यपि अनेक हैं तथापि एक तत्त्व हैं, अभेद हैं, इनमें भेद नहीं। भेदबुद्धि मिट गयी। पुनः, दूसरी प्रकारसे अर्थ करते हैं। शुष्काद्वैतवादी यह भेद कहते हैं कि देखिये तो जो बालबुद्धि प्राणी हैं वे अपनी आत्माको जीव माने हैं और ब्रह्मको ईश्वर, अपनेको सेवक, ईश्वरको स्वामी इत्यादि, यह भेद भ्रम है, यह भवका मूल है सो नाश हो गया। क्योंकि 'जीव ब्रह्म विषे उपाधि करके भेद हैं। उपाधि मिटनेपर जीव ब्रह्म एक ही है। अथवा, भेद-भ्रम, तैं मैं इत्यादिका, सो मिट गया।'

भवमूल भेद-भ्रम—माया भवकी मूल है। भेद यह कि आत्मरूप भूलकर जीव होकर ईश्वरसे भेद मानकर भेदाभिमानी हो गया। भ्रम यह कि झूठमें सत्यकी प्रतीति कर ली। ['**रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः**' '***रजत सीपमहँ भास जिमि——भ्रम न सकै कोउ टारि।***']

वि० त्रि०—'***भेद भ्रम***' कहनेका भाव कि वस्तुतः ब्रह्म-जीवमें अभेद है। भेदभाव केवल भ्रम है, यथा—'***निज भ्रम ते संभव रबिकर सागर अति भय उपजावै। अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै॥ तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निर्मूल न जाई। तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय तरिय नहिं भाई॥***'

भेद न होनेपर भी भेदका भ्रम होता है, यथा—'***चितव जो लोचन अंगुलि लाये। प्रगट जुगल ससि तेहिके भाये॥***' और भेद-भ्रमसे स्वरूपका विस्मरण होता है, यथा—'***माया बस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रमते नाना दुख पायो॥ पायो जो दारुन दुसह दुख सुख लेस सपनेहु नहिं मिल्यो। भय सूल सोक अनेक।***' '***भवमूल***' का भाव

* देह भ्रम—(का०)। भेद भ्रम—भा० दा०, मा० म०, रा० गु० द्वि०।

कि यह भेद-भ्रम ही संसारका मूल है और जिसका मूल भ्रम है वह पदार्थ वस्तुतः नहीं होता, यथा—*'जग नभबाटिका रही है फल फूलि रे। धुआँ कैसो धौरहर देखि तू न भूलि रे।'* 'नासा' का भाव कि मूल नष्ट होते ही वस्तु छिन्नमूल होकर गिर जाती है, पर जिसका मूल भ्रम है, उस वस्तुका तो भ्रमके नष्ट होनेपर पता भी नहीं चलता। यथा—*'तब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी॥'*

मा० म०—ब्रह्मरूपकी प्राप्तिसे जो सुख हुआ वही प्रकाश है, जिसके होनेसे सजातीय इत्यादि इष्टादिक तथा भ्रम सब नाश हो गया।

शेषदत्तजी—भेद-भ्रम त्रिधा है। स्वगत, सजातीय और विजातीय—**'यदुक्तं पञ्चदश्याम्—वृक्षस्य स्वगता भेदाः पत्रपुष्पफलादिभिः। वृक्षान्तरे सजातीयो विजातीयः शिलादितः॥'** द्रष्टा, दृष्ट, दृश्य, ध्याता, ध्यान, ध्येय, ब्रह्म, जीव, माया, साधक, साधन, साध्य इत्यादि सब भेद-भ्रम हैं। इनके नाशसे भव निर्मूल होता है—*'तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै'* इति। (विनय) इस चौपाईका सिद्धान्त केवल ध्येयाकार ही है।

सि० ति०—भवमूलक भेदका नाश हो जाता है, जिसे भ्रमसे मान लिया था कि मैं एवं जगत् ईश्वरसे भिन्न हैं, अर्थात् सब उसके शरीर-रूप नहीं है। नानात्व-भ्रम ही भेद-भ्रम है, वह नाश हो जाता है। भेद तीन प्रकारके जो पञ्चदशीमें कहे गये हैं, उसमेंसे सजातीय और विजातीय ये दोनों भेद भवमूलक हैं, इन्हींका नाश होता है। स्वगत भेद जो शरीर-शरीरी-सम्बन्धका है, वह रहता है; किन्तु वह भवमूलक नहीं है; यथा—*'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।'* (११२) यह भेद अभेदवादी लोमशजीकी विजयपर उपादेय-रूपमें कहा गया है।

पुनः सूर्य पूर्ण ज्ञानवान् माने गये हैं; यथा—**'तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।'** (गीता ५। १६) उनका भी ब्रह्मके साथ शरीर-शरीरी-भेद है; यथा—**'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।'**(बृहदा० ३। ७। ९) इस श्रुतिमें सूर्यरूप जीवका प्रेरक एवं शरीरी ब्रह्म कहा गया है।

वि० टी०—*'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा……।'* अर्थात् ऐसे आत्मज्ञानके अनुभवके सुखरूपी प्रकाशसे संसारके कारण-स्वरूप भेद और भ्रम मिट जाते हैं। भाव यह कि विशेष ज्ञान होनेसे जीव ही ब्रह्म है, ऐसी जो अटल धारणा बँध जाती है, उसीसे सुख मिलता है और इस असार संसारकी सत्यता विचारमात्र है, ऐसा स्पष्टरूपसे समझ पड़ता है, सो यों कि **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'** अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् झूठा है और जीव-ब्रह्म एक ही है, दूसरा नहीं। श्रीमत्-शंकराचार्यजी शतश्लोकीमें कहते हैं—**'आत्मानात्मप्रतीतिः प्रथममभिहिता सत्यमिथ्यात्वयोगाद् द्वेधा ब्रह्मप्रतीतिर्निगमनिगदिता स्वानुभूत्योपपत्त्या। आद्या देहानुबन्धाद्भवति तदपरा सा च सर्वात्मकत्वादादौ ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव उदिते खल्विदं ब्रह्म पश्चात्॥'** अर्थात् पहले ही सत्य ज्ञान और मिथ्या ज्ञानद्वारा क्रमसे आत्मा और अनात्माकी प्रतीति कह चुके हैं। (अब और सुनो) वेदमें दो प्रकारकी ब्रह्मप्रतीति कही गयी है, यथा एक तो स्वानुभवसे और दूसरी निश्चयात्मक प्रमाणसे। पहिली प्रतीति तो शरीरकी उपाधिसे होती है और दूसरी, ब्रह्म-सर्वात्मक है, इस विचारसे होती है। पहिली प्रतीतिमें 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुभव होता है, उसके पश्चात् 'सभी ब्रह्म हैं' ऐसी प्रतीति होती है।

पां०—*'भेद भ्रम'* अर्थात् भ्रमसे जो भेद जान पड़ता है। अपनेको ईश्वरसे भिन्न मानना भेद-भ्रम है। यह संसारका मूल है।

प्रबल अबिद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटै अपारा॥ ३॥

अर्थ—प्रबल अविद्याका प्रबल परिवार मोहादि अपार तम मिट जाता है॥ ३॥

नोट—१ (क) दीपकके प्रकाशसे अन्धकार नष्ट होता है। ज्ञानदीपकके प्रकाशसे मोहादिरूपी घोर अपार अन्धकार नष्ट होता है। (ख) अविद्या प्रबल है, यथा—*'अतिसय प्रबल देव तव माया।'* प्राबल्य पूर्व दिखा आये हैं। उसका परिवार भी प्रबल है। यथा—*'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनइ पारा॥'* (७१। ७) परिवार और उसकी प्रबलता पूर्व कई स्थानोंमें दिखायी जा चुकी है

कि *'मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ', 'सिव चतुरानन जाहिं डेराहीं।'* (७१। ८) तब औरोंकी क्या चली? परिवारका वर्णन *'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* (७०। ७) से *'यह सब माया कर परिवारा।'* (७१। ७) तकमें वर्णित है। वहाँ मोहहीसे प्रारम्भ किया है और यहाँ भी *'मोह'* को आदिमें कहकर वही सब पूर्वकथित वस्तुका निर्देश किया है। (ग) *'तम अपारा'* मोहादि परिवारकी गणना नहीं हो सकती, न उससे कोई पार पा सकता है, यथा—*'प्रबल अमिति को बरनइ पारा'* अत: *'तम अपारा'* कहा। मोह आदिको तम कहा, क्योंकि इस प्रसङ्गके प्रारम्भमें उसे तम कह आये हैं, यथा—*'जीव हृदय तम मोह बिसेषी।' 'ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी॥'* (११७। ७) वहाँ जो *'बिसेषी'* कहा था उसका अर्थ यहाँ खोला—*'अपारा'।*

वि० त्रि०—*'मोह आदि तम अपारा मिटहिं।'* भाव कि अविद्या-रात्रिमें मोहादि अन्धकार होता है, यथा—*'महामोह तम पुंज।'* आत्मानुभव-सुख-प्रकाशसे ही यह अपार अन्धकार मिटता है, यथा—*'भएउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं। ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं।'*

पं०—मोहादि अविद्याका परिवाररूपी तम मिट गया। तात्पर्य कि अविद्याका संस्कारमात्र रहा 'जिससे अपनेको आत्मा जानना' (अपनेको कभी-कभी आत्मा जानने लगता है)।

शेषदत्तजी—*'प्रबल'* कहकर पञ्चपर्वा अविद्या जनाया। मोहादि तमके मिटनेपर भी जीवत्वजनित कुछ मोह रह जाता। यदि न रहे तो विज्ञानदीपक बुझ नहीं सकता। ऐसा समझना चाहिये कि जैसे दीपक जलनेपर घरका अन्धकार मिटकर दीपकके नीचे जा छिपता है, दीपक बुझनेपर फिर प्रकट हो जाता है वैसे ही यहाँ मोहका परिवार, मोहकी कार्यप्रबलता तो मिटी, पर मोहका कारणस्वरूप जो अतिसूक्ष्म है वह ज्योति मूलमें बनी है। विज्ञानदीपकमें **'सोऽहमस्मि'** की अखण्ड वृत्ति आत्मानुभवसुखरूपी प्रकाश है, पर परमात्मानुभव सुखसे कुछ रहित है, इसीसे बुझनेका भय है।

करु०—अविद्याके चार गुण हैं। १—असत्य संसारमें सत्यकी बुद्धि। २—सुत-दारा आदि दु:खरूप हैं उनको सुखरूप मानना। ३—पञ्चतत्त्व-रचित यह अशुचिमय शरीर है उसमें शुचिबुद्धि होना और ४—अनात्म जो देहादि उसमें आत्मबुद्धि करना।

तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा। उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा॥ ४॥

अर्थ—(आत्मानुभवसुखरूपी सुप्रकाश होनेपर मोहादिरूपी अपार तम जब मिटा) तब वही (विज्ञानरूपिणी पूर्वकथित) बुद्धि उजाला पाकर हृदयरूपी अपने घरमें बैठकर गाँठको छोड़ती है। अर्थात् सूक्ष्म भावसे जीवत्वका तथा संसारका स्मरण सर्वथा मिटा देनेका अवसर अब मिला, उसीको मिटाने लगती है॥ ४॥

नोट—१ *'सोइ बुद्धि'* कहनेका भाव कि जिसने पूर्व कई और काम किये हैं, जो ऊपर *'जोग अगिनि करि प्रगट तब—'* से लेकर तीन दोहों और सोरठेमें कहे गये हैं, वही ग्रन्थि छोड़नेका कार्य भी करती है।

२—*'पाइ उँजियारा।—'* पूर्व जब कहा कि *'जीव हृदय तम मोह बिसेषी',* तब कहा कि *'ग्रन्थि छूट किमि परइ न देखी।'* जब मोहतम मिटना कहा, यथा—*'मोह आदि तम मिटै अपारा'* तब *'पाइ उँजिआरा'* कहा; इस तरह जनाया कि अब ग्रन्थि देख पड़ने लगी जो पूर्व *'परइ न देखी।'* ग्रन्थि देख पड़ी तब बैठकर उसका खोलना कहा। यह सब क्रमसे कहा। आत्मानुभव-सुख होते ही कल्पित ग्रन्थि छूट जाती है, अत: *'पाइ उँजियारा'* कहकर *'ग्रन्थि निरुआरा'* कहा। यथा—'**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया:। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराऽवरे॥**'(मुण्डकोपनिषद् २। ८) अर्थात् उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेनेपर इस जीवकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं।

३—(क) *'उर गृह'*। बुद्धिचतुष्टय अन्त:करणमेंसे एक है, अत: उसका घर हृदय कहा। (ख) *'बैठि'* से जनाया कि अभीतक वह अपार तमके कारण उसके मिटानेके उपायोंमें व्याकुल फिर रही थी, उसे

बैठनेको भी न मिला था। अब बैठने पायी। (ग) ग्रन्थिका स्वरूप *'जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई।'* (११७। ४) में कहा गया है।

पं०—अविद्याका जो सूक्ष्म अंश रह गया है वही अब ग्रन्थि है। खोलनेका स्वरूप यह है कि 'ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, त्रिपुटी न रहे'।

करु०—जड़ मायामें अपनपी-रूपी ग्रन्थि तो छठी भूमिकाद्वारा छूट गयी, पर अभी चित्तकी वृत्तिमें बाह्यान्तर देहादिक संसार-स्थूल-सूक्ष्मके त्यागकी गन्ध कुछ सूक्ष्मतर है, (अर्थात् किञ्चित् सुध बनी है कि हमने यह सब त्याग कर लिया), यही ग्रन्थि अभी छोड़नेको है। चित्तवृत्तिसे इस त्यागकी सुध पूर्णतया विस्मरण होना ग्रन्थिका खुलना है।—[रा० प्र०—'निरुआरा'—जो अनेक सूत एकसे (एकमें उलझे) हुए हैं, उनको शिथिल करना जिसमें खुल जाय।]

वै०—ग्रन्थि रस्सी आदिकी होती है, यहाँ वह क्या है? सत-रज-तमादि गुण रस्सी हैं। त्रिगुणमय जो कर्मोंकी वासना अनादिकालसे चली आती है, यही ग्रन्थि है। माया नर्तकी उसीसे जीवको बाँधे हुए बंदरकी तरह नचाती है। यथा—भागवते पञ्चमे—**'अनादिकालकर्मवासनाग्रन्थितमविद्यामयं हृदयग्रन्थिं सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गतः।'** देहेन्द्रिय सुखकी वासनाका मिट जाना ग्रन्थिका छोड़ना है। बुद्धि इसी अन्तःकरणकी सूक्ष्म वासनाको मिटाती है।

वि० त्रि०—१ *'पाइ उँजियारा।'* भाव यह कि उपर्युक्त सब कार्य अन्धेरेमें हुए, केवल पहले थोड़ा-बहुत उँजियाला अकाम-अग्निका दूध औटानेतक, और बाद उसके योगाग्निका, दीया जलनेतक स्थूल कार्य करने योग्य था। उनसे मोहादि तम मिट नहीं सकते थे। २—*'उर गृह बैठि……।'* भाव कि पहले कभी अन्तर कभी बाह्य संप्रज्ञात समाधिमें लगी थी अब स्थिर होकर बैठी। समाधिमें स्थिर होकर जड़-चेतनकी गाँठ खोलने लगी।

गाँठ तीन प्रकारसे पड़ी हुई है—(१) भ्रान्तिजन्य, (२) सहज और (३) कर्मजन्य। अहंकार-(कारणशरीर-) का जो कूटस्थके साथ तादात्म्य है सो भ्रान्तिजन्य है, चिच्छायासे जो तादात्म्य है सो सहज है और देहसे जो तादात्म्य है सो कर्मजन्य है। कर्मजन्य ग्रन्थि कर्मके नाशसे नष्ट होती है। कर्म तीन प्रकारका होता है—(१) जन्मजन्मान्तरका कर्म-समूह जिसे संचित कहते हैं, (२) जिन्हें वर्तमान जन्ममें भोगना है उन्हें प्रारब्ध कहते हैं और (३) जो वर्तमान जन्ममें करते हैं, वह आगामी कहलाता है। सञ्चित कर्म ज्ञानीका नष्ट हो जाता है, आगामीसे उसका लेप ही नहीं होता, केवल प्रारब्ध शेष रह जाता है, वह जबतक शरीर है तबतक उसका भोग होगा ही। अतएव कर्मज ग्रन्थि विना कर्मक्षयके नहीं छूटती। जबतक भ्रान्तिजन्य और कर्मजन्य वृत्ति रहती हैं तबतक ग्रन्थि नहीं छूट सकती, प्रतिबिम्बके नाशसे नष्ट होती है। अतएव भ्रान्तिजन्य-ग्रन्थिका सुलझाना ही परम पुरुषार्थ है।

शेषदत्तजी—ग्रन्थि चतुर्धा है। स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम। इनमेंसे तीन तो ज्ञानकी षट् भूमिकाद्वारा छूट गयीं। *'सात्त्विक श्रद्धा'* से *'समधृति……'* तक सुत-वित-कलत्रादिका त्यागरूपी स्थूल ग्रन्थिका सुलझना जानिये, जिससे वर्तमान शरीर निर्विषय हो गया। *'बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।……'* में मनका निर्विषयी होना सूक्ष्म ग्रन्थिका छूटना है। *'तब बिज्ञान रूपिनी'* से चित्तका निर्विषयी होना सूक्ष्मतर ग्रन्थिका सुलझना है। अब जीवत्व-त्यागका स्मरणरूप सूक्ष्मतम ग्रन्थि रही उसका विस्मरण करनेमें लगना उस ग्रन्थिका छोड़ना है। विस्मरण, यथा—अष्टावक्रे—**'क्व चास्ति क्व च वा नास्ति क्वास्ति चैकं क्व वा द्वयं बहुनात्र किमुक्तेन किंचिन्नो तिष्ठते मम।'**

नोट—करुणासिंधुजीने तथा अन्य भी प्राचीन टीकाकारोंने ज्ञान-दीपक-प्रकरणमें सप्तभूमिकाएँ दिखायी हैं (किसीने इसको 'सप्तभूमिका' नाम दिया है और किसीने 'आत्माके सप्तप्रस्थान' यह नाम रखा है)—जो इस प्रसङ्गमें यथास्थान सप्तभूमिकाएँ कौन-कौन हैं, इसमें मतभेद है। किसीने कोई नाम दिये हैं, किसीने कोई। पर एक-एक भूमिका कहाँ-से-कहाँतकका प्रसंग है, इसमें सब एकमत हैं।

भूमिकाका नाम	कहाँ-से-कहाँतक	भूमिकाका तत्त्व
१—सात्त्विक श्रद्धा। वा, शुभ इच्छा।	*'सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई'* से *'निर्मल मन अहीर निज दासा'* तक।	सात्त्विक श्रद्धाको हृदयमें धारणकर सात्त्विक जप-तप आदि श्रुतिविहित शुभ धर्माचरण करते-करते सात्त्विक भाव उत्पन्न होगा। तब विषयोंसे वैराग्यकर मनको निर्मल और स्वाधीन करके विश्वासपूर्वक अहिंसामें प्रवृत्त हो। यहाँ जीवका धर्म प्राप्त हुआ। यह कार्य कामनायुक्त हुए।
२—परम धर्म। वा सुविचार।	*'परम धर्ममय पय दुहि भाई'* से *'तोष मरुत तब छमा जुड़ावै'* तक	जीवका परम-धर्म कहा। मनके निर्मल और वशीभूत हो जानेपर अहिंसामें प्रवृत्ति हो जायगी जिससे चित्तमें निष्कामता उत्पन्न होगी। इस भूमिकामें आत्मतत्त्वकी प्राप्तिकी मान इत्यादि रूपी उष्णता जाती रही। अहिंसा, निष्कामता, संतोष और क्षमाकी प्राप्ति हुई।
३—स्वरूपस्थिति। वा समधृति। वा, तनमानसा।	*'धृति सम जावन देइ जमावै।'*	निष्काम होनेसे मनमें संतोष होगा, संतोष होनेसे समता और धैर्य होगा। इस भूमिकामें विश्वासरूपी पात्रका अवलम्बन किये हुए ब्रह्मचिन्तनमें जीव अतिशय दृढ़ हुआ। निष्कामतापूर्वक प्राणिमात्रमें समता रखते हुए ब्रह्मचिन्तनमें एकमात्र दृष्टि लगाये असत् संसारका त्याग करे।
४—'बिमल वैराग्य।' वा, सत्वा-पत्ति।	*'मुदिता मथै बिचार मथानी'* से *'बिमल बिराग सुभग सुपुनीता'* तक (मयूख)—*'काढ़ि लेइ'*	मुदिता, विचार, दम, सत्य, सुवाणीसे विमल सुपुनीत वैराग्यकी प्राप्ति हुई। जिससे वह अब केवल ब्रह्महीकी ओर सदा अखिल भुवनको अपनेमें देखता है।
५—स्वस्व-रूपज्ञान। वा, असंसक्ति	*'जोग अगिनि करि प्रगट तब करम सुभासुभ लाइ।...... जरि जाइ'*	आत्माका परमात्मासे योग करनेसे शुभाशुभ कर्म नष्ट हुए, विमल वैराग्यमें जो किंचित् ममतारूपी छाँछ था सो जल गया, अब शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति हुई। चौथे प्रस्थानमें जो कुछ शरीर और मनका अध्यास सूक्ष्म वा स्थूल रह गया था, उसका इस पाँचवें प्रस्थानमें नाश हो गया। अब ब्रह्मके शुद्ध रूपका ज्ञान प्राप्त हुआ। ब्रह्मरूप धारण करनेवाली बुद्धि प्राप्त हुई।
६—विज्ञान। वा, पदार्था-भावना।	*'तब बिज्ञानरूपिनी बुद्धि बिसद'*.....से *'जरहिं मदादिक सलभ सब'* तक	इसमें ब्रह्म-जीवकी पृथक् वाच्यता दूर होकर एकताका एकरसों अनुभव होकर उसपर शुद्ध ब्रह्मका ज्ञान शोभित होनेपर तीन अवस्थाओं और गुणोंसे रहित होकर जीव शुद्ध तुरीयावस्थाको प्राप्त हुआ।
७—सोहमस्मि परम विज्ञान। वा, तुरीया।	*'सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा'* से *'मोह आदि तम मिटइ अपारा'* तक। वा *'तब यह जीव कृतारथ होई'* तक	अब कैवल्यकी ड्योढ़ीपर पहुँच गया, उसकी प्राप्ति समीप हो गयी।

छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब* यह जीव कृतारथ होई॥ ५॥

अर्थ—यदि वह (विज्ञानरूपिणी बुद्धि) गाँठ खोलने पावे तो यह जीव कृतार्थ हो जाय॥ ५॥

* 'तौ'—(का०)।

नोट—१ (क) *'जौं'* से ग्रन्थि छोड़ने पा सकनेमें संदेह जनाया। क्यों संदेह है?, यह आगेकी अर्धालीमें कहते हैं कि छोड़ते हुए *'बिघ्न अनेक करै तब माया।'* इत्यादि। (ख) *'तब कृतारथ होई'* का भाव कि ग्रन्थि छोड़ते समय विघ्न न हों और गाँठ छूट जाय तो कृतार्थ हो जाय। अर्थात् जो जीवका कृत्य (कर्तव्य) था वह कार्य पूर्ण हो जाय, फिर कुछ करना न रह जाय। नहीं तो कृतार्थ न होगा। (ग) *'यह जीव'* अर्थात् जो संसारी हो गया है, जिसका जड़मायासे गठबन्धन हो गया है।

वि० त्रि०—*'कृतारथ होई।'* अहंकारके साथ तादात्म्यकर अपने स्वरूपको विस्मरण करके अनादिकालसे जीव निद्रित पड़ा हुआ संसारका स्वप्न जन्म-मरण, सुख-दुःख आदिका अनुभव कर रहा है। जिस प्रकार कोई राजा स्वप्नमें अपने कारागारमें बद्ध होनेका अनुभव कर रहा हो। अतः निर्विघ्न असंप्रज्ञात समाधिके सिद्ध होनेसे, वह भ्रान्तिजन्य ग्रन्थि नष्ट हो जाती है एवं वह निद्रासे जाग पड़ता है। निद्रासे जाग जाना ही कृतकार्य होना है। फिर तो इस कारागारकी एक ईंट भी खोजनेसे नहीं मिलती। स्वराज्यसुख तो उसका कहीं गया ही नहीं था, प्राप्त ही था, केवल निद्रादोषसे अप्राप्त-सा हो रहा था, सो प्राप्त हो जाता है। निदान, सहज स्वरूपकी प्राप्तिसे वह कृतार्थ हो जाता है। यथा—*'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाईं।'*

पं० श्रीकान्तशरण—*'कृतारथ होई'*—जो जीवका कृत्य है वह पूरा हो जाय। फिर शेष आयुको जीवन्मुक्त होकर बितावे। यथा—*'ऋषिराज राजा आजु जनक समान को।……गाँठि बिनु गुनकी कठिन जड़ चेतन की, छोरी अनायास साधु सोधक अपान को।'* (गी० १। ८६) **'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'** (गीता ३। २०) (अर्थात् श्रीजनकादि आसक्तिरहित कर्मके आचरणसे ही परमसिद्धिको प्राप्त हुए), **'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥'**(भा० १। ७। १०) (अर्थात् जो लोग ज्ञानी हैं, सदा आत्मामें ही रमण करते हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है, वे भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं); इसमें ग्रन्थि छूटनेपर भी भक्ति करना कहा गया है। कैवल्य ज्ञानीका कालक्षेप, यथा—'**देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः। तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥**'(भा० ११। १३। ३७) अर्थात् प्रारब्धवश देह भी तबतक स्वारम्भक कर्मकी प्रतीक्षा करते हुए रहती है, अर्थात् छूटती नहीं। परंतु समाधियोगमें आरूढ़ पुरुष प्रपंचसहित भी उसे नहीं देखता, जैसे जागा हुआ फिर निद्राका अनुभव नहीं करता।

वि० टी०—तब जीव सफल-मनोरथ होवे, इसका भाव यह कि सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा इस कल्पित गाँठको दूर कर देनेसे उसी समय उसकी समाधि लग जाती है और यदि इसी समय शरीर छोड़ दिया तो मोक्ष पा जाता है। और यदि शरीर न छूटा तो जीवन्मुक्त होकर शुभाशुभ कर्मोंमें अलिप्त रहता हुआ समय-समयपर समाधि लगाकर साक्षात्कारके परमानन्दको प्राप्त होता है।

शेषदत्तजी—'तब' अर्थात् जीवत्वत्यागस्मरणका निःशेष विस्मरण होनेपर। *'कृतारथ होई'* अर्थात् जिसके लिये सप्तभूमिकाओंमें परिश्रम किया है वह हो जाय। भाव कि परात्परब्रह्मकी प्राप्ति हो तद्रूप हो जाय।

करु०—यह झीनी ग्रन्थि छूटनेपर अखण्ड निर्विकल्प समाधि हुई, यदि इस दशामें शरीर छूट गया तो यह जीव कृतार्थ हो गया। जबतक शरीर बना है तबतक मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आत्मामें लय हो जाते हैं, क्योंकि ये चतुष्टय अन्तःकरण बुद्धिकी किरणें हैं, इन्हीं चारके द्वारा जीव शुभाशुभ विषयका भोक्ता है। जब जीवको अपने स्वस्वरूपका ज्ञान हुआ तब इन चारोंसे शुभाशुभ विषयका त्याग हुआ, जिससे ये चारों शुद्ध सात्त्विकरूप होकर आत्मामें लय होकर आत्मारूप ही हो जाते हैं। आत्मा प्रकाशी है और ये चारों किरणरूप प्रकाश हैं, जैसे सूर्य जब अस्ताचलको जाते हैं तब किरणें भी उनके साथ ही रहती हैं। यहाँतक सप्तभूमिकाएँ हुईं।

वै०—१ जिस समय परब्रह्ममें अखण्ड वृत्ति लगी है, उसी समय यदि आसन लगाकर ब्रह्माण्डके ब्रह्मरन्ध्रद्वारा प्राण निकाल दे तो यह जीव कृतार्थ हो जाय, मुक्त हो जाय, मायाबन्धनसे छूट जाय २—☞ जीव-ब्रह्मकी एकता *'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा'* जो तुरीयावस्था है वही ज्ञानकी सातवीं भूमिका है। ३—यहाँतक ज्ञान-साधनकी कठिनता दिखायी, आगे विघ्न दिखाते हैं।

सि० ति०—यहाँका कैवल्य ज्ञान बहुत अंशोंमें योगदर्शनसे मिलता है। यथा—'**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्। स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति॥**'(यो० सू० ४। ३४) अर्थात् पुरुषार्थशून्य हो, बुद्धिकी वृत्तियोंका प्रतिलोम होकर आत्मा और प्रकृतिका यथार्थ ज्ञान करा करके बुद्धिका स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य मुक्ति है। यह योगदर्शनके मोक्षपादका अन्तिम सूत्र है। यहाँ छठीं भूमिकातक गुणोंका प्रतिप्रसव कहा गया। पुन: जो आगे मायाकी प्रेरणासे ऋद्धियों और सिद्धियोंके विघ्न कहे गये हैं, वे भी योगदर्शनके ही ज्ञान-साधनमें होते हैं और जो आगे ग्रन्थि छूटनेपर कैवल्यपदप्राप्ति कही गयी है यही स्वरूपप्रतिष्ठा है। इसे ही निर्वाणपद भी कहते हैं।

छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करै तब माया॥ ६॥
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥ ७॥

अर्थ—हे पक्षिराज! ग्रन्थिको छोड़ते हुए जानकर तब माया अनेक विघ्न करती है॥ ६॥ हे भाई! वह बहुत ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ भेजती है, जो आकर बुद्धिको लोभ दिखाती हैं॥ ७॥

नोट—१ *'छोरत जानि'* अर्थात् अब छुड़ा लेनेमें देर नहीं है। २—सिद्धियोंके नामादि बहुत ठौर आ चुके हैं।

☞*'छोरत ग्रंथि'* में विघ्न करना कहा, इससे तो यह जान पड़ा कि इसके पूर्व विघ्न नहीं करती थी? इसका समाधान यह है कि पूर्व तो जीव उसके वशीभूत ही था, जो नाच वह नचाती थी वही जीव नाचता था, यथा—*'जेहिं बहु बार नचावा मोही।'* (५९। ६) तब वह नाचरूपी विघ्न उसे विघ्न न जान पड़ते थे। नर्तकी मायाको वह रानी बनाये बैठा था, अब उसको निकाल दिया है; अत: अब यह देखकर कि यह मेरे हाथसे जाता है, वह अनेक विघ्न करती है जिसमें जाने न पावे। पहले मायाविवश होनेसे जो विषय उसे विघ्न न समझ पड़ते थे वे अब विघ्न जान पड़ते हैं। अतएव विघ्न करना कहा। जैसे भारत परतन्त्र राज्यसे स्वतन्त्र होनेका प्रयत्न कर रहा था, यह समझकर मायारूपी 'ब्रिटिशराज्य' अनेक प्रकारसे विघ्न करता था, उसे स्वतन्त्र होने देना नहीं चाहता था।

वि० त्रि०—१ *'खगराया'* का भाव कि आप राजा हैं, जानते हैं कि स्वतन्त्रता चाहनेवालोंका मार्ग कण्टकाकीर्ण होता है। २—*'बिघ्न अनेक करै—।'* दुष्टोंका यह स्वभाव ही है कि वे दूसरोंका भला नहीं देख सकते। आत्मानुभव-प्रकाशसे मायाका दिव्यरूप दिखायी पड़ता है। इसके पहले तो इसका परिच्छिन्न स्थूलरूपमात्र दिखायी पड़ता था। इस रूपकी ओर ध्यान न देकर असम्प्रज्ञातमें तन्मय हो जाना असम्भव हो उठता है। यथा—*'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जेहि बस जीव परा भवकूपा॥'* ३—'तब' अर्थात् जब वह देख लेती है कि मोहादिका किया कुछ न हुआ, दीपक जल गया, अब गाँठ छूट रही है।

नोट—२ *'प्रेरइ बहु भाई'* से जनाया कि उसे ऋद्धि-सिद्धिकी चाह नहीं, वे स्वयं मायाकी प्रेरणासे इसके पास आती हैं। इसीकी पुष्टि *'आईं'* पदसे होती है।

३—*'लोभ दिखावहिं।'* अर्थात् प्रत्येक अपना सामर्थ्य, बल, ऐश्वर्य दिखाती है कि हमें अपनानेसे तुमको यह अलभ्य लाभ प्राप्त होगा।

'लोभ दिखावहिं' सिद्धियोंमें बड़ी शक्तियाँ हैं, यह श्रीहनुमान्‌जीके प्रसंगमें सुन्दरकाण्डमें दिखा चुके हैं, वह शक्ति देनेका लोभ दिखाती हैं। बहुधा संत इन सिद्धियोंमें फँसकर करामात दिखलाने लग जाते हैं, जिससे ज्ञानभ्रष्ट होकर फिर उनका पतन हो जाता है। इसीसे भगवान्‌ने कहा है कि भक्त इनमें न पड़े।

करु०—लोभ दिखाती हैं। इस तरह कि जब ऋद्धि-सिद्धि बुद्धिके समीप प्राप्त हुई तब मृत्तिका और मृत्तिकाके पात्र इत्यादिक समोल (सो) अमोल देख पड़ते हैं तब चित्तकी वृत्ति समाधिसे छूट जाती है, क्योंकि जबतक देह है तबतक आत्मा और शरीरका सम्बन्ध नहीं भिन्न हो सकता। पुन:, सिद्धियोंद्वारा स्वर्गके चरित्र देख पड़ने लगते हैं, थल, पर्वत, जल आदिमेंके सम्पूर्ण चरित्र दीखने लगते हैं, शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जल, अग्नि आदिमें प्रवेश कर जावें। वे बुद्धिको लुभाती हैं कि क्या समाधिमें पड़े हो, देखो हम तुमको ऐसी शक्ति देती हैं, सुख लूटो इत्यादि।

वै०—छोड़ने न पावे, अत: उपाय करती है कि वासना बढ़े।

वि० त्रि०—*'भाई'* का भाव कि हमलोग सब बराबर हैं, क्या राजा क्या रंक, क्या पण्डित क्या मूढ़, माया किसीको नहीं छोड़ती। *'लोभ दिखावै आई'* मानो बुद्धिसे कहती है कि क्या व्यर्थ काममें लग रही हो (यह साम है), ऋद्धि-सिद्धि जो चाहो मैं देनेको तैयार हूँ (यह दान है), जिसके हितके लिये तुम सब करती हो, वह मुक्त होते ही तुम्हें भी त्याग देगा (यह भेद है)।

कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा॥ ८॥

शब्दार्थ—कलबल, कल=(सं० कला=विद्या) युक्ति, ढंग, दाँवपेंच।

अर्थ—कल-बल और छल करके पास जाती हैं, अञ्चलकी वायुसे दीपकको बुझा देती हैं॥ ८॥

नोट—१ माया, ऋद्धि-सिद्धि, ये सब स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं। स्त्रियाँ अञ्चलसे दीपक बुझाती हैं, यह रीति है। अत: इनके सम्बन्धसे *'अंचल बात'* से बुझाना कहा। अँचलेकी वायु दूरतक नहीं जाती, जबतक दीपकके पास स्त्री न जाय तबतक वह अपने आँचरसे उसे बुझा नहीं सकती। अत: *'जाहिं समीपा'* कहा। दीपक एक स्थानपर रहता है, वह स्वयं दूसरी जगह चलकर नहीं जा सकता; दूसरे दीपकको पवनकी इच्छा नहीं, न वह पवनका या बुझानेवालेका संग चाहे। इसी तरह ज्ञानदीपक हृदयमें स्थित है; बुद्धिने उसे वहाँ जलाकर रख दिया है और काममें लगी है, मायाके समीप जानेसे इनकी स्वार्थहानि है, अत: ये उसके पास क्यों जाने लगे पर मायाको अपना प्रयोजन सिद्ध करना है, अत: वह किसी-न-किसी प्रकार वहाँ जाती है। इससे *'जाहिं'* कहा। किसीके पास जानेके लिये दो तरीके (वसीले) हैं—एक तो यह कि वह निमन्त्रण करे या अपनेसे प्रेम रखता हो तब तो जानेमें कोई कठिनता नहीं। दूसरे, यदि जहाँ जाता है वह अपना शत्रु है अथवा उसको अपना उसके समीप जाना अरुचिकर होगा, जैसे कि चोर, डाकू आदिका पराये घरमें जाना; तब कल-बल-छलसे पहुँच हो सकती है, अन्यथा नहीं। माया स्त्री ज्ञान-दीपक पुरुषके पास चोरीसे पहुँचना चाहती है। क्योंकि विज्ञानरूपिणी बुद्धिको तथा ज्ञानको इससे प्रेम तो है नहीं। पुन: ऊपर बुद्धिको लोभ दिखाकर मोहित करनेका उपाय कह चुके, उस उपायसे बुद्धि मोहित न हो सकी; तब उसके लुभानेका भरोसा छोड़कर जैसे बने तैसे दीपकके पास पहुँचनेका ही उपाय करने लगी। अत: कल-बल-छलसे वहाँ पहुँचना कहा। *'अंचल बात'*, यह विषय वा विषयका लोभ है, जैसा आगे कवि स्वयं कहते हैं—*'आवत देखहिं बिषय बयारी।'*, *'लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।'*

करु०—ऋद्धि-सिद्धिके गुण 'कल' अर्थात् सुन्दर हैं कि हृदयमें पहुँचे कि उनकी चाह उठी तब मायाको बल हुआ। झूठी वस्तुको सच्ची कर दिखाना यह छल है। अन्त:करणका उसे सच्चा मानकर अपने सुखकी इच्छा करना, यही अञ्चल है। उस असत्य सुखमें सुख मान लेना पवन है।—[रा० प्र० *'कल'*=१६ वा ६४ कलाएँ। बल मोड़ पेंच। छल धोखा।]

पं०—सर्वशक्तिमत्ताका अभिमान आना अञ्चलवात है, अभ्यासका शिथिल हो जाना दीपकका बुझाना है।

वि० त्रि०—*'कल बल छल करि।'* कला-(उपाय-) से पहले काम लेती है, साम, दान, भेदका प्रयोग करती है। जब इनसे काम नहीं चलता, तब बल अर्थात् दण्डका प्रयोग करती है। यहाँतक मायारानीकी नीति है, यथा—*'साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥ नीति धर्म के चरन सुहाये।'* जब नीतिसे कार्यसिद्धि नहीं देखती, तब अनीतिसे भी काम लेती है। छल करती है।

२—*'अंचल बात।'* वातका उपमेय विषय है। अञ्चलके विषयसे तात्पर्य मायारूपी नारीसे है, यथा—*'तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि।'* (३। ४३) *'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी।'* (१। १३१) *'हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला।'* (१। १३१। ८) मोह आदि तो अविद्यारात्रिके तम हैं, पर नारी *'निबिड़ रजनी अँधियारी'* है। ३—*'बुझावहिं दीपा।'* बुद्धि जहाँ तनिक भी मायाके भुलावेमें आयी कि उसने अवसर पाकर ज्ञानदीप बुझाया। विज्ञानरूपिणी बुद्धिका संसर्ग जहाँ मायासे हुआ कि वह अपने स्वरूपसे च्युत

हुई और ऐसा होते ही सारी इमारत धराशायी हो जाती है। [स्त्री-विषयपर वृत्ति जाते ही ब्रह्मात्मक-वृत्ति नहीं रह जाती। क्योंकि ये दोनों वृत्तियाँ एक-दूसरेके विरुद्ध हैं। यथा—*'देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे।'* (सि० ति०)]

वै०—ऋद्धि-सिद्धि देख जब बुद्धि लालचवश हुई तब निकट जाना सुगम हुआ इत्यादि। *'कल बल'* अर्थात् सुन्दर बल है जिसके, वही माया छल करके सिद्धिमें अपना वेष छिपाकर मुमुक्षुकी बुद्धिके समीप जाती है और दीपकको बुझा देती है। अर्थात् जैसे ही बुद्धिको ऋद्धि-सिद्धिकी चाहमें पड़ते देखा वैसे ही अविद्याने निकट पहुँचकर अंचलसे दीपक बुझा दिया। भाव कि मान-बड़ाईकी वासना बढ़ा दी जिससे आत्मरूपकी सुध भूल गयी, बुद्धि देहव्यवहारमें लग गयी। यहाँ सिद्धाई शक्ति अधिक प्राप्त कर देना अञ्चलका पवन है और मान-बड़ाईमें वासना बढ़ जाना दीपकका बुझना है।

होइ बुद्धि जौं परम सयानी*। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी॥ ९॥
जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥ १०॥

अर्थ—यदि बुद्धि परम सयानी हुई तो वह अनहित समझकर उनकी ओर दृष्टि नहीं करती॥ ९॥ यदि उस (मायाकृत) विघ्नसे बुद्धिको बाधा न हुई तब फिर देवता लोग उपाधि करते हैं॥ १०॥

नोट—१ *'होइ बुद्धि जौं परम सयानी।'* (क) *'जौं'* संदिग्ध वचन देकर जनाया कि प्राय: बुद्धि सयानी तो होती है पर 'परम सयानी' नहीं होती, अत: परम सयानी होनेमें सन्देह है। (ख) *'परम सयानी'* का भाव कि परम सयाना जो होगा वही अपने अर्थ-साधनको न भूल दूसरेके लुभानेमें नहीं आ सकता। जैसे कि भुशुण्डिजीको अनेक लोभ दिखानेपर भी जब वे न मोहित हुए तब प्रभुने उनको *'सहज सयाना'* विशेषण दिया है, यथा—*'सुनु बायस तैं सहज सयाना।'* (८५। १) 'परम सयाना' का भाव *'सहज सयाना'* में है। इससे जनाया कि 'केवल सयानी' बुद्धिको चूक जानेका भय है *'परम सयानी'* अञ्चल वातसे रोकनेको समर्थ हुई। पर यह भी पवनके झकोरेसे न बचा सकेगी।

वि० त्रि०—*'परम सयानी'* का भाव कि विज्ञानरूपिणी बुद्धि तो सयानी होती है। जो अपनी लाभ-हानि देख सके सो सयानी है, यथा—*'कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी॥ तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा॥'* (५। ९) जो परम सयानी अर्थात् धीरत्वसम्पन्ना होगी वह अपने स्वामी पुरुषका लाभ देखेगी। यथा—*'निज घर की बर बात बिलोकहु हौ तुम्ह परम सयानी।'* (वि० ५)

नोट—२ *'तिन्ह तन चितव न अनहित जानी'* (क)—*'आँखें चार होनेसे मुरव्वत आ ही जाती है'*, यह कहावत प्रसिद्ध है। रूप नेत्रका विषय है, दृष्टि रूपपर गयी तो उसपर मोहित होनेका भय होता है, यथा—*'सोइ हरिमाया सब गुनखानी।'* (१। १३०। ५) *'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥'* (१। १३१। १) बस फिर क्या, गाँठका छोड़ना जाता रहा *'माया बिबस भये मुनि मूढ़ा।'* (१। १३३। ३) जब देखेंगे ही नहीं तो वह आप ही हारकर चली जायगी, सब टंटा मिट जायगा। अत: *'चितव न'* कहा।

वि० त्रि०—*'तेहि तन चितव न।'* भाव कि ग्रन्थि सुलझानेमें लगी रहे। जबतक बुद्धि स्थिर है तबतक मायाकी भी सामर्थ्य नहीं कि उसके निकट जा सके, दीप बुझाना तो दूरकी बात है, यथा—*'परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहु मनहु निहारे॥'* *'अनहित जानी'*—अर्थात् बात हितकी-सी करती है, पर है वह अहितकारिणी। वह स्वामीका अकल्याण चाहती है, ऐसा समझकर उसकी ओर न देखे। [सदसद्विवेकिनी बुद्धि आत्माकी पतिव्रता स्त्रीके समान है; यथा—**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥'**(गीता १२। ४१) (सि० ति०)]

नोट—३ *'जौं नहिं बाधी'* का भाव कि बाधित होनेमें सन्देह नहीं होता, न बाधित होनेमें सन्देह है, क्योंकि मायासे बचना परम कठिन है। *'बाधी'*, यथा—*'सुमिरत हरिहि साप गति बाधी।'* *'तौ बहोरि'*—

* सयाने, जाने—(का०)। परम सयाने पुरुषके आधारपर बुद्धि जागती रहे।

यहाँ '*बहोरि*' का अर्थ है तत्पश्चात् अथवा, '*बहोरि*' कहकर जनाया कि यह भी मायाका ही कर्तव्य है, वही सुरोंसे उपाधि करवाती है; क्योंकि वे मायाके अधीन हैं, यथा—'**यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः**', मायावश वे जीवको मोक्ष प्राप्त होनेमें बाधक होते हैं—बा० (३) देखिये। क्योंकि वे समझते हैं कि इसके मुक्त हो जानेसे जो भोग हमें मिलता है वह बंद हो जायगा।

पं०—सुरोंको प्रेरनेका हेतु यह कि पहरेदार (पाहरू) यदि चोरोंसे मिल जाय तब पदार्थ कैसे बच सकता है।

वि० त्रि०—(क) '*तेहिं बुद्धि*' अर्थात् परम सयानी बुद्धिको, जिसने मायाकी ओर हजार चेष्टा करनेपर भी ध्यान न दिया। (ख) '*जौं बिघ्न नहिं बाधी।*' यदि मायाकृत प्रलोभन आदिने बाधा नहीं की और माया समीप न जा सकी एवं उसके अञ्चल-वातकी गति ज्ञानदीपकतक न हो सकी। (विज्ञानरूपिणी बुद्धिद्वारा असम्प्रज्ञात समाधिमें कोई अन्य वृत्ति नहीं उठने पाती, इससे विषयरूप वायुका प्रचार वहाँतक नहीं हो सकता। (ग) '*तौ बहोरि।*' तब माया देवताओंको प्रेरणा करती है कि वे बलपूर्वक इन्द्रियद्वारको खोल दें, जिसमें विषय-बयारि भीतर प्रवेश करके अन्य वृत्तियोंको खड़ी कर दे। क्योंकि देवता भी मायाके वश हैं, यथा—'***देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे।***' (वि० १०१) '*सुर करहिं उपाधी*' क्योंकि जीव देवताओंके पशु हैं, इस लोक और परलोक दोनोंमें वे देवताओंद्वारा उपभुक्त होते हैं, यथा—'***आये देव सदा स्वारथी। बचन कहैं जनु परमारथी॥***' [यथा—'**अथ योऽन्यां देवतामुपासतेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव्ँ स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः।**'(बृ० अ० १ ब्रा० ४ मन्त्र १०) अर्थात् जो अन्य देवताकी 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार उपासना करता है वह नहीं जानता, जैसे पशु होता है वैसे ही देवताओंका पशु है। जैसे लोकमें बहुत-से पशु मनुष्यका पालन करते हैं, उसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओंका पालन करता है। एक पशुका ही हरण किये जानेपर अच्छा नहीं लगता, फिर बहुतोंका हरण होनेपर तो कहना ही क्या है? इसलिये देवताओंको यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य (ब्रह्मात्मतत्त्वको) जाने]

शेषदत्तजी, वि० टी०—'***सुर करहिं उपाधी***' का भाव कि इन्द्रियोंके सुख अलग-अलग बुद्धिको अपनी ओर खींचते हैं। इन्द्रियोंकी निरसतासे उनके देवता निराहार हो दुःखी हुए हैं, अतः उपद्रव करते हैं।

वै०—उपाधि करते हैं अर्थात् धर्मसंकटमें डाल देते हैं, जैसे कि कोई महात्मा साधु गुरु आ गये और कथाप्रसंगादिमें कुछ लौकिक वार्ता करने लगे या कर्मसिद्धान्त करने लगे अथवा भगवत्-उत्सव-पारायणादिका संयोग पड़ा या राम-कृष्णादिकी लीला होती हुई तो उसमें धर्मसंकट डालकर ले गये; इस तरह कि नेत्रके देवता कहते हैं कि ईश्वरलीला देखो, कानके देवता कहते हैं कि हरियशपारायण सुनो, पदके देवता कहते हैं कि उत्तम पर्वपर भगवत्की पुरी तीर्थोंको चलो इत्यादि धर्मसंकट डालकर ले गये और वहाँ गये तो स्त्रियोंका मेला देख पड़ा।

इंद्रीद्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥ ११॥

अर्थ—इन्द्रियद्वार (इस उरगृहके) अनेक झरोखे हैं। वहाँ-वहाँ (प्रत्येक झरोखेपर) हैं इन्द्रियदेवता। थाना किये (अड्डा जमाकर) बैठे हैं॥ ११॥

नोट—१ इन्द्रिय=वह शक्ति जिससे बाहरी विषयोंका ज्ञान प्राप्त होता है वा बाहरी वस्तुओंके भिन्न-भिन्न गुणोंका भिन्न-भिन्न रूपोंमें अनुभव होता है। इन्द्रियद्वार=शरीरके वे अवयव जिनके द्वारा यह शक्ति (इन्द्रिय) विषयोंका ज्ञान प्राप्त करती है। सांख्यशास्त्रने इन कर्म करनेवाले अवयवोंको भी इन्द्रिय मानकर इनके दो विभाग किये हैं—ज्ञानेन्द्रिय जिनसे केवल विषयोंके गुणोंका अनुभव होता है, दूसरी कर्मेन्द्रिय जिनके द्वारा विविध कर्म किये जाते हैं। और इनके पृथक्-पृथक् देवता कल्पित किये हैं। इनके विषय भी पृथक्-पृथक् हैं (भा० २। ५। ३०-३१)।

इन्द्रिय	विषय	देवता	इन्द्रिय	विषय	देवता
१ श्रवण	शब्द	दिशा	६ वाणी	भाषण	अग्नि
२ त्वचा	स्पर्श	वायु	७ पैर	गमन	यज्ञविष्णु
३ चक्षु	रूप	प्रचेता, सूर्य	८ हाथ	ग्रहण	इन्द्र
४ जिह्वा	रस	वरुण	९ गुदा	मलत्याग	मित्र, यम
५ नासिका	गन्ध	अश्विनीकुमार	१० उपस्थ	मूत्रत्याग	प्रजापति

ज्ञानेन्द्रिय पाँच हैं और पाँच ही कर्मेन्द्रिय हैं और इनमेंसे भी शरीरमें कान, नेत्र, नथुने, हाथ और पैर दो-दो हैं, त्वचामें अगणित छिद्र हैं। अतएव 'नाना' विशेषण दिया।

२ ***'करि थाना।'*** ***थाना***=अड्डा। रक्षा वा पहराके लिये चौकी, जहाँसे उस केन्द्रकी रक्षा हो सके जिसमें वह थाना है। जहाँ थाना बैठता है वहाँ उस हलकेभरमें उसका अधिकार होता है। अतः 'थाना करके बैठना' कहकर इनपर उन देवताओंका अधिकार जनाया।

वि० त्रि०—***'बैठे करि थाना'*** का भाव कि वहाँसे उनको भोग मिलता था। वृत्तियोंके न उठनेसे भोग मिलना बंद हो गया है, अतः वे वृत्तियोंके उठानेके लिये अवश्य प्रयत्न करेंगे।

करु०—शरीर एक कोट है। कोटके द्वारोंपर रक्षक होते हैं। शरीरमें दस इन्द्रिय, दस दरवाजे हैं। एक-एक द्वारपर एक-एक देवताने थाना बनाया है, सुभट रक्षक हैं और रोम-रोमप्रति जो छिद्र हैं यही झरोखे हैं। झरोखोंपर देवता विराजमान हैं। तब 'झीनी कामना' रूपी वैरीने आकर इनको मिला लिया। मायाकी बसीठी विषयरूप वासना, बयारिको आते देख देवताओंने द्वैतरूप किंवाड़े हठसे खोल दिये।

आवत देखहिं बिषय बयारी। ते* हठि देहिं कपाट उघारी॥ १२॥

अर्थ—वे देवता (जब) विषयरूपी हवाका झोंका आते देखते हैं तब हठपूर्वक किंवाड़े खोल देते हैं॥ १२॥

नोट—***'बिषय बयारी।'*** बयारि स्त्रीवाचक है और वात पुरुषवाचक अर्थात् पुल्लिङ्ग है। यथा—***'देखि गएउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात।'*** (३। ३७) पहले पुरुषद्वारा दीपक बुझाना चाहा पर उसकी वहाँतक पहुँच भी न हुई तब स्त्रीद्वारा काम लेने लगी। इसी प्रकार पहले मोहादि पुरुषोंका नाश होनेपर ऋद्धि-सिद्धि आदि स्त्रियोंसे काम लिया था। अञ्चलवात दीपकतक न पहुँच सका, अतः अब आँधी-सरीखी हवा चलायी, पर दीपक उरगृहमें है, सब इन्द्रियद्वारोंमें किंवाड़ लगे हैं, बाहरकी विषय-बयारि वहाँ कैसे पहुँचे?' इसके लिये देवताओंकी सहायता ली कि वे किंवाड़े खोल दें, बस, फिर तो एकबारगी सब तरफसे झोंका पहुँचा कि दीपक बुझा, बुद्धि किस-किसको रोकेगी।

कपाटका खोलना यह है कि नयन-इन्द्रियके सामने रूप विषय, श्रवणके सम्मुख शब्द, रसनाके समीप रसीले भोज्य पदार्थ, इत्यादि प्रत्येक इन्द्रियके सामने उसके विषयको लाकर खड़ा कर देते हैं। ***'हठि'*** से जनाया कि बुद्धिका कहना नहीं मानते-सुनते क्योंकि स्वार्थपरायण हैं, यथा—***'तौ मैं जाइ बैर हठि करिहउँ।'*** रावणने अपना स्वार्थ जान किसीकी न सुनी।

वि० त्रि०—बुद्धि, आसन और मुद्राद्वारा इन्द्रियद्वार-झरोखोंको बंद करके उरगृहमें बैठी थी, ये हठ करके झरोखेका किंवाड़ खोल देते हैं। बुद्धि मना करती ही रह जाती है, उसकी एक नहीं सुनते। ☞भाव यह कि साधकको मधुमती भूमिकाकी प्राप्ति होती है और वह सिद्धियोंमें आसक्त हो जाती है।

पं०—ऋद्धि-सिद्धिसे विषयरसका बल इससे अधिक कहा कि यहाँ देवता सङ्ग करते हैं जो अन्तरंग शत्रु हैं। इन्होंने विश्वामित्रादिको मोह लिया।

करु०, शेषदत्तजी—जैसे कोई राजा अपने थानापतियोंको वेतन न दे और वे दुर्भिक्षसे मरणप्राय हो रहे हों तब यदि दूसरा राजा घूस देकर इनको मिला लेता है, जिससे चढ़ाई करनेपर वे फाटक खोल

* तेहि—रा० प०।

देते हैं इत्यादि, वैसे ही यह शरीर गढ़ है, जीव इसका राजा और इन्द्रियदेवता रक्षक हैं। ज्ञान होनेपर इन्द्रियदेवताओंकी शब्दरूपादि विषयरूपी वेतन बंद हो जाती है। जब अतिझीनी विषयवासना बयारि बसीठी आकर सुरोंसे मिल विषयभोग-तलब विशेष नकद देनेको कहती है तब वे कपाट खोल देते हैं।

वै०—इन्द्रिय द्वार हैं। दम द्वारके किंवाड़े हैं, क्योंकि यही विचारपूर्वक इन्द्रियोंकी वृत्तिको रोके रहा। दमको मिटा देना, दर्शन-श्रवणादिकी चाह उत्पन्न कर देना किंवाड़ेका खोल देना है। विषयचाहमें हर्ष, संसार और उसके सुखको सच्चा मानना यही विषयबयारिकी ठोकर ज्ञानदीपकमें लग जाना है।

वि० टी०—*'ते हठि देहिं कपाट उघारी'* का भाव कि ज्ञान प्राप्त हुए जीवको तीर्थादि स्थानोंमें सौन्दर्य-गान आदि अवसरोंपर वशवर्ती इन्द्रियोंके द्वारा ही फिरसे फँस जानेका बड़ा डर रहता है।

जब सो* प्रभंजन उर गृहँ जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई॥ १३॥
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥ १४॥

अर्थ—जब वह पवनका झकोरा हृदयरूपी घरमें जाता है तभी विज्ञान-दीपकको बुझा देता है वा दीपक बुझ जाता है॥ १३॥ गाँठ न छूटी और वह प्रकाश भी जाता रहा। विषयरूपी पवनसे बुद्धि व्याकुल हो गयी॥ १४॥

नोट—१ पहले 'बयारि' कहा अब भीतर जाने और दीपक बुझानेमें उसका सामर्थ्यसूचक नाम ***'प्रभंजन'*** दिया। **प्रभंजन**=प्रकर्ष करके भंजन करने अर्थात् तोड़ डालनेवाला। विज्ञानरूपिणी बुद्धिका सब किया-कराया बना-बनाया घर ही ढा देनेवाला है। 'धीरज धर्म खंभ' इससे टूटते हैं अतः ***'प्रभंजन'*** पद दिया—(रा० प्र०)।

२ (क)—***'तबहिं'*** अर्थात् जैसे ही वह पहुँचा तैसे ही तुरंत, किञ्चित् भी देर न लगेगी कि बुद्धि कुछ और यत्न दीपकको बचानेका कर सके। (ख) ***'दीप बिग्यान बुझाई।'*** भाव कि कैवल्यप्राप्तिकी ड्योढ़ीपर पहुँच इन्द्रियोंके विषयमें फँस जानेसे सब विज्ञान नष्ट हो जाता है। उसका सर्वस्व नष्ट हो जाता है। यथा—***'जोग सिद्धिफल समय जिमि जतिहि अबिद्यानास'*** (अ० २९) सोऽहमस्मिवृत्ति जाती रहती है।

वै०—१ ***'सो प्रभंजन'*** अर्थात् शत्रुसेनाका नाश करनेवाली विषय-बयारि। २—***'बुद्धि बिकल भइ—।'*** बुद्धि सावधान हो ग्रन्थि छोड़नेमें लगी थी। जब वह अँधेरेमें पड़ी, विषयवासना हृदयमें भर गयी, तब वह भी भ्रमित हो गयी, भ्रमित होनेसे विकल हो गयी। बुद्धि ही विकल हुई और अन्तःकरण क्यों न विकल हुए? इसका कारण यह है कि मन और अहंकार दोनोंके अंश विषय व्यापारमें रहते हैं तब वे क्यों व्याकुल होने लगे और बुद्धिके अंश उत्तम व्यापारमें रहते हैं, यथा—जिज्ञासापञ्चके—**'जपो यज्ञस्तपस्त्याग आचाराध्ययनं तथा। बुद्धेश्चैवं षडङ्गानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः॥'** इसीसे बुद्धि विकल हुई। रहा चित्त सो बुद्धिहीके अन्तर्गत है, इसकी भी वही दशा है।

करु०—वैरीको परास्त करनेके सम्बन्धसे प्रभञ्जन नाम दिया। प्रकर्ष करके नाश करनेवाला। झीनी विषयवासना प्रभञ्जन है। विज्ञानीके हृदयमें झीनी विषयवासना आयी कि दीपक बुझा। ब्रह्मास्मिवृत्तिका छूटना दीपकका बुझना है।

वि० त्रि०—१ ***'तबहिं दीप बिग्यान बुझाई'*** भाव कि पलमात्रमें दीवट कहीं गयी, दीवा कहीं गिरा, बत्ती कहीं बुझकर उड़ गयी। एक पलमें अति दुरूह साधन ऐसा नष्ट हुआ कि कहीं पता नहीं। साधक दिव्य विषयोंमें लिप्त हो गया।

२ ***'ग्रन्थि न छूटि मिटा सो प्रकासा।—'*** (क) ग्रन्थि छूटनेके लिये इतना परिश्रम किया गया सो हुआ नहीं। (ख) ***'सो प्रकासा'*** अर्थात् ***'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा।'*** वह प्रकाश तो 'सोऽहमस्मि' वृत्तिके आश्रय था, जब विषयके झोंकोंसे वह वृत्ति ही न रह गयी तो प्रकाश कहाँसे रह जायगा? (ग) **बिषय बतासा**=विषयकी प्रचण्ड हवासे। अर्थात् प्रचण्ड हवाके वेगको वृत्तिजन्य ज्ञानदीप नहीं सह सकता।

* सु—(रा० प०)। सुप्रभंजन=है तो विषयव्यारि विष, पर लगती है सुन्दर।